श्रीपुरुषोत्तमग्रन्थावली ६

उपनिषद्दीपिका
उपनिषदर्थसङ्ग्रहः
गीतामृततरङ्गिणी
न्यासादेशतात्पर्यटीका

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी–कच्छ

प्रकाशक:
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,
कंसारा बजार, मांडवी–कच्छ,
गुजरात, ३७० ४६५
फोन : (०२८३४) २३१४६३, ९४२६९३२३००
gosharad@rediffmail.com

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/

www.pushtimarg.net

सम्पादक : गोस्वामी शरद्

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०७०

प्रति : १०००

ग्रन्थप्रकाशन सहाय : २००/

मुद्रक : पूर्वी प्रेस, राजकोट

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

सेमिनार:

१. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर
२. कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात
३. प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
४. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
५. अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे
६. वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
७. अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
८. साधनाप्रणाली, मुम्बई
९. सेवा-समर्पण, मुम्बई
१०.कथायां वा/गुणगान साधना, मुम्बई
११.शरणागति, मुम्बई
१२.पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध, मुम्बई
१३.जघन्याधिकार, मुम्बई
१४.पुष्टिफलमीमांसा, मुम्बई
१५.World Philosophy Conference, Delhi (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१६.International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni. of Gujarat)

आचार्यवंशजोंकेलिये अध्ययनसत्र:

१. तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
२. वेदान्तसार

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

१. प्रवेशिका, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
२. प्रवेशिका, लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)	नि:शुल्क
३. प्रवेशिका, लेखक: गो.शरद् (अंग्रेजी)	नि:शुल्क
४. पुष्टिप्रवेश-१, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
५. पुष्टिप्रवेश-२, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	१०
६. पुष्टिप्रवेश-१-२, लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)	१०
७. पुष्टिपथ, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	२०
८. पुष्टिपथ, लेखक: गो.शरद् (हिन्दी)	२०
९. प्रमेयरत्नसंग्रह, लेखक: गो.शरद् (गुजराती)	२०
१०. Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद्	६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा समायोजित साम्प्रदायिक विचारगोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे विभिन्न शोधपत्र तथा उनपर हुई विशद चर्चा का संग्रह

११. वार्तापरिचर्चा	१५
१२. साधनाप्रणाली संगोष्ठी	५०
१३. अधिकारपरिचर्चा	१००
१४. पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी	५०
१५. शरणागति विचारगोष्ठी	५०
१६. सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी	५०

१७. शरणागति विचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी(गुजराती) नि:शुल्क
१८. पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध १००
१९. जघन्याधिकार ८०
२०. पुष्टिफलमीमांसा १००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा समायोजित तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनारमें प्रस्तुत हुवे विभिन्न शोधपत्र तथा चर्चा का संग्रह (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी)

२१. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा २००
२२. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
२३. कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी २००
२४. प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी १५०
२५. अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी २००
२६. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

२७. पुष्टिपाठावली (हिन्दी) १०
२८. पुष्टिपाठावली (गुजराती) १०
२९. पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

सन्दर्भग्रन्थ:

३०. पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०
३१. Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५
३२. अमृत वचनावली (गुजराती) नि :शुल्क
३३. अमृत वचनावली (हिन्दी) नि :शुल्क
३४. पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

३५. पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००
३६. पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका १५०
३७. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०
३८. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००
३९. श्रीभागवतमहापुराण, चार खण्डमें (गुर्जरभाषानुवाद) ४००
४०. विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
४१. गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी नि:शुल्क
४२. गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
४३. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
४४. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५

४५. श्रीकृष्णचरित्र(दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद)अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी ८०

४६. श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक : पूर्ववत्.

श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण गुजराती अनुवाद सहित ५०

४७. रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

४८. सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

४९. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती)

गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य, सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र, पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०

५०. सेवाकौमुदी(हिन्दी), विषय : नवधाभक्ति, लेखक : श्रीलालूभट्टजी,
व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य

५१. ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५२. भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५३. सेवा(हिन्दी) (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५४. सेवा(गुज.) (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

५५. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ४०

५६. षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया ४०

५७. कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद ०७

५८. पुरुषोत्तमग्रन्थावली ५
(संस्कृत-गुज.-हिन्दी, द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण) १००

५९. पुरुषोत्तमग्रन्थावली ६(संस्कृत, उपनिषद्-गीताविवृति) २००

इतिहास

६०. आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव(गुज.),
लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

६१. आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव(हिन्दी.),
लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य निःशुल्क

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह-संरक्षण; पुस्तकालय

<u>शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्तिमार्गीय वाङ्मय :</u>

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्तिमार्गके आधारभूत संस्कृत-व्रज-गुजराती आदि भाषामें लिखित मूल

गद्य-पद्य ग्रन्थसाहित्य, उनका अनुवाद एवं उनके ऊपर लिखित विवेचन आदिका (साम्प्रदायिक शब्दकोश, साम्प्रदायिक वचनानुक्रमणिका, भगवद्गीतापादानुक्रमणिका आदि सहित अध्ययनोपयोगी साहित्यका) बृहत् संग्रह. डाउनलोड् एवं मार्गदर्शन केलिये लिंक : http://www.pushtimarg.net/pushti/pushti-vangmay.html

वर्तमानमें निम्नलिखित ग्रन्थ शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्तिमार्गीय वाङ्मय :में उपलब्ध हैं :

षोडशग्रन्थ (सभी संस्कृत टीका, हिन्दी ग्रन्थपरिचय, गुजराती अनुवाद सहित)

तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

-शास्त्रार्थप्रकरण (टिप्पणी-आवरणभङ्ग-योजना-सत्स्नेहभाजन, अनु.= गुज.-व्रज)

-सर्वनिर्णयप्रकरण (संस्कृत टीका = टिप्पणी-आवरणभङ्ग, अनु. =व्रजभाषा)

-भागवतार्थप्रकरण (सभी संस्कृत टीकाएं)

ब्रह्मसूत्राणुभाष्य

शिक्षापद्यानि (सभी संस्कृत टीकाएं)

मधुराष्टकम् (सभी संस्कृत टीकाएं)

परिवृढाष्टकम् (सभी संस्कृत टीकाएं)

पुरुषोत्तमनामसहस्रम् (सभी संस्कृत टीकाएं)

त्रिविधनामावली (सभी संस्कृत टीकाएं)

सुबोधिनी (स्कन्ध १ तथा २ संस्कृत)

सेवाश्लोका

विद्वन्मण्डनम् (मूल तथा गुजराती अनुवाद)

सौन्दर्यपद्य (व्रजभाषा टीका)

साधनदीपिका (मूल तथा व्रजभाषा तथा गुजराती अनुवाद)

पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार(मूल-संस्कृतटीका-हिन्दी अनुवाद)

श्रीभागवतपुराण (स्कन्ध १-७, १०,११ मूल तथा हिन्दी-गुजराती अनुवाद)

श्रीहरिरायवाङ्मुक्तावली(५५ ग्रन्थ, मूल तथा गुजराती अनुवाद)

द्रव्यशुद्धि (मूल तथा गुजराती-व्रजभाषा अनुवाद)

८४ वैष्णववार्ता (मूल-भावप्रकाश, व्रजभाषा)

२५२ वैष्णववार्ता (मूल-भावप्रकाश, व्रजभाषा)

४१ शिक्षापत्र (मूल तथा व्रजभाषा टीका)

प्रस्थानरत्नाकर

अवतारवादावली खंड २, ३

वादावली

भगवद्गीतामृततरंगिणी

वल्लभाष्टकम्

सर्वोत्तमस्तोत्रम्

श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ : शीघ्र ही कार्यरत होने जा रही यह विद्यापीठ अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज होगी. http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/

पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओंकेलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा तीन माध्यमोंसे होता है: १.टेलिफोनिक कोन्फरन्स्, २.इंटर्नेट् द्वारा लाईव् ऑडियो तथा ३. इंटर्नेट् द्वारा लाईव् वीडीयो कोन्फरन्स्. विशेष जानकारीकेलिये फोनसम्पर्क योगेन्द्रभाई: (+91) 9323733796 पिनाकीनभाई:(+91)9726444515. नीरजभाई(यु.एस्.ए.): +7325424165. ईमेलसम्पर्क: pushtiswadhyay@gmail.com.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके
मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुलर्भ

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण

खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५

खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४. प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ

खंड ३. द्वितीयाध्याय

खंड ४. तृतीयाध्याय

खंड ५. चतुर्थाध्याय

५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध

खंड ४. जन्मप्रकरण

खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण

खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण

खंड ७. तामसफलप्रकरण

खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

खंड ९. राजससाधन-फलप्रकरण

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरणसमालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१२. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशमानिरासवादः, उपदेशादिविषयकशमा-निरासवादः, भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमाला-धारणवादः, शङ्खचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादि-प्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१३. पुष्टिविधानम्[गुजराती, व्रज तथा संस्कृत संस्करण]

१४. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१५. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

१६. विद्वन्मण्डनम्

४क्र.१, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

प्रकाश्य : श्रीमद्भागवतसुबोधिनी : तृतीयस्कन्ध, सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण, गुण प्रकरण, एकादशस्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित : वादावली खंड १

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

- वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी)
- विवेक (हिन्दी)
- पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
- श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी)
- सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती)
- वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति
- चतुःश्लोकी(हिन्दी)
- गृहसेवा और व्रजलीला (गुजराती-हिन्दी)
- सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)
- रसदृष्टिनी तरफेणमां (हिन्दी-गुजराती)
- विशोधनिका (चार खंड) (गुजराती-हिन्दी)
- नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी)
- सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)
- पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)
- पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य
- चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुजराती)
- ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय)
- पुरुषार्थव्यवस्था
- मूलाचार्यवाणी, तत्त्वार्थदीपनिबन्ध(संकलन) (गुजराती)
- मूलाचार्यवाणी, निबन्ध-षोडशग्रन्थ(गुजराती)
- साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
- नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण(गुजराती-हिन्दी)
- श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप (हिन्दी)
- शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
- धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
- भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार : एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी, ४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम), मुम्बई. फोन : (०२२) २६१४४३२६

प्रकाशकीय

पुरुषोत्तमग्रन्थावलीके इस छठे खण्डमें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित

१. माण्डूक्योपनिषद्दीपिका

२. वैतथ्यप्रकरणटीका

३. कैवल्योपनिषदर्थसंग्रहः

४. ब्रह्मोपनिषदर्थसंग्रहः

५. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्दीपिका

६. 'अमृततरङ्गिणी' भगवद्गीताटीका

७. न्यासादेशतात्पर्यटीका

——ग्रन्थोंको तथा ग्रन्थके परिशिष्टमें, पुरुषोत्तमग्रन्थावलीके पञ्चम खण्डमें अनवधानवश प्रकाशित नहीं किये जा सके ऐसे

८. उत्सवभावानुक्रमः

९. ग्रन्थप्रकरणानुक्रमणिका

——ग्रन्थोंको पुनः प्रकाशित किया जा रहा है.

उपनिषत् :

'उपनिषत्' शब्दका निर्वचन करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य "**सैषा ह्युपनिषत् ब्राह्मी**" (भाग.पुरा.१०।८४।३) की सुबोधिनीमें लिखते हैं :

> "इयम् उपनिषत् ब्रह्मविद्याप्रतिपादिका श्रुतिः. **ब्राह्मी** ब्रह्मणैव प्रतिपादिता...'उपनिषच्'छब्देन च ब्रह्मविद्या निरूप्यते. "**उपोपसर्गः सामीप्ये तत् प्रतीचि समाप्यते, त्रिविधस्य षदर्थस्य निःशब्दोऽपि विशेषणम्**". "**षद्लृ विशरण–गत्यवसादनेषु**" इत्यनुशासनात् जीवात्मानं परब्रह्मनयनार्थं पूर्वभावाद् विशीर्णं कृत्वा ततः सङ्घातात् केवलम् उद्धृत्य ब्रह्म प्रापयित्वा तत्रैव तम् अवसादयति इति. यथा सर्वोऽपि अंशो विशीर्णो भवति, यथा वा सर्वभावेन तं प्राप्नोति; यथा वा कदाचिदपि ततो न निवर्तते स

'नि'शब्दार्थः. एतादृशी ब्रह्मविद्यैव भवति...अतः सर्वसन्देहाः उपनिषदर्थविचारेणैव निराकर्तव्या इति सिद्धान्तः उक्तः''.

यह उपनिषद् ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति है. ब्रह्मने ही इसका प्रतिपादन किया है.

'उपनिषत्' शब्दसे ब्रह्मविद्या ही कही गयी है. 'उप' उपसर्गका अर्थ सामीप्य होता है. ''कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्'' श्रुतिके अनुसार इसका अर्थ प्रत्यगात्माका सामीप्य होता है.

'षद्' धातुके तीन अर्थ होते हैं : विशरण, गति और अवसादन. 'उपनिषद्' में प्रयुक्त 'नि' इसका विशेषण है. अतः उपनिषद् वो हैं कि जो ''जीवात्माको परब्रह्मके पास ले जानेकेलिये उसको उसकी पूर्वस्थिति(अर्थात् देहभाव)से अलग करके, देहादि संघातमेंसे केवल उसीका उद्धार करके, परब्रह्मकी प्राप्ति कराकर उसमें जीवात्माका लय कराते हैं.

'नि' विशेषणका आशय है : [१]सर्वांशमें जीवात्माको देहादि संघातसे अलग करना, अथवा [२]सर्वांशमें ब्रह्मको प्राप्त कराना, अथवा [३]फिर कभी वह ब्रह्मसे अलग न हो उस तरहसे उसका लय ब्रह्ममें करना. ...अतः सभी तरहके सन्देहोंका निराकरण उपनिषत्के अर्थविचारसे ही करना चाहिये यह सिद्धान्त है''.

उपनिषदादि शास्त्रोंका प्रयोजन :

''रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे,
श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः''

(तत्त्वा.नि.सर्वनि.प्र.१९)

रूपप्रपञ्चको प्रकट करने पर जब भगवदंश-जीव उसमें आसक्त हो गये तब उनकी आसक्तिको रूपप्रपञ्चमेंसे हटानेकेलिये सृष्टिकर्ताने अपने आपको श्रुतिके रूपमें प्रकट किया.

वेद-वेदान्तकी एकवाक्यता :

'वेदोपनिषत्' जैसे शब्दप्रयोगके कारण कई लोग उपनिषत्को वेदसे भिन्न

मानते हैं. किन्तु ऐसा सोचना सही नहीं है. **‘‘षड्विधो वै पुरुषः षडङ्गः’’** (ऐत.ब्रा.२।३९) यह श्रुति दो हस्त, दो चरण, मध्यभाग तथा मस्तक इस तरह षडङ्ग पुरुषका निरूपण करती है. इस पुरुषके प्रथम पांच अङ्गोंका प्रतिपादन वेदका पूर्वकाण्ड यज्ञक्रियाविशिष्ट धर्मीके रूपमें करता है. तदनुसार अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास याग पुरुषके दो हस्त हैं, पशु तथा चातुर्मास्य याग पुरुषके दो चरण हैं और सोमयाग पुरुषका मध्यभाग है. षष्ठ अङ्ग मस्तक है. वेदका उत्तर काण्ड ज्ञानधर्मविशिष्ट धर्मीपुरुषका प्रतिपादन करता है. इस तरह सम्पूर्ण वेदके पूर्व और उत्तर काण्ड मिलकर यज्ञक्रिया तथा ज्ञानधर्म विशिष्ट धर्मी पुरुषका प्रतिपादन अनेक तरहसे करते हैं. अतएव महाप्रभु लिखते हैं :

कर्मवद् ब्रह्मभेदाश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः
तेषां भिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीति हि
कर्मशाखागताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि

उपनिषद्वाक्य कर्मकी ही तरह ब्रह्मके भी भेदोंका बहुधा गान करते हैं. ‘वेद’ कहने पर यद्यपि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका कथन हो जाता है, फिर भी पूर्वकाण्डके अध्ययन मात्रसे ही समग्र वेदका अध्ययन हो गया है ऐसा मानकर यदि पूर्वकाण्डका ज्ञानकाण्डसे भिन्न पाठ किया जाये तब तो ज्ञानकाण्डका उच्छेद ही हो जाये. ऐसा न हो इसीलिये उपनिषदोंको कर्मशाखामें समाविष्ट किया गया है. अतः पूर्वोत्तरकाण्डोंका वाच्यैकत्व है. जहां तक वेदान्तवाक्योंके निर्णयका प्रश्न है तो व्यासजीने पृथक्तया उसका निर्णय ब्रह्मसूत्रमें किया ही है.

‘‘स्वाध्यायो अध्येतव्यः’’ वचनानुसार वेदाध्ययन वेदके पाठमात्र तक सीमित नहीं रहना चाहिये अपितु सुष्ठुतया तथा आसमन्तात् होना चाहिये. अर्थात् वेदके शब्द, अर्थ और अनुष्ठानमें किसी तरहकी शङ्का रह न जाये उतनी सावधानी पूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिये. इस तरह अर्थावबोधपर्यन्त वेदाध्ययन करनेवालेके मनमें उपनिषद्वाक्योंमें सम्भावित सन्देहोंका निराकरण करनेके उद्देश्यसे भगवानने व्यासावतार लेकर उत्तरमीमांसा शास्त्रका प्रणयन किया. इसी तरह व्यासशिष्य महर्षि जैमिनिने पूर्वमीमांसा लिखकर कर्मकाण्डके वाक्योंमें हो सकनेवाले सन्देहोंका निराकरण किया.

प्रास्ताविक :

ब्रह्मसूत्रमें उपनिषदर्थके गतार्थ होनेसे और ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें उसीका विषद विवेचन हो जाता होनेसे यद्यपि स्वतन्त्र रूपसे उपनिषदों पर विवेचन लिखनेकी आवश्यकता रह नहीं जाती है तथापि स्वतन्त्र रूपसे उपनिषद्का अध्ययन करनेवाले तत्त्वबुभुत्सु जनोंके उपकारार्थ उपनिषदोंके ऊपर भी विवेचन लिखे जाने लगे. इसी परम्परामें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने उपनिषदोंका वाल्लभ–वेदान्तानुसारी विवेचन 'दीपिका' और 'उपनिषदर्थसंग्रह' के रूपमें लिखा है जिसका प्रकाशन श्रीपुरुषोत्तमग्रन्थावलीके इस छठे खण्डमें किया जा रहा है.

१. माण्डूक्योपनिषद्दीपिका

''प्रस्तुत उपनिषद् अथर्ववेदीय है. ऋग्वेदकी शाखाओंमें भी 'माण्डूकेय' नामक एक शाखाका नाम आता है. इसमें १२ मन्त्र हैं जिनमें ॐकार उसके 'अ'कार, 'उ'कार तथा 'म'कार नामक तीन पादों तथा उनसे विलक्षण आत्मारूप चतुर्थ पाद प्रणवात्मक ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन है. रूपसृष्टिके अनुसार नामसृष्टि भी ब्रह्ममय है इसका इसमें प्रतिपादन किया गया है. ...वेद और वेदान्तात्मक उपनिषदोंका बीज प्रणव ॐकार है. वह ब्रह्मवाचक है. उसके द्वारा कार्यरूपमें प्रसृत वेद भी ब्रह्मका अभिधायक है, एतावता ॐकार भी आत्म–ब्रह्मरूप है. वह कार्य–कारणरूपसे सर्वत्र व्यापक है अतः नामप्रपञ्चरूप समस्त वाङ्मय जो ॐकार वाच्यका वाचक है, ॐकारका ही विवरण है, वह चतुष्पाद है. इस प्रकार इस उपनिषद् पर 'दीपिका' टीकाद्वारा प्रकाश डाला है और पारमार्थिक फलका सम्यक् विवेचन कर उसके वास्तविक ब्रह्मरूपका प्रतिपादन किया गया है''. (शु.पु.संस्कृत वाङ्मय पृ.४३, श्रीकण्ठमणि शास्त्री, कांकरोली)

<u>पूर्वप्रकाशनका विवरण</u> : सम्पादक : देवर्षि श्रीरमानाथ शास्त्री, मुद्रक : गुजराती प्रिंटिंग् प्रेस्. प्रकाशक : नि.ली.गोस्वामीश्रीगोकुलनाथजी महाराजकी आज्ञासे पुष्टिमार्गीय कार्यालय, मुम्बई. प्रकाशनवर्ष : वि.सं. १९८०.

२. वैतथ्यप्रकरणटीका

श्रीशङ्कराचार्यके परमगुरु श्रीगौडपादाचार्यने माण्डूक्योपनिषत् पर

कारिकात्मक विवरण लिखा है. इसके चार प्रकरण हैं : आगमप्रकरण, वैतथ्यप्रकरण, अद्वैतप्रकरण और अलातशान्तिप्रकरण.

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने उक्त विवरणके द्वितीय 'वैतथ्य'प्रकरण पर विवरण लिखा है. इस व्याख्यानके विषयमें तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ग्रन्थके शास्त्रार्थ प्रकरणकी ९१ कारिकाके आवरणभङ्गमें आप लिखते हैं : "**गौडवार्तिक-प्रकरणचतुष्टयार्थस्तु मया तद्व्याख्याने सोपपत्तिको निरूपित इति ततो अवधेयः**".

<u>पूर्वप्रकाशनका विवरण</u> : सम्पादकः देवर्षि श्रीरमानाथ शास्त्री. प्रकाशकः नि.ली.गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराजकी आज्ञासे पुष्टिमार्गीय कार्यालय, मुम्बई. मुद्रकः गुजराती प्रिंटिंग् प्रेस्. प्रकाशनवर्ष : वि.सं. १९८०.

३. कैवल्योपनिषदर्थसंग्रहः

कैवल्योपनिषत् अथर्ववेदका उपनिषत् है. इसके कुल २४ मन्त्र हैं. महर्षि आश्वलायन पितामह ब्रह्माजीसे प्रार्थना करते हैं कि जिस निगूढ ब्रह्मविद्याको जानकर विद्वान् लोग उस परम पुरुषको प्राप्त होते हैं उसका मुझको उपदेश करें.

उक्त जिज्ञासाके समाधानमें आश्वलायनको ब्रह्मज्ञानके साधनोंका उपदेश करते हुवे ब्रह्मा कहते हैं कि उस तत्त्वकी प्राप्ति कर्म, सन्तान या धन से होनी सम्भव नहीं है. उसे श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, त्याग और योग द्वारा जाननेका प्रयास करना चाहिये. वेदान्तके विज्ञानसे तत्त्वका निश्चय हो जाने पर जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब ब्रह्मलोकमें जाकर संन्यासी अमृतत्वको प्राप्त होता है.

अमृतत्व और परामृतत्व को समझाने केलिए उपासना पूर्वक ज्ञानरूप साधनका निरूपण किया गया है. इस तरहकी साधना करनेवाले अधिकारीविशेष अन्त्याश्रमीके समक्ष, उसपर विशेष कृपा करनेकेलिए, विष्णु ही शिवके रूपमें प्रकट होते हैं यह "**सएव विष्णुः**" वचनमें प्रयुक्त 'एव'कारसे द्योतित किया गया है. इस तरह इन मन्त्रोंमें सोपानभूत ध्येयरूप और परामृत प्राप्य स्वरूप के बीच भेदका भी निरूपणक किया गया है.

आश्वलायनके पापनिवृत्तिद्वारा परप्राप्तिके साधनकी जिज्ञासा किये जानेसे उसके हीनाधिकारको जानकर पापदाहकेलिये प्रणवकी उपासनाका निरूपण किया गया है.

‘‘सएव सर्वं’’ यह सिद्धान्त है तब शरीर पापका भागी कैसे बनता है? इस आशङ्काका परिहार यह कह कर किया गया है कि मायासे मोहित होकर शरीरको ही आत्मा मानलेनेके कारण जीवशरीर पापादिका भागी बनता है. ब्रह्म ही सबका आधार है इसका ज्ञान होने पर जीवका मायामोह जब निवृत्त हो जाता है तब वह मुक्तियोग्य बनता है. जीवको जब मुक्तिलाभ होता है तब ‘‘वह तुमही हो–तुम वही हो’’ ऐसा ब्रह्मतादात्म्यका अनुभव होता है. इस तरह जीवको शिवरूपमें जानकर अमृतत्वकी और तदनन्तर परामृतत्वकी प्राप्ति होती है.

अन्तमें प्रणवोपासनाके द्वारा पापदहनमें असमर्थको साधनान्तरके रूपमें शतरुद्रियके पाठका उपदेश दिया गया है.

तात्पर्य यह है कि उत्तमाधिकारी अन्त्याश्रमी प्रणवसे, मध्यमाधिकारी शतरुद्रीयके जपसे और अधमाधिकारी शतरुद्रीयके सर्वदा जपसे पवित्र होता है. तीनोंकी संघातसे मुक्ति होती है.

पूर्वप्रकाशनका विवरण : सम्पादक: श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला. प्रकाशक : पुष्टिभक्तिसुधा, वर्ष : ५, अंक क्र.६, पृष्ठ ११३. प्रकाशनवर्ष: ई.स. १९१५.

४. ब्रह्मोपनिषदर्थसंग्रहः

कृष्णयजुर्वेदीय यह उपनिषत् शौनक और आङ्गिरस पिप्पलाद के बीच हुवे प्रश्नोत्तरके रूपमें है.

ब्रह्मोपनिषत्के दो प्राचीन पाठ गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणोंको टीका सहित प्राप्त हुवे हैं : एक पर श्रीनारायणकी टीका है जिसे आप प्रसिद्ध पाठ कहते हैं. दूसरे इससे किञ्चित् भिन्न पाठवाले पर श्रीशङ्करानन्दकी टीका है. गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने ब्रह्मोपनिषत्के उपलब्ध इन दोनों पाठोंको लक्ष्यमें लेकर इसके प्रथम दो खण्डों पर स्वमतानुसारी अर्थसंग्रह लिखा है.

उपनिषत्के आरम्भमें शौनक प्रश्न करते हैं कि इस दिव्य ब्रह्मपुरमें वागादि इन्द्रियोंके देवता कैसे सम्प्रतिष्ठित होते हैं? उनका सृजन कैसे होता है? ये महिमा किसकी है? जिसकी ये महिमा है वह कौन है?

उक्त सभी प्रश्न क्योंकि ब्रह्म विषयक ही थे अतः पिप्पलादने उत्तरमें कहा कि वह आत्मा ही है. आत्मामें ही सब कुछ सम्प्रतिष्ठित है, आत्मा ही सबका सर्जन

करती है, यह महिमा भी उस आत्माकी ही है. वही सब देवोंकी आयु है, वही सब देवोंका निधन और अनिधन भी है. इस तरह जो जानता है वह परब्रह्मको पाता है.

इस तरह प्रथम खण्डमें परब्रह्मकी महिमाका निरूपण करनेके पश्चात् ब्रह्मके स्वरूपका परिचय द्वितीय खण्डमें कराते हुवे नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा ये पुरुषके चार स्थानका निरूपण किया गया है. तदनन्तर, पुरुषके चार पाद : जाग्रत स्वप्न सुषिुप्ति और तुरीय का निरूपण करते हुवे इनका स्वरूप यह कहकर समझाया गया है कि वह पुरुष अपनी जाग्रत अवस्थामें ब्रह्मा, स्वप्नावस्थामें विष्णु, सुषुप्तिमें रुद्र और तुरीय अवस्थामें इन तीनोंसे श्रेष्ठ अक्षर रूप होता है. इस तरह तुरीय रूपका उत्कर्ष बता कर इन चारों पादोंमें अनुस्यूत और इनसे भी उत्कृष्टतम परं ब्रह्मका निरूपण करते हुवे उसकी महिमाका वर्णन विरुद्धधर्माश्रयत्वेन किया गया है.

पूर्वप्रकाशनका विवरण : सम्पादकः श्रीगणपतिराम कालीदास शास्त्री. प्रकाशकः पुष्टिभक्तिसुध, वर्षः ३, अंक क्र.१. प्रकाशनवर्ष : वल्लभाब्द ४३४ (वि.सं.१९६८).

५. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्दीपिका

‘‘अथर्वपरिशिष्टके कथनानुसार यह अथर्ववेदकी २१ वीं उपनिद् है. इसमें देवों और प्रजापति के प्रश्नोत्तररूपमें सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है. देवोंकी प्रार्थना पर जब प्रजापतिने परब्रह्मस्वरूप श्रीनृसिंह पूर्ण पुरुषोत्तमका प्रतिबोधन किया और उनके मन्त्रराजका उद्धार किया तो प्रणवकी मात्राओं और मन्त्रराजके पदोंकी एकार्थता सिद्ध होनेसे देववर्गको इस प्रकारका सन्देह हुआ कि शरीर आत्मा और ब्रह्म के अभेदज्ञानार्थ ब्रह्मवाचक ॐकारकी सङ्गति किस प्रकार हो सकती है? इस सन्देहका निराकरण प्रजापतिद्वारा इस नृसिंहतापिनीमें किया गया है. माण्डूक्योपनिषद्के समान ही ॐकाररूप परब्रह्मकी आत्माके साथ अभेदता सिद्ध करते हुए ब्रह्मानन्द परमफलकी प्राप्तिका निर्देश करना इस उपनिषद्का प्रतिपाद्य विषय है.

इसके मन्त्रोंद्वारा सिद्ध किए हुए शङ्कराचार्यके मायावादका खण्डन करना श्रीपुरुषोत्तमजीका लक्ष्य है. भगवद्रूप प्रपञ्चमें मायिकताका लवलेश भी नहीं है इसका उपसंहारमें विवेचन है. इस छोटे उपनिषद्के प्रत्येक मन्त्र पर भाष्यकी रचना न कर उसके उतने ही अंशका विवेचन करना ‘दीपिका’ टीकाका लक्ष्य है, जहां मायावादका

सम्पर्क आता है'' (शु.पु.संस्कृत वाङ्मय पृ.४९, श्रीकण्ठमणि शास्त्री, कांकरोली).

<u>पूर्वप्रकाशनका विवरण</u> : सम्पादक: देवर्षि श्रीरमानाथ शास्त्री. प्रकाशक: नि.ली.गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराजकी आज्ञासे पुष्टिमार्गीय कार्यालय, मुम्बई. मुद्रक: गुजराती प्रिंटिंग् प्रेस्. प्रकाशनवर्ष : वि.सं. १९८२. वल्लभाब्द ४४८.

६. 'अमृततरङ्गिणी' भगवद्गीताटीका:

''**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्द... दुग्धं गीतामृतं महत्**'' और ''**एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्**'' उक्तियोंसे भगवद्गीताकी महत्ता सर्वविदित है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्योंने तो भगवद्गीताकी प्रमाणमूर्द्धन्यताका उद्घोष करते हुवे यहां तक कह दिया है कि शुद्ध ब्रह्मवादी और शुद्ध भागवत तो वो ही हैं कि जो कृष्णवाक्य गीताके अनुसार शास्त्रोंका अर्थ कहते हैं : ''**कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि, ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः**''.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भगवद्गीता पर यद्यपि कोई स्वततन्त्र टीका नहीं लिख है फिर भी तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ग्रन्थके प्रथम शास्त्रार्थप्रकरणमें आपने भगवद्गीताके ही अर्थ–तात्पर्यका निरूपण किया है यह आपकी ''**शास्त्रार्थो गीतार्थः**'' उक्तिसे सिद्ध होता है.

भगवद्गीता विषयक साम्प्रदायिक अन्य ग्रन्थसाहित्यमें श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण विरचित १.**गीतार्थविवरण** २.**गीतातात्पर्य** और भगवद्गीताके सुप्रसिद्ध श्लोक: ''**सर्वधर्मान् परित्यज्य...**'' के गूढार्थको प्रकट करनेवाली श्रीरामानुज सम्प्रदायके आचार्य श्रीवेदान्तदेशिक रचित न्यासविंशतिकी ''**न्यासादेशेषु ... आज्ञादिसिद्धः**'' कारिकापर ३.'**न्यासादेशविवरण**' नामसे विवरण ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं.

सम्पूर्ण भगवद्गीता पर वाल्लभमतानुसारी तीन संस्कृत टीकायें प्रकाशित हैं: १.**अमृततरङ्गिणी**, गोस्वामी श्रीवल्लभजी विरचित २.**तत्त्वदीपिका** और श्रीकल्याण भट्ट विरचित ३. **रसिकरञ्जिनी**(प्रथमाध्याय मात्र).

इनमेंसे प्रथम **अमृततरङ्गिणी** का प्रकाशन पुरुषोत्तमग्रन्थावलीके इस खण्डमें किया जा रहा है. इस टीकाके लेखकके विषयमें विशेष निरूपण आगे किया गया है.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने जिस तरह श्रीभागवत पुराणके शास्त्र स्कन्ध प्रकरण अध्याय वाक्य पद और अक्षर के अर्थका निरूपण अपने ग्रन्थ 'भागवतर्थनिबन्ध' और श्रीभागवत पुराणकी 'सुबोधिनी' टीकामें किया है उसी शैलीका अनुसरण करते हुवे अमृततरङ्गिणीकारने भी टीकाके उपक्रम और उपसंहार में संग्रहकारिकाओं द्वारा सम्पूर्ण भगवद्गीताके शास्त्रार्थका निरूपण किया है. इसी तरह प्रत्येक अध्यायके भी उपक्रम और उपसंहार में उस अध्यायकी पूर्वापर सङ्गति और उसके तात्पर्यका निरूपण संग्रहकारिकाद्वारा किया है.

ग्रन्थके उपोद्घातमें आपने भगवद्गीताके अन्य टीकाकरोंके मतोंका विमर्श करते हुवे श्रीरामानुजाचार्यके भगवद्गीता विषयक मतको सिद्धान्तानुकूल माना है.

आगे गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणों द्वारा विरचित **'गीतार्थविवरण'** ग्रन्थमें दिखलायी गयी दिशाका स्मरण करते हुवे टीकाकार कहते हैं कि भगवान् द्वारा भक्तिमार्गमें अङ्गीकृत अर्जुनकी युद्ध समयमें आर्त और जिज्ञासु अवस्थाको लक्ष्यमें लेकर भगवानने उसको उपदेश दिया है. तदनुसार प्रथमाध्यायमें अर्जुनकी आर्तताका निरूपण है. द्वितीयाध्यायमें शोकसागरमें डूबे हुवे अर्जुनके प्रति दयासे भरकर आत्मीय भावसे भगवानने उसको सांख्य-योगका उपदेश दिया है. इस तरह आर्तत्वका निवारण हो जानेके पश्चात् अर्जुन भक्तिप्राप्तिकी इच्छावाले-जिज्ञासु बनते हैं. आगे यथाप्रसङ्ग उपस्थित हुयी अर्जुनकी जिज्ञासाओंका समाधान करते हुवे अन्तमें भगवानने भक्ति और शरणागति रूप सर्वगुह्यतम तत्त्वका उपदेश देकर विराम लिया है.

इस तरह भगवानने अर्जुनको निमित्त बनाकर यह उपदेश सर्वोद्धारार्थ दिया है. अतः भगवद्गीताको समझकर सर्वदा श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर हो जाना चाहिये. भगवद्गीतामें निरूपित अठारह विद्याओंका यही सार है कि अनन्यभावसे श्रीकृष्णकी भक्ति की जाये.

भगवद्गीताकी अमृततरङ्गिणी टीकाके लेखकके विषयमें विद्वानोंके तीन मत उपलब्ध होते हैं :

१. अमृततरङ्गिणीके प्रणेता श्रीपुरुषोत्तमजीके धर्मपिता श्रीव्रजरायजी ही हैं.

"तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि श्रीपुरुषोत्तमजीने इस ग्रन्थको

अपने धर्मपिताके नामसे लिखा, किन्तु ...जो भाषाशैलीकी प्रौढता भाष्यप्रकाशमें दृष्टिगोचर होती है, वह इस ग्रन्थमें नहीं है. तथा किसी अन्यके नामसे ग्रन्थ लिखनेकी परिपाटी तो राजाओंके चाटुकार आश्रित कवियोंमें रही है, अन्यत्र नहीं... अतः निर्विवादरूपसे मानना चाहिये कि अमृततरङ्गिणी ग्रन्थके प्रणेता श्रीव्रजरायजी ही हैं'' (द्रष्टव्य : **तृ.पी.गो.श्रीव्रजेशकुमार**, 'शुभाशंसनम्', भगवद्गीता अमृततरङ्गिणी, कांकरोली–वडोदरा).

२. इसका उपोद्घात श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने लिखा है, शेष अंश श्रीव्रजरायजीने लिखा है.

''पोताना काका श्रीव्रजराजजीनी गीतामृततरङ्गिणीनी प्रस्तावना पण श्रीपुरुषोत्तमजीए ज लखी छे.'' (द्रष्टव्यः **श्रीमूलचन्द्र तेलीवाली**, पुष्टिभक्तिसुधा पृ.५५)

३. इसकी रचना श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने ही की है.

[१]''एतदुक्तं गीतासु ''संन्यासस्तु ...नचिरेणाधिगच्छति'' एतदर्थस्तु श्रीपुरुषोत्तमचरणैः अमृततरङ्गिण्याम् उक्तः'' (द्रष्टव्य : 'वल्लभाख्यान'के टीकाकार गोस्वामी **श्रीव्रजरमणात्मज श्रीव्रजरायचरण** प्रथमाख्यानके उपसंहारमें).

[२]''एतन्निर्मातारश्च विश्वविख्यातवैदुषीविभवा गोस्वामि–श्रीपुरुषोत्तमजीमहाराजचरणा इति आदर्शपुस्तकप्रारम्भलेखादिना अवगम्यते''. (द्रष्टव्य : **श्रीरत्नगोपालभट्ट**, प्रकाशकीय, श्रीमद्भगवद्गीताया अमृततरङ्गिणीटीका)

[३]''ऐसी प्रसिद्धि है कि इसकी रचना श्रीपुरुषोत्तमजीने श्रीव्रजरायजीके नामसे की'' (द्रष्टव्य : **वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी**, किञ्चित्प्रस्ताविकम्, भगवद्गीता अमृततरङ्गिणी)

[४]''इसकी रचना श्रीपुरुषोत्तमजीने श्रीव्रजरायजीके नामसे की है ऐसा भी प्रसिद्ध है'' (द्रष्टव्य : **श्रीकण्ठमणि शास्त्री**, विद्याविभाग, कांकरोली. 'शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय वाङ्मय' पृ.७९)

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ–पार्ला)के अनुसार कामवन ग्रन्थालयका अवलोक करते समय इस टीकाके श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा ही लिखे गये होनेका उल्लेख आपको प्राप्त हुवा था. ग्रन्थशैलीके विषयमें आपका मानना है कि यद्यपि ग्रन्थका उपोद्घात तो लेखकने अपनी चिरपरिचित शैलीमें किया किन्तु श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने यह टीका अपनी उत्तरावस्थामें लिखी होनेसे आगे उनसे उस शैलीका अनुसरण हो नहीं पाया. अतः भगवद्गीताकी शेष टीका आपने भावात्मक शैलीमें लिखकर पूर्ण की. ध्यातव्य है कि श्रीकृष्णाश्रय ग्रन्थकी टीका श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने श्रीव्रजराजचरणोंके नामसे लिखी ही है जो कि दो भागोंमें है. टीकाके आद्यभागके विषयमें आप लिखते हैं : ''इदं प्राचां रीतिम् अनुसृत्य व्याख्यातम्''. और द्वितीय भाग जो कि आपने भावात्मक शैलीमें लिखा है उसके उपक्रममें आप लिखते हैं : ''ममतु अन्योपि अर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति''.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ–पार्ला) का यह भी विश्वास है कि मांडवी ग्रन्थालयसे प्राप्त इस ग्रन्थकी जिस प्रतिका मुद्रित पुस्तकके साथ मिलान किया गया है वह श्रीपुरुषोत्तमचरणोंके हस्ताक्षरमें हैं. यह यद्यपि उल्लेखनीय है कि इस प्रतिके आद्यन्तमें कहीं भी लेखक या लिपिक का नामोल्लेख नहीं किया गया है.

<u>पूर्वप्रकाशनोंका विवरण</u>:

प्रथम संस्करण: सम्पादक: श्रीरत्नगोपालभट्ट. मुद्रक : चन्द्रप्रभा मुद्रणालय, वाराणसी. प्रकाशनवर्ष : वि.सं. १९०२

द्वितीय संस्करण : सम्पादक : श्रीगजानन शास्त्री साधले, मुद्रक–प्रकाशक : गुजराती प्रेस, मुम्बई. प्रकाशनवर्ष : वि.सं. १९०६

तृतीय संस्करण: प्रकाशक : विद्याविभाग, कांकरोली. सम्पादक : श्रीवासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी. मुद्रक : सहकारी प्रेस, मथुरा. प्रकाशनवर्ष : वि.सं. २०३५

७. न्यासादेशतात्पर्यटीका

भगवद्गीताके सुप्रसिद्ध श्लोक : **''सर्वधर्मान् परित्यज्य...''** के गूढार्थका विवरण श्रीरामानुज सम्प्रदायके आचार्य श्रीवेदान्तदेशिकने अपने 'न्यासविंशति'

ग्रन्थमें किया है. इस ग्रन्थकी ''**न्यासादेशेषु ... आज्ञादिसिद्धः**'' इस कारिकाको महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणोंद्वारा अपनाया गया है. इस पर श्रीविट्ठलनाथ–प्रभुचरणोंने एक विवरण '**न्यासादेशविवरण**' नामसे लिखा है. इस विवरणपर गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणोंकी टीका है.

<u>पूर्वप्रकाशनोंका विवरण</u> :

प्रथम संस्करण : सम्पादक–प्रकाशक : श्रीमग्नलाल गणपतिराम शास्त्री. मुद्रक : निर्णयसागर प्रेस. हस्तप्रति दाता: श्रीनृसिंहलालजी महाराज (गोकुलाधीशजीवाले)

द्वितीय संस्करण : सम्पादक : श्रीरमानाथ शास्त्री. प्रकाशक : श्रीबालकृष्ण पुस्तकालय, मोटा मन्दिर, मुम्बई. प्रकाशनवर्ष : १९३४ ई.स.

८. उत्सवभावानुक्रमः

स्वगृहमें अनुष्ठित पुष्टिभक्तिमार्गीय भगवत्सेवामें वर्षभरमें मनाये जाते प्रमुख उत्सवोंकी भावनाओंका इस ग्रन्थमें निरूपण किया गया है.

गम्भीरता पूर्वक विचारणीय विषय किन्तु यह है कि भेंट–चंदा मांगकर, पगारदार नौकरोंद्वारा सार्वजनिक रूपसे सार्वजनिक हवेली–मन्दिरोंमें करवाई जाती आधुनिक (अ)पुष्टिमार्गीय सेवामें अधोलिखित विज्ञप्तिकी कारिकाओंकी प्रासङ्गिकता कितनी रह गयी है!

श्रीकृष्णान्तरसद्रूप <u>स्वकीये स्वगृहे मम</u> ।
आगत्य भोजनं कृत्वा कृतार्थं कुरु मां विभो ।।४४।।
<u>सेवार्थं दत्तगेहस्य</u> निजदास्यं च मे प्रभो ।
आगन्तव्यं भोजनार्थं श्रीकृष्ण! कृपया <u>गृहे</u> ।।४५।।
अप्रियं सप्रियं वापि धनहीनस्य मे प्रभो ।
<u>मद्गृहे</u> भोजनार्थाय <u>ह्यागन्तव्यं</u> महाप्रभो ।।५०।।

<u>पूर्वप्रकाशनोंका विवरण</u> : सम्पादक : श्रीचिमनलाल शास्त्री. प्रकाशक : श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा, सुरत. उत्सवनिर्णयग्रन्थसमुच्चय, उत्तरार्ध ग्रन्थाङ्क १२, पृ.४९–५१. प्रकाशनवर्ष : वि.सं. २००५.

९. ग्रन्थप्रकरणानुक्रमणिका

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित षोडशग्रन्थोंकी क्रमसङ्गतिका निरूपण इस अनुक्रमणिकामें किया गया है.

पूर्वप्रकाशनोंका विवरण : सम्पादक : श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला. प्रकाशक : पुष्टिभक्तिसुधा वर्ष : ५, अंक ८-९, पृष्ठ : १५५-१५६. प्रकाशनवर्ष : वल्लभाब्द : ४३७.

पूर्वमें भिन्न प्रकाशित गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित इन ग्रन्थोंके संकलिततया पुनःप्रकाशनसे ग्रन्थाध्ययनपरायण जिज्ञासु जन अवश्य ही लाभान्वित होंगे.

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें प्रेरणास्रोत पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) रहे हैं. आपने ग्रन्थाध्यापन-प्रवचन-लेखनादिमें अतीव व्यस्त होते हुवे भी इस ग्रन्थका आद्योपान्त अवलोकन करके अमूल्य सुझाव दिये जिसके बिना इस ग्रन्थका प्रकाशन सम्भव नहीं था. अन्तमें इन ग्रन्थोंके पूर्व सभी प्रकाशकोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्टकी ओरसे

संवत्सरोत्सव २०७० गोस्वामी शरद्

विषयानुक्रमिणका

विषय	पृष्ठ
१. माण्डूक्योपनिषद्दीपिका	०१
३. वैतथ्यप्रकरणटीका	२४
४. कैवल्योपनिषदर्थसंग्रहः	४१
५. ब्रह्मोपनिषदर्थसंग्रहः	४८
६. नृसिंहोत्तरतापिन्युपषिद्दीपिका	५६
७. 'अमृततरङ्गिणी' भगवद्गीताटीका	
अध्याय १	१००
अध्याय २	१२३
अध्याय ३	१५५
अध्याय ४	१७४
अध्याय ५	१९१
अध्याय ६	२०४
अध्याय ७	२२४
अध्याय ८	२३९
अध्याय ९	२५१
अध्याय १०	२६७
अध्याय ११	२८३
अध्याय १२	३०५
अध्याय १३	३१३
अध्याय १४	३२८
अध्याय १५	३३९
अध्याय १६	३४८
अध्याय १७	३५७
अध्याय १८	३६९
७. न्यासादेशतात्पर्यटीका	४०१
परिशिष्टम्	
८. उत्सवभावानुक्रमः	४२०
९. ग्रन्थप्रकरणानुक्रमणिका	४२६

गोस्वामिश्रीमत्पुरुषोत्तमचरणविरचितदीपिकासहिता

माण्डूक्योपनिषत्

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणौ पुरुषोत्तमः।
माण्डूक्यं तत्कृपादृष्टिबलेन व्याकरोति हि ।।

हरिः ॐ इति एतद् अक्षरम् इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्. भूतं भवद् भविष्यद् इति सर्वम् ॐकारएव. यच्च अन्यत् त्रिकालातीतं तदपि ॐकारएव ।।१।।

सर्वस्य वेदस्य ब्रह्मवाचकत्वे बीजम् उपदिशन्ती श्रुतिः ॐकारार्थ–कथनमुखेन तद् आह. कथम् इदम् अवगम्यते? उच्यते. ‘‘**प्रणवः चतुर्द्धा व्यवस्थितः इति वेददेवयोनिः**’’(अथर्वशिखोप.२) इति अथर्वशिखायां श्रवणात् तदवयवानाम् अकारादीनाम् ऋग्वेदादिरूपताश्रवणाच्च. ॐकारम् उपक्रम्य ‘‘**स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः, स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्**’’(भाग.पुरा.१२।६।४१) इति द्वादश–स्कन्धवाक्याद्, ‘‘**अहम्**’’ इति उपक्रम्य ‘‘**प्रणवः सर्ववेदेषु**’’(भग.गीता ७।८) इति गीतावाक्याच्च सर्वोपनिषद्वेदबीजरूपस्य प्रणवस्य ब्रह्मवाचकत्वसिद्धौ प्रणवशक्तेरेव तत्कार्ये वेदे प्रसरणाद् वेदस्याऽपि ब्रह्माभिधायकत्वम्. ‘‘**सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति**’’(कठोप.२।१५) इति श्रुतौ दर्शितम्. ‘‘**मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्, एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्**’’(भाग.पुरा.११।२१।४३) इति एकादशस्कन्धे च भगवता उक्तम्. अतो जानीहि. केचित्तु ‘‘**एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यद् ॐकारः**’’ (प्रश्नोप.५।२) ‘‘**ॐ इत्यात्मानं युञ्जीत**’’(महाना.उप.१७।१५) ‘‘**ॐ इति ब्रह्म**’’(तैत्ति.उप.१।८।१) ‘‘**ॐकार एव इदं सर्वम्**’’(छान्दो.उप.२।२३।४) इत्यादिश्रुतिभिः ॐकारस्य सर्वालम्बनत्वम् उक्ताऽऽत्माभिधायकत्वाद्

आत्मस्वरूपतां च तस्य उक्त्वा अद्वयस्य परमार्थस्य सतः आत्मनो रज्जुसर्पदृष्टान्तेन प्राणादिसर्वविकल्पास्पदत्वम् अङ्गीकृत्य प्राणाद्यात्मविषय-वाक्प्रपञ्चस्याऽपि तद्दृष्टान्तेन ॐकारत्वं च अङ्गीकृत्य ''**वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्**''(छान्दो.उप.६।१।४) ''**तस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्**''(ऐत.उप.२।१।६) ''**सर्वं हीदं नामनि**''(ऐत.उप.१।६।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॐकारविकारशब्दाभिधेयस्य सर्वस्य प्राणादेः अभिधाना-व्यतिरेकाद् वाङ्मात्रत्वं दर्शयन्ति. तत्र ॐकारस्य आत्मरूपतापर्यन्तम् आदरणीयं शेषन्तु अनादरणीयम्, प्राणादीनां विकल्पमात्रत्वाभावात्. मृत्पिण्डादि-दृष्टान्तानुरोधेन[१] कार्यजातस्य सदनन्यतायाः[२] श्रौतत्वात्, वाचारम्भणश्रुतेः विकारस्य वाङ्मात्रतां बोधयन्त्या ब्रह्मात्मताबोधनपरत्वात्. अन्यथा शुक्तिरजतादेरेव दृष्टान्तता कथिता स्यात्. नच आकारस्य कल्पितत्वं शक्यवचनं, सत्कार्यवादश्रवणाद्, उत्पत्तेः अभिव्यक्तिमात्रत्वस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वात्. अभिव्यक्तेः [३]च अपरे [४]तत्तन्नाम-नियमनात्. व्याकरणश्रुत्या तथा निश्चयात्. सर्वत्र इच्छायाएव कारणत्वकथनाद् वाचोतन्त्येति बन्धनश्रुतेरपि तयैव साङ्गत्यात्. ''**सर्वं हीदं नामनि**''(ऐत.उप.१।६।१) इति अस्याऽपि मेढ्यां बलीवर्दाः इतिवद् बन्धनविषयत्वादेव उपपत्तेः इति.

ननु प्रणवस्य सबीजसदात्मवाचकत्वं भवतु नाम नतु परवाचकत्वमपि, ''**यतो वाचो निवर्तन्ते**''(तैत्ति.उप.२।४,५) इत्यादिश्रुतिविरोधाद् इति चेत्, न, तासाम् ऐदमिथ्येन वदनाशक्तिपरत्वात्. अन्यथा ''**तन्त्वौपनिषदम्**'' (बृहदा.उप.३।९।२६) इत्यादिविरोधात्. श्रुतित्वादेव एकतरबाधस्य अशक्यत्वात्. नच उभयसामञ्जस्यार्थम् अपरस्य वाच्यत्वं परस्य अवाच्यत्वम् इति व्यवस्थाप्यम् इति वाच्यम्, ''**एतद्वै सत्यकामः**''(मैत्रा.उप.६।५) इत्यादिविरोधात्. नच तत्र ऐक्यमेव विधीयते नतु वाच्यवाचकभावः इति वाच्यम्, तथा सति ॐकारपर्यायवाच्यतायाः अनिवृत्तेः. वस्तुतस्तु उपासनार्थमेव ऐक्यविधानम्, ज्योतिश्चरणाधिकरणेन तथा निश्चयात्. ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वेन ॐकारे कल्पनोपदेशस्य अविरुद्धत्त्वाच्च. अतः ऐक्येऽपि वाच्य-वाचकभावो निष्प्रत्यूहएव. यत्तु वाच्य-वाचकयोः युगपत्प्रविलापने तद्विलक्षणब्रह्मप्रतिपत्तिः

ऐक्यकथनप्रयोजनं **''पादामात्रा मात्राश्च पादाः''**(माण्डू.उप.८) इति वक्ष्यमाणत्वाद् इति उक्तम्, तद् न, पादामात्राः इति अस्य प्रणवे ब्रह्मवाचकता-बोधनपरत्वात्. तद् उपपादयिष्यते. अतो वेदस्य ब्रह्मवाचकत्वे यद् बीजं तद् उपदेशार्थमेव प्रणवार्थकथनं तत्र-तत्र श्रुतिषु. तद् एतद् अभिसन्धायैव आह **ॐ इति एतत्**. अयम् ॐकारः अक्षरम् अक्षरब्रह्मात्मकः, तत्प्रत्यासन्नत्वेन तद्वाचकत्वात्. तद् इदम् उपसंहारे स्फुटिष्यति. **इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्. इदं सर्वम्** ॐकारयोनिकं वाङ्मयम् **तस्य** ॐकारस्य **उपव्याख्यानं** निकटतया विवरणम् इति अर्थः. कुतः? इति चेत्. तत्र आह **भूतं भवद्** इत्यादिः. **भूतम्** अतीतं, **भवत्** वर्तमानं, **भविष्यद्** भावि इति कालत्रयपरिच्छेद्यं सर्वं कार्यजातम् ॐकारएव. **यत् च अन्यत्** कार्यातिरिक्तं **त्रिकालातीतं** कालत्रयापरिच्छेद्यं जीवप्रकृत्यादि, **तदपि ॐकारएव** अक्षरएव. अतः ॐकारवाच्यस्य वाचकं सर्वं वाङ्मयम् ॐकारविवरणरूपम् इति अर्थः. तथाच ॐकारे निर्णीते सर्वस्याऽपि निर्णयसिद्धेः तन्निर्णयः आवश्यकः इति भावः.

एवं प्रतिज्ञां सूचयित्वा ॐकाराभिधेयत्वाय सर्वस्य स्वरूपम् आह **सर्वं हि एतद् ब्रह्म** इति.

सर्वं हि एतद् ब्रह्म, अयम् आत्मा ब्रह्म, सो अयम् आत्मा चतुष्पात्॥२॥

हि यस्माद् हेतोः **एतत्** पूर्वोक्तं **सर्वं** कार्यम् अकार्यं च ब्रह्म. नतु तदतिरिक्तम् इति अर्थः. स्वरूपम् उक्त्वा साङ्ख्यदर्शनजं संशयं वारयति **अयम् आत्मा ब्रह्म** इति. **अयं** सर्वरूपतया च 'ब्रह्म'पदेन ॐकारेण च अस्माभिः उच्यमानः **आत्मा ब्रह्म** 'ब्रह्म'पदवाच्यो नतु प्रकृतितत्त्वम् इति अर्थः. एतेनैव केवलप्रत्यगात्मवाचकतापि निरस्ता बोध्या. 'आत्म'शब्दस्य पुरुषतत्त्वे जीवादौ च प्रसिद्धत्वात् तद्वारणाय विवक्षितस्य स्वरूपम् आह **सो अयम् आत्मा** इत्यादिना **''स आत्मा स विज्ञेयः''**(७) इत्यन्तेन.

इदं सर्वं वक्ष्यमाणं च सूत्ररूपेण पूर्वम् उक्तस्य वृत्तिरूपं ज्ञेयम्. तत्र पूर्वं दुर्ज्ञेयतां तस्य जानन् बोधनाय पादशो विभजते **सो अयम् आत्मा चतुष्पाद्** इति. कार्षापणादेरिव अंशवचनः 'पाद'शब्दो नतु गवादेरिव चरणवचनः. तत्रापि ब्रह्मगमकत्वात् करणसाधनः सर्वत्र, नतु विश्वादिषु करणसाधनः तुरीये कर्मसाधनः. वैरूप्याद् ब्रह्मणो अनिर्वाच्यतापत्तेश्च. नच तुरीयस्य अव्यवहार्यत्वादिकथनाद् न दोषः इति वाच्यम्, तेनैव रूपेण निर्वाच्यतायाः सुवचत्वात्. नच एवं परेऽपि ब्रह्मणि तदापत्या अनिरुक्तश्रुतिविरोधापातः[५] इति शङ्क्यम्. शङ्कानां मनोगोचरतानन्तरकालीनत्वेन ब्रह्मणश्च अवाङ्मनस–गोचरत्वेन अनवसरपराहतत्वात्. "**नायमात्मा**"(कठोप.२।२३) इति श्रुत्या श्रुतीनामपि दूरतएव ज्ञापकत्वात्. उपायानां च यत्नमात्रएव पर्यवसन्नत्वात् परमात्मप्रकाशस्य तदेकतन्त्रत्वात्. अतो न चोद्यावकाशः इति सर्वत्र अत्र करणसाधनएव 'पाद'शब्दः इति दिक्.

के ते चत्वारः पादाः? इति आकांक्षायां तान् वदन् प्रथमम् आह **जागरित:** इत्यादिना.

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।।३।।

जागरितं सात्त्विको अन्तःकरणवृत्तिविशेषः स्थानं यस्य सः **जागरितस्थानः**. **बहिः** लौकिके बाह्ये विषये प्रज्ञा अवभासो येन जीवानां सः **बहिःप्रज्ञः**. अथो लोकान् भूर्लोके अन्तर्भाव्य भूरादिव्याहृत्युक्ताः लोकाः सप्ताङ्गानि यस्य असौ **सप्ताङ्गः**. दशेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाः चत्वारि अन्तःकरणानि च इति एवम् एकोनविंशतिः मुखानि उपलब्धिद्वाराणि यस्य असौ **एकोनविंशतिमुखः**. यद्यपि प्राणानाम् उपलब्धिद्वारत्वं न प्रसिद्धं तथाऽपि कर्मेन्द्रियाणां भोग्यसम्पादकत्वेनैव[६] प्राणानां करणानुग्राहकत्वेन परम्परया द्वारत्वम् अविरुद्धम्. उक्तैः द्वारैः स्थूलं ब्रह्माण्डशरीरं स्थूलान् शब्दादीन् विषयान् वा भुङ्क्ते सर्वधीवृत्तिभिः अनुभवति इति **स्थूलभुक्**. विश्वान् सर्वान्तरान् जीवान्

अनेकधा तत्तदुचितलोकेषु भोगेषु च नयति इति **विश्वानरः**. सएव वैश्वानरः सर्वपिण्डात्मा. स्वार्थे अण्. यद्यपि वैश्वानरोपासनास्थो 'वैश्वानर'शब्दो वैश्वानराधिकरणे परब्रह्मवाचकत्वेन व्यवस्थापितः तथापि प्रकृते विश्वत्वेन अपरब्रह्मतायाः विवक्षिततत्वाद् विराड्वाचकएव ज्ञेयः. अतएव च औदर्याग्निव्युदासः.

यत्तु ''मूर्द्धैव सुतेजा'' इत्याद्युपन्यस्य कैश्चित् सप्ताङ्गत्वम् उक्तं, तद् न, उर आदित्यागापत्तेः. तत्र हि **''तस्य ह वा एतस्य आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा''**(छान्दो.उप.५।१८।२) इत्यादिना पादान्तानि षडङ्गानि उक्त्वा **''उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यम् आहवनीयः''** (छान्दो.उप.५।१८।२) इति एकादशाङ्गपाठात्. अग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेन तदनादरणे आस्यस्याऽपि त्याज्यत्वापत्या सप्तसङ्ख्यापूर्त्यभावप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्. अतः उक्तान्येव सप्ताङ्गानि इति निश्चयः. तादृशः सः प्रथमः पादः, **''पादोऽस्य विश्वाभूतानि''**(ऋग्वेद ८।४।१७)) इतिश्रुतेः. पद्यते ज्ञायते परं ब्रह्म अनेन इति पादः. उत्तरपादाधिगमस्य एतत्पूर्वकत्वाद् अस्य इतरप्राथम्यम्.

यच्च उक्तं सर्वस्य प्रपञ्चस्य प्रत्यगात्मना चतुष्पादत्वम् अत्र विवक्षितम्, अतः सर्वप्रपञ्चोपशमे अद्वैतसिद्धिः इति, तदपि न, **''अयम् आत्मा ब्रह्म''**(बृहदा.उप.२।५।१९) इति सूत्रस्थ-'आत्म'पदस्य प्रकृतितत्त्वव्युदासार्थम् उक्तत्वात्. **''सो अयम् आत्मा''**(माण्डू.उप.२) इति अत्रापि तस्यैव ब्रह्मणो विवक्षितत्वेन प्रतीचो अत्र विवक्षाभावात्. विकल्पबुद्ध्यपायमात्रेण अद्वैतसिद्धेश्च इति न किञ्चिद् एतत्. नृसिंहोत्तरतापनीये प्रतीचो अजया चतुष्पात्त्वस्य ब्रह्मणो वास्तवतथात्वस्य स्फुटत्वेन तद्विरोधाच्च.

द्वितीयम् आह **स्वप्नस्थानः** इति.

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥४॥

स्वप्नो राजसो अन्तःकरणवृत्तिविशेषः स्थानम् अस्य इति **स्वप्नस्थानः**. अन्तः आन्तरे विषये ''**अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्राम् उपादाय स्वयंविहृत्य स्वयंनिर्माय**''(बृहदा.उप.४।३।९) इति श्रुत्युक्ते मायाप्रेरितमनोवृत्तिरूपे स्वाप्ने मनोरथिकाभिमानिकादौ च प्रज्ञा अनुभवो येन इति **अन्तःप्रज्ञः**. नच स्वप्नो न अनुभवः इति वाच्यम्. ''**पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति**''(बृहदा.उप.३।४।९) ''**स्वप्ने महिमानमनुभवति**''(प्रश्नोप.४।५) इत्यादिश्रुतिविरोधात्, ''स्वप्नो दृष्टः'' इत्येवम् अनुभवानुवादविरोधाच्च. स्वाप्नप्रज्ञा च अतिरिक्तापि, नतु वासनारूपैव. अदृष्टाश्रुतादेरपि दर्शनात्. दृष्टं च अदृष्टं च श्रुतं च इत्याद्युक्ता अग्रे ''**पश्यति**'' इति आथर्वणे श्रावणाच्च. नच अदृष्टम् इत्यादेः इह जन्मनि अदृष्टम् इत्येवमादिः अर्थः, सम्यग् मानाभावात्. वासनायाः सिद्धत्वेन निर्माणश्रुति–व्याकोपापातात्. नच उद्बोधनम् आदाय श्रुतिः समर्थयितुं शक्या, निमित्तम् अन्तरेण उद्बोधकस्य तत्र अशक्यवचनत्वात्. नच अदृष्टेन उद्बोधसिद्धिः, तस्य द्वारसापेक्षत्वाद् इति दिक्.

सप्ताङ्गत्वादिकन्तु तैजस्य हिरण्यगर्भत्वाद् अविरुद्धम्, ''**तैजसो हिरण्यगर्भौ द्वितीयः पादः**''(नृ.उ.ता.उप.१।१) इति नृसिंहतापनीयश्रुतेः. प्रविविक्तम् इन्द्रियापेक्षया आन्तरं भुङ्क्ते इति **प्रविविक्तभुक्**. तैजसानां प्रकाशकानाम् इन्द्रियाणाम् अनुग्राहकत्वात् तैजसः सः द्वितीयः पादः ज्ञापको अंशः.

तृतीयम् आह **यत्र** इत्यादिः.

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते. न कंचन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्. सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघनएव आनन्दमयो हि आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः तृतीयः पादः।।५।।

''**जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा**'' (भाग.पुरा. ११।१३।३०) इति स्मृत्या स्थानत्रयेऽपि तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणस्य स्वापस्य

तुल्यत्वेन सुषुप्तेः दुर्ज्ञेयत्वात् तत्स्थानं लक्षयति **यत्र** इत्यादि. यत्र स्थाने सुप्तो जीवो न कञ्चन कामं कामयते तत् सुषुप्तम् इति. मुक्तिवारणाय सुप्तः इति. स्वप्नवारणाय **न स्वप्नं पश्यति** इति. जाग्रद्वारणाय **कञ्चन** इति. अन्यथा-ग्रहणलक्षणस्य स्वप्नस्य जाग्रत्यपि सत्त्वात् तथा उक्तम्. उत्कर्षबोधनाय **न कञ्चन कामं कामयते** इति. एवं तत्स्थानं लक्षयित्वा तदुपलक्षितं पादम् आह **सुषुप्तस्थानः** इत्यादिः. उक्तलक्षणकं सुषुप्तं तामसो अन्तःकरणवृत्तिविशेषः स्थानं यस्य सः सुषुप्तस्थानः. एकीभूतः सम्परिष्वक्तः जीवाविनाभूतः. **''सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति''**(बृहदा.उप.४।३।३२) इतिश्रुतेः. प्रज्ञानानि तत्-तदिन्द्रियजन्यानि ज्ञानानि, प्रकृष्टं ज्ञानं यैः तानि इन्द्रियाणि वा प्रज्ञानानि तेषां घनः पिण्डीभावो यस्माद् असौ **प्रज्ञानघनः**. **''एतत् सर्वं परे देवे मनसि एकीभवति''**(प्रश्नोप.४।१) इति प्रश्नश्रुतेः. स्वापे सर्वेन्द्रियाणां मनसि एकीभावात् तस्य च निद्राप्रयुक्तत्वात् तस्याश्च विकल्पबुद्धिबीजरूपायाः प्राज्ञे अविनाभावेन स्थितत्वेन तन्नियामकत्वाद् अस्मादेव प्रज्ञानानां घनत्वम् अतः प्रज्ञानघनः. एवकारेण स्वरूपव्यतिरिक्ततया सर्वज्ञानं निवारितम्. आनन्दमयः इति. पूर्वोक्तपादद्वयापेक्षया आनन्दप्रचुरः. वक्ष्यमाणसर्वेश्वरत्वादिब्रह्मगुण-सारत्वात्, ब्रह्मलोकत्वाच्च, **''एष ब्रह्मलोकः सम्राड्''** (बृहदा.उप. ४।३।३२) इतिश्रुतेः. नतु[७] असौ परमानन्दः, गणितानन्दत्वात्. नच एवम् ईषद्दुःखसत्ता शङ्क्या. दुःखस्य द्वैतानुभवकृतत्वेन अत्र च तदननुभवस्य वक्ष्यमाणत्वेन अत्र तदसिद्धेः. आनन्दमयत्वे गमकमपि आह हि यस्मात् **आनन्दभुक्**. यदि आनन्दमयो न स्याद् पूर्वदुःखभुगपि स्यात्. भोगे द्वारम् आह **चेतोमुखः** इति. केवलबोधलक्षणं स्वभिन्नग्राहकाकारेण अपरिणतं चेतः चित्तं मुखम् आनन्दोपलब्धिद्वारम् अस्य इति चेतोमुखः. विश्व-तैजसयोः भूतभविष्यदादि-ज्ञातृत्वेऽपि द्वैतदर्शित्वाद् अस्य च तदभावात् प्राज्ञः. सो अयं तृतीयः पादो अंशः.

स्वरूपम् उक्त्वा तस्य माहात्म्यज्ञापनाय आह **एष सर्वेश्वरः** इत्यादि.

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।।६।।

स्वरूपावस्थत्वात् सर्वस्य भेदजातस्य प्रेरकत्वेन तुरीयवद् ईशिता सर्वेश्वरः. स्वरूपावस्थता च अद्वैतदर्शित्वेन मोहाभावाद् ज्ञेया. तद् आह **सर्वज्ञः** इति. सर्वेषां भेदानां स्वाव्यतिरेकेण ज्ञाता सर्वज्ञः. एतज्ज्ञापनाय आह **अन्तर्यामी** इति. अन्तः अनुप्रविश्य नियामको अन्तर्यामी. सर्वजगज्जनकत्वाद् **योनिः** उत्पत्यधिकरणं सर्वस्य. एतस्यैव सर्वेश्वरादिरूपतायां नियामकं रूपम् आह **प्रभवाप्ययौ** उत्पत्ति–प्रलयौ **भूतानां हि** यस्माद् अतः तद् इह न. तस्याः श्रुतेः शारीरपरत्वात्. परिष्वङ्गश्रुत्या तथा निर्णयात्. माण्डूक्ये शारीरस्य अप्रस्तुतत्वेन अत्र तदभावात्. [१]नच अत्र शारीराव्यतिरिक्तत्वम्. परिष्वङ्गश्रुतेः[१]. ‘‘**तद्यथा प्रियया स्त्रिया**’’(बृहदा.उप.४।२।२१) इति दृष्टान्तकोपप्रसक्त्या तत्र उपचारस्य अशक्यवचनत्वात्. ‘‘**सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः भेदेन**’’(ब्रह्मसू.१।३।४२) इति अधिकरणे व्यासपादैरपि भेदस्यैव निश्चायनात्. सजातीयतामात्रं परं शारीरे श्रुत्यन्तरेभ्यो अवसीयते. तत्साजात्येन चेद् अत्र एकत्वादिकम् अनया युक्त्या प्रतीयते इति अङ्गीक्रियते, तर्हि ईदृशस्य परोक्षप्रत्ययस्य शब्दादेव सिद्धेः कृतं तया इति.

गौडपादकारिकाः

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ।।१।।
दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञः त्रिधा देहे व्यवस्थितः ।।२।।

दक्षिणाक्षिमुखे इति श्लोकस्तु सर्वज्ञत्वसमर्थनाय. तथात्वं च अस्मदादिदेहे एवं स्थित्वा अस्मदादीन् एकदेशाभिमानिनो अविगणय्य अस्मदाद्यधिष्ठितैरेव इन्द्रियैः सर्वानुभवात्. इदं यथा तथा उपपादितं द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां ‘‘**स सर्वधीवृत्यनुभूतसर्वः**’’(भाग.पुरा.२।१।३९) इति अत्र. दक्षिणाक्षिण स्थितिकथनन्तु अस्य इन्धत्वबोधनार्थम्. ‘‘**इन्धो ह वै नाम योऽयं दक्षिणेक्षन्पुरुषः**’’(बृहदा.उप.४।२।२) इति ‘‘**एष एव इन्द्रो यो अयं दक्षिणेक्षन्पुरुषः**’’(   ) इत्यादिश्रुतेः. इन्धो दीप्तिगुणः. एतेनापि शारीराद् भिन्नत्वं स्फुटति. ‘‘**गुहां प्रविष्टौ**’’(कठोप.३।१) इतिश्रुत्या तस्य हृदि

स्थितिकथनात्. कूर्चब्राह्मणे च ‘‘**इन्धो ह वै नाम**’’(यथोक्त) इति उपक्रम्य ‘‘**तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्य प्राचीदिक् प्राञ्चः प्राणः**’’(बृहदा.उप.४।२।३) इत्यादिना सर्वासां दिशाम् एतत्प्राणत्वकथनाच्च. अन्यथा दैहिकप्राणैरेव भोगनिर्वाहः एतत्कथनवैयर्थ्यापत्तेः. शारीराद् आत्मनो अस्य प्रविविक्ताहारत्व-कथनवैयर्थ्यापत्तेश्च. अतएव च स्वतो भेदानभ्युपगमोऽपि अकिञ्चित्करः इति ज्ञेयम्. ‘‘**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**’’(श्वेता.उप.६।११) इतिश्रुतिस्तु ब्रह्माभिप्रायैव. गूढत्वकथनात् ‘‘**अविभक्तं च भूतेषु**’’(भग.गीता १३।१६) इति स्मृतिरपि तथा. ‘‘**अनादि मत्परं ब्रह्म**’’(तत्रैव १३।१२) इति उपक्रमात्. ‘‘**क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु**’’(तत्रैव १३।२) इत्यपि तथा. सर्वक्षेत्रास्मत्पदाभ्याम्. यदि च सर्वक्षेत्रस्थः एकः क्षेत्रज्ञः शारीरः स्यात् तर्हि चक्षुरादिनियन्तुः दृष्ट्रभेदाभ्युपगमवद् इदानीमपि सर्वक्षेत्रेषु स्वाभेदम् अभ्युपगच्छन् तद्दृष्टस्वदृष्टवत् पश्येत् सर्वज्ञश्च इदानीं स्याद् इति अन्यत्र विस्तरः. अतो अयं श्लोको विश्वादीनाम् अस्मदादिदेहेषु स्थितिज्ञापनार्थएव नतु अनुभवप्रदर्शनार्थः इति दिक्.

अस्य एकत्वशुद्धत्वेतु ब्रह्मत्वादेव सिद्ध्यतः. सर्वात्मकत्वाच्च असङ्गत्वं पर्यायेण अस्य त्रिस्थानत्वाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तम् अतो विरुद्धधर्माश्रयत्वं लौकिकयुक्त्याद्यगोचरत्वं च सिद्ध्यति. अग्रिमपादद्वयं च तैजस-प्राज्ञरूपेणाऽपि कार्यार्थं स्थितिबोधनाय. तत्र ‘‘**मनोमयोऽयं पुरुषः**’’(बृहदा.उप.५।६।१) ‘‘**देहं मनोमात्रम्**’’(भाग.पुरा.११।२३।५०) इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु मनसो जीवलिङ्गत्व-कथनात् तस्याऽपि अन्तःस्थित्वा मानोरथिकादिवृत्तीनां ज्ञानार्थं तैजसः इति. ‘आकाशा’दिपदं च आनन्दभोगाय. हार्दाकाशे मिथुनीभावार्थम्. सदीति अन्तर्यामिरूपेण स्थित्यर्थम्. यद्वा दक्षिणाक्षिसहितं मुखं तत्र स्थितः. जाग्रत्यासन्यरूपेणाऽपि स्थितिज्ञापनाय ‘मुख’पदम्. अग्रिमपादयोः एकैकस्य स्थानद्वयकथनाद् अत्र एवं व्याख्यानेऽपि अदोषः. तथा सति अन्तः इति शरीरान्तः तद् इन्द्रियरूपेण स्थित्यर्थम्. आकाशः इति शरीरान्तः आकाशे पञ्चप्राणरूपेण सञ्चारार्थम्. अतः एते अपरब्रह्मात्मकाएव अत्र अभिप्रेयन्ते, नतु शारीरात्मकाः. शारीरे स्थितिमात्रेण शारीरत्वाभावात्. ॐकारपादत्वात् ‘‘**एतद् वै सत्यकाम परं**

च अपरं च ब्रह्म यद् ॐकारः''(प्रश्नोप.५।२) इति श्रवणात्. अभिमानइव अनभिमानेऽपि तदात्मकतयैव भोगस्य[१०] अबाधात्. अन्यथा ''**ऋतं पिबन्तौ**'' (कठोप.३।१) इतिश्रुतिविरोधात्. अनशनश्रुतेः जीववद् अशननिषेधकत्वात्, अन्यथाविरोधात्. अतः प्राज्ञस्य शारीरत्वम् अङ्गीकृत्य स्मरणाख्यव्यापारोपरमे तस्य हृदि प्राणात्मना अवस्थाने प्राणस्य व्याकृतत्वेन अस्याऽपि व्याकृतत्वम् आशङ्क्य देशकालविशेषाभावाद् अव्याकृतत्वसमर्थनं मुधैव, व्यष्टिरूपतायाः अत्र अनभिप्रेतत्वात्. तथा अव्याकृतस्य 'प्राण'शब्दं वाच्यत्वाय ''**प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः**''(छान्दो.उप.६।८।२) इति श्रुतिम् उपन्यस्य ''**सदेव सौम्येदम्**'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति प्रकृतत्वात् सद्ब्रह्म 'प्राण'शब्दवाच्यम् इति आशङ्काऽपि मुधैव. मूलसतः प्रकृतत्वेऽपि त्रिवृत्कृतस्य आपोमयस्य कार्यस्य ''**आपोमयः प्राणः**''(छान्दो.उप.६।५।४) इतिश्रुत्या प्राणत्वनिश्चयात्, तस्य प्रकृतापरामर्शित्वेन तदनुदयात्. अथ स्वापे सर्वेषां प्राणे प्रश्रयणात् प्राज्ञस्य च स्वापसम्बन्धित्वात् तथा अवस्थानं विभाव्यते. तदापि असङ्गतम्. ''**सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति**''(छान्दो.उप.६।८।१) इत्यादिश्रुत्या तस्य सद्रूपेण अवस्थानस्य निश्चयात्. श्रुत्यन्तरे सतो या 'प्राण'शब्दवाच्यता सा तु परब्रह्मरूपत्वेन बीजत्वादेव. नतु सबीजत्वात्, तदतिरिक्तस्य बीजस्य अभावात्. ''**नेति नेति**''(बृहदा.उप.२।३।६) इत्यादीनाम् एतावत्त्वम् इत्यादिरूपेण कथननिषेधपरत्वात्. ''**न सत्तन्नासदुच्यते**''(भग.गीता १३।१२) इत्यस्य च लौकिकसदसत्कोटिनिषेधपरत्वाद्, अन्यथा आकाशात्मादीनामपि निषेधः स्यात्. तल्लिङ्गाधिकरणादिविषयवाक्येषु आकाशादिरूपेणाऽपि बीजतायाः उक्तत्वात्. ''**नासदासीन्नो सदासीद्**''(ऋक्संहि.१०।१२९।१) इत्यत्र कार्यैकोन्नेय-मायादिनिषेधपूर्वकम् ''**आनीदवातम्**''(ऋक्संहि.१०।१२९।२) इत्यादिना बीजरूपतदेकसत्ताकथनेनाऽपि तथानिश्चयात्. नच सतो बीजत्वपरब्रह्मत्वा-भ्युपगमे ज्ञाननाश्यबीजाभावाद् ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः, अहं-ममाभिमानस्य सकारणस्य ज्ञाननाश्यस्य सत्वेन ज्ञानसार्थक्योपपत्तेः. ''**अक्षरात् परतः परः**'' (मुण्ड.उप. २।१।४) इत्यादितु योनित्वानङ्गीकारविषयम्.

तथाच इदं सिद्ध्यति. सर्वपिण्डात्मा विश्वः, सर्वेन्द्रियात्मा तैजसः,

सर्वमनआत्मा सर्वप्राणात्मा वा प्राज्ञः. एवम् [११]भावश्च अनभिमानेन इत्येवंरूपः परमात्मैव ज्ञेयो नतु शारीरः. **''सः विश्व-तैजस-प्राज्ञस्तुरीयः इति वृत्तिभिः अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैः भगवान् परिभाव्यते''**(भाग.पुरा.१२।११।२२) इति द्वादशस्कन्धवाक्यात्. अर्थस्तु अर्थात्मना स्थितिरथवृत्तिः तया स्थित्या भगवान् विश्वः परिभाव्यते स्वरूपविचारकैः चिन्त्यते. एवम् इन्द्रियात्मतास्थित्या तैजसः. आसमन्तात् शेरते सर्वेन्द्रियाणि अस्मिन् इति आशयो मनः. **''एतत् सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति''**(प्रश्नोप.४।२) इतिश्रुतेः. प्राणो वा आशयः. **''तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनम् अलब्ध्वा प्राणमेव उपश्रयत''** (छान्दो.उप.६।८।२) इतिश्रुतेः. अतः आशयात्मना स्थित्या प्राज्ञः, ज्ञानात्मना स्थित्या तुरीयः. **''अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः''**(ब्रह्मसू.१।४।२२) इति मतम् एवं सिद्ध्यति. **''आत्मा चतुष्पाद् ...विश्वो वैश्वानरः तैजसो हिरण्यगर्भः ... प्राज्ञः ईश्वरः...तुरीयः ईश्वरग्रासः स्वयमीश्वरः''** (नृसिंता.उप.१।१) इति नृसिंहतापिनीये श्रवणाच्च. जीवस्य विश्वादिरूपतातु उपासनेन विद्यया वा अभिमाननिवृत्तौ जीवन्मुक्तदशायां ब्रह्मभावाविर्भावात्. **''यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तदभवद् अथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्''** (बृहदा.उप. १।४।१०) इतिश्रुतेः. नतु इदानीमपि. **''मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्. तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः, मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन् नानार्थदृक् पुमान्''**(भाग.पुरा.११।१३।२८) इति एकादशस्कन्धे भेदनिर्देशात्. प्राज्ञसम्परिष्वङ्गान्वारोहयोः श्रवणाच्च. नृसिंहतापिन्या त्रिशारीरारोपेण साम्यम्[१२] आपाद्य अभेदभावनाकथनाच्च. यत्तु, स्थूलसूक्ष्म-कारणसमष्ट्याभिमानित्वेन विश्वादिरूपताव्युत्पादनं तत्तु उक्तविरोधादेव उपेक्ष्यम्. नच व्यष्ट्यभिमान-समष्ट्यभिमानाभ्यां [१३]भेदाभेदयोः उपपत्तेः न विरोधः इति वाच्यम्. **''यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते''**(बृहदा.उप.१।४।९) इति सर्वभावस्य विद्याजन्यत्वश्रवणात् तस्य अभिमानिकत्वे विद्यायाः बन्धकत्वापत्तेः. तथा सति **''विद्यया अमृतम् अश्नुते''**(ईशा.उप.११) इति श्रुतिविरोधापत्तेः. वामदेवादीनां च अतिबद्धत्वापत्त्या जीवन्मुक्त्युच्छेदापत्तेश्च.

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः त्रिधा भोगं निबोधत ।।३।।
स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ।।४।।

"**विश्वो हि स्थूल**"(३) इत्यादिश्लोकद्वयन्तु उक्तार्थम्.

त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ।।५।।

"**त्रिषु धामसु यद्भोज्यम्**"(५) इति श्लोकस्तु भोग्य-भोक्त्रोः अपरब्रह्मात्मकत्वज्ञाने "**स सर्वधीवृत्यनुभूतसर्वः**"(भाग.पुरा.२।१।३१) इतिरीत्या तस्यैव भोक्तृत्वज्ञाने च सति स्वस्य अभिमानत्यागेन आसक्त्यभावात् तज्जन्य-सुखदुःखभागी न भवति इति एतद्बोधनाय.

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणः चेतोंऽशून् पुरुषः पृथक् ।।६।।

"**प्रभवः सर्वभूतानाम्**"(६) इति श्लोकस्तु सन्मायाभेदेन या द्विधा सृष्टिः तत्सङ्ग्रहाय. तत्र पादत्रयेण सती उच्यते, शेषेण द्वितीया. अतएव पुरुषः कर्त्ता 'पृथक्' पदं च उक्तम्. तत्र प्रथमा "**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**" (छान्दो.उप.६।२।१) "**ब्रह्मैवेदम् आत्मैवेदम् अग्र आसीद्**"(बृहदा.उप. १।४।१०) इत्यादिना उक्ता. द्वितीयातु "**न तत्र रथा न रथयोगा**" (बृहदा.उप. ४।३।१०) इत्यादिना उक्ता. "**विद्धि मायामनोमयम्**" (भाग.पुरा.११।७।७) इति पौराणिकवाक्योक्ता च.

तयोरेव भेदाः "**विभूतिं प्रसवम्**"(७) इत्यादिना सार्द्धद्वयेन समुच्चिताः.

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नम् आयासरूपेति सृष्टिरन्यैर् विकल्पिता ।।७।।

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः इति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ।।८।।
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थम् इति चापरे ।

तत्र स्वरूपे कारणे प्रयोजने च भेदम् उक्तार्द्धेन सङ्गृह्णाति

देवस्यैष स्वभावोऽयम् आप्तकामस्य का स्पृहा ।।९।।

इति.

तेन क्रीडतो अयं स्वभावो नतु स्पृहया करणम्, कामस्य अभिध्यारूपत्वात्, अभिध्योपदेशसूत्रे तथा निर्णयात्. सृष्टिश्च लीलैव. लीला कैवेल्यसूत्राद् ज्ञेया. कालादिश्च स्वयमेव, ''**एकमेवाद्वितीयम्**'' (छान्दो.उप. ६।२।१) इत्यादिश्रुतेः. यत्तु सर्वभावानां विश्व-तैजस-प्राज्ञानां प्रभवः उत्पत्तिः इति व्याख्यानं, तद् असत्. अस्य श्लोकस्य ''प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'' इति एतत्परिकरत्वात्. तत्र च योनित्वाद् भूतानाम् उत्पत्तिप्रलयरूपः प्राज्ञो भवति इत्यर्थकव्याख्यानात्. प्राज्ञोत्पत्याकाङ्क्षानुदयेन अस्य तद्विरुद्धत्वात्. अस्य स्वतन्त्रत्वेतु अत्र एतस्मिन् यथोक्ते अर्थे एते श्लोकाः भवन्ति इति प्रतिज्ञा-व्याख्यानविरोधात्. श्लोकसङ्ग्राह्यार्थे मूलवाक्ये तदुत्पत्यश्रवणात्. ''वन्ध्यासुतो न तत्वेन'' इति अग्रिमप्रकरणस्थन्तु अन्तरासृष्टिपरम्. सिद्धे शास्त्रतः सत्वे प्रतीयमानस्य जन्मादेरेव मायिकत्वात्. अतएव च वक्ष्यति ''**सर्वं चेह तु सर्वदा. यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति**'' इति तत् तत्र मया विवेच्यम्. अतः ''**चेतोंऽशून्**'' इत्यस्य व्याख्याने मायामयत्वनिवेशः उचितो नतु सर्वत्र इति दिक्. एवञ्च 'सृष्टिचिन्तकाः'इत्यस्य व्याख्याने परमार्थचिन्तकानां सृष्टौ न आदरः इति यद् उक्तं तदपि आपातरम्यमेव. ''**स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता**'' (गौडपा.का.७) इति अत्राऽपि तथा कल्पिता नतु तादृश्येव इति अर्थस्याऽपि सुवचत्वात्. ''**इन्द्रोमायाभिः**'' (बृहदा.उप.२।५।१५) इतिश्रुतेः मायिकदर्शन-परत्वेन [१४]पुरुषभवनपरत्वाभावात्. मधुब्राह्मणेन एतत्पूर्वार्द्धेन च तथानिश्चयाद् इति उपपादितम् अन्यत्र. अतो 'देवस्यैषः'इति अर्द्धं सर्वेषां सङ्ग्राहकमेव नतु कस्याऽपि दूषकम् इति दिक्.

प्रकृतम् अनुसरामः.

क्रमप्राप्तं चतुर्थं पादम् आह **नान्तःप्रज्ञम्** इत्यादिना.

न अन्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न उभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं न अप्रज्ञम्. अदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम् अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोशमं शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥७॥

पादान्तरस्थाः सप्ताङ्गत्वादयो धर्माऽपि एतदीयाएवेति अस्य दुर्लक्ष्यत्वं बुद्ध्वा तेभ्यो विवेक्तुं साधारणान् कांश्चिद् धर्मान् निषेधन् तत्स्वरूपं निर्दिदिक्षति. तेन ''अप्रतिषिद्धम् अनुमतं भवति'' इति न्यायेन शेषाभ्यनुज्ञा फलति. तत्र तैजस–विश्वाभ्याम् अस्य विवेकाय **न अन्तःप्रज्ञं बहिःप्रज्ञम्** इति. बहिः अन्तश्च विकल्पबुद्धिम् अयं न जनयति इति ताभ्याम् अयं विविक्तः इति अर्थः. **न उभयतः प्रज्ञम्** इति सर्वज्ञत्वे विवक्षिते प्रज्ञायाः विषयप्रमाणाधीनताप्रतिषेधः. **''न तस्य कार्यं करणं च विद्यते''** (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेः, **''सर्वेन्द्रिय–गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्''** (भग.गीता.१३।१४) इत्यादिभ्यश्च. तेन सप्ताङ्गैकोनविंशतिमुखपदाभ्यां[१५] कार्यं करणं च यत् पूर्वयोः उक्तम् आसीत् तद् अत्र एतद्रूपमेव नतु अस्माद् भिन्नम्, सच्चिदानन्दघनत्वेन तत्तद्रूपेण स्वस्यैव भासमानत्वात्. तेन करणादिकृता अस्य प्रज्ञानेति प्राज्ञविलक्षणा अस्य सर्वज्ञतापि बोधिता. तस्य ज्ञानस्य विकल्पबुद्धिरूपताप्रतिषेधाय **न प्रज्ञम्** इति. प्रकृष्टा बीजवद् अव्याकृताज्ञा बुद्धिः यस्मिन् इति प्रज्ञः तद्विलक्षणो अयम्. **न अप्रज्ञम्** इति अचैतन्यप्रतिषेधः. **न प्रज्ञानघनम्** इति पूर्ववत् प्राज्ञकार्यप्रतिषेधः. **अदृष्टम्** इति चक्षुर्गम्यत्वस्य प्रतिषेधः. **अव्यवहार्यम्** इति इन्द्रियान्तरगम्यत्वस्य. **अग्राह्यम्** इति कर्मेन्द्रियगम्यत्वस्य. **अलक्ष्यम्** इति अनुमानगम्यत्वस्य. **अलिङ्गम्** इति उपमानगम्यत्वस्य. **अचिन्त्यम्** इति ध्यानगम्यत्वस्य. **अव्यपदेश्यम्** इति लौकिकशब्दगम्यत्वस्य.

एवं निषेधमुखेन सर्ववैलक्षण्यं ज्ञापयित्वा तत्तद् माहात्म्यम् आह **एकात्मप्रत्ययसारम्** इति. एकात्मप्रत्ययैः ज्ञानिभिः सारो अनुसरणं यस्य. तैः अनुसरणीयः इति अर्थः. प्रपञ्चस्य विस्तारोपशमो यस्मात् सः **प्रपञ्चोपशमः** तम्. एतस्य परिच्छेदत्रयातीतत्वेन तदतिरिक्तस्य विस्तारस्य अभावात् तथा. अतएव **शान्तम्** अविक्रियम्. **शिवं** कल्याणरूपम् आनन्दरूपत्वात्. **अद्वैतं** भेदविकल्पराहित्यात्. एतादृशं चतुर्थं मन्यन्ते नतु एतादृशएव सः. ''**यतो वाचो निवर्तन्ते**''(तैत्ति.उप.२।४,५) इत्यादिषु वाङ्मनोगोचरातीतत्वश्रवणाद् उक्तरूपत्वेनापि मनो-वाग्-गोचरतानिषेधाय एवम् उक्तम्. ननु यदि एवं तदा निरूपणं वृथैव इति शङ्कानिरासाय आह ''**स आत्मा स विज्ञेयः**'' इति सः पूर्वोक्तरीतिकः आत्मा विज्ञेयः, आत्मत्वतो न वैयर्थ्यम् इति अर्थः. तावता श्रुत्यन्तरोक्तं वरणैकलभ्यत्वमेव स्फुटीभवति. अतएव श्रुत्यन्तरे ''**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्**'' (केनोप.२।३) इति उक्तम्. ''**अन्यदेव तद् विदिताद् अथो अविदितादधि**'' (तत्रैव १।४) इति च.

केचित्तु 'सर्व'शब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात् 'सर्व'शब्दानभिधेयत्वम् इति विशेषनिषेधमुखेन तुरीयनिर्देशो अत्र इति आहुः. तद् न, अत्र अशेषविशेष-निषेधादर्शनात्. नापि 'सर्व'शब्दानभिधेयत्वम् ''**सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति**''(कठोप.२।१५) इत्यादिश्रुतिविरोधात्. नापि शब्दप्रवृत्तिनिमित्त-शून्यत्वम्, उक्तश्रुत्यनुरोधेन स्वरूपस्यैव तत्त्वेन आदरणीयत्वात्. सर्वेषां पर्यायतापत्तिस्तु अभीष्टौ औपनिषदानाम्, तल्लिङ्गाधिकरणादिषु तथा निर्णीतत्वात्.

व्यवहारस्यतु शक्तिसङ्कोचादेव सिद्धेः. एवं सति शून्यं तर्हि इत्यादिना उक्तौ शङ्कापरिहारावपि मुधैव. अतएव च प्राणादिसर्वासद्विकल्पास्पदत्वेऽपि सदसतोः असम्बन्धेऽपि अनया सरण्या शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावसाधनेऽपि न तत्सिद्धिः, सादृश्यस्य अवश्यवक्तव्यत्वाद्, अन्यथा आरोपस्यापि असिद्धेः, अतिप्रसङ्गापत्तेश्च. मृगतृष्णायास्तु प्रौढं शुक्लं सौरं तेजएव रजोवायुसम्भिन्नम् आस्पदं न आकाशः. तथा सति प्रौढतेजो अभावेऽपि तत्प्रतीतिः स्यात्.

तदानीमपि आकाशस्य अनपेतत्वात्. नीलस्तु आकाशएव स्वस्वभावात् प्रतीयते, ''आकाशं पश्यामि'' इति प्रतीतेः इति अन्यत्र विस्तरः. अतएव मालिन्याद्यारोपोऽपि तत्र सङ्गतः. मायादौतु सृष्टिरेव अन्तरा, स्वप्नवत् तस्या अपि शक्यवचनत्वात्. अन्यख्यातिवादे साकारायाः बुद्धेरेव तदुपायेन निर्गमाच्च. अग्रिमप्रकरणे ''अनिश्चिता यथा रज्जुः'' इति श्लोके सादृश्यप्रयुक्तभ्रमस्यैव प्रकरणकृताङ्गीकाराद् इतरविधस्य तदनभिप्रेतत्वाच्च. अतः सर्वाकारः तुरीयः सिद्धः. अतएव चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयोक्त्यनन्तरं तदकथने अन्यत्वसिद्धावपि एतत्सलक्षणो विलक्षणो वा इति संशयानपायात् तज्ज्ञानासिद्धेः न निषेधानर्थक्यमपि. एवं सति त्रिषु सन्ततस्य तुरीयस्य इतरवैलक्षण्यबोधनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कार्यनिषेध-विज्ञानसमकालम् इतरकोटिं निवर्त्तयत् प्रमाणान्तरं व्यापारान्तरं च अनपेक्ष्य शाब्दं जनयति नतु अपरोक्षम् ''**यमेवैषः**''(कठोप.२।२२) इति ''**धातुः प्रसादाद्**''(महाना.उप.१०।१) इति च श्रुतेः तस्य प्रमेयाधीनत्वात्.

अत्र एते श्लोकाः भवन्ति

निवृत्तेः सर्वदुःखानाम् ईशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ।।१०।।

एतदग्रिमाः श्लोकास्तु पूर्वसमाएव. तत्र ''**निवृत्तेः सर्वदुःखानाम्**'' (१०) इति श्लोकः तुरीयस्य स्वतः ईश्वरत्वज्ञापनार्थः. सर्वदुःखानां निवृत्तिरूपस्य प्राज्ञस्याऽपि ईश्वरः इति अर्थः. यद्वा, सर्वदुःखनिवृत्तेः प्रभुः तन्निवर्तकः इति अर्थः. तत्र हेतुः **ईशानः** इति. ''**अथ तुरीय ईश्वरग्रासः स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशः**''(   ) इति तापनीयश्रुतेः. विश्वादीनां त्रयाणाम् एतद्रूपता ज्ञापनाय 'अद्वैतः' इति उत्तरार्द्धम्. यत्तु ईशानः इति अस्य व्याख्यानं प्रभुः इति कैश्चिद् उक्तम् तत्तु अगतिकगतिरूपत्वादेव उपेक्ष्यम्.

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः ।।११।।

'**कार्यकारणबद्धौ**'(११) इति तु तुरीयस्य निर्व्यापारत्वाय विश्वादीनां बहिःप्रज्ञादिजननव्यापृतत्वबोधनपरम्, तेषां मायायुक्तत्वात्.

नाऽऽत्मानं न परांश्चैव न सत्यं चापि नानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक् सदा ।।१२।।

''**न आत्मानं न परान्**'' इति तु प्राज्ञविलक्षणसर्वज्ञताबोधनपरम्. न संवेत्ति इति तु तुरीयवत् संवेदनव्यतिरेकाय. अन्यथा ''**एषः सर्वज्ञः**'' (सुबालोप. ५।१५) इति पूर्वोक्तश्रुतिविरोधापत्तेः. सप्ताङ्गत्वादीनाम् अप्रतिषिद्धत्वबोधनाय ''**तुर्यं तत्सर्वदृक् सदा**'' इति. सदा सर्वरूपं दृक्रूपं च इति अर्थः. ''**इदं सर्वं यदयमात्मा**''(बृहदा.उप.२।४।६) ''**सर्वं ह्येतद्ब्रह्म**''(माण्डू.उप.२) ''**अदृष्टो द्रष्टा**''(बृहदा.उप.३।७।२३) ''**नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोप**''(तत्रैव ४।३।२३) इत्यादिश्रुतेः.

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यम् उभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ।।१३।।

''**द्वैतस्य अग्रहणम्**''(१३) इति तु पूर्वोक्तोपपादनार्थम्.

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ।।१४।।

'**स्वप्ननिद्रायुतौ**'**(१४)** इति तु स्वोक्तप्रामाण्याय वेत्तॄणां बोधानुवादः.

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रातत्त्वम् अजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदम् अश्नुते ।।१५।।

'**अन्यथा गृह्णतः**'**(१५)** इति तु तुरीयप्राप्तीच्छूनां तत्प्राप्त्यधिकार-सम्पत्तिबोधनाय.

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते ।
अजम् अनिद्रम् अस्वप्नम् अद्वैतं बुध्यते तदा ।।१६।।

'**अनादिमायया**'**(१६)** इति तु अधिकारे जाते ततो नान्तरीयके स्वस्वरूपज्ञाने जाते तुरीयं पूर्वोक्तरूपं जानाति इत्येवं परम्. तत्राऽपि '**यदा**' इति

पदाद् एतद्यत्नेन प्राप्तिः किन्तु **''वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः''** (मुण्ड.उप. ३।२।६) इति श्रुतेः परान्तकालः इति सूच्यते. अन्यथा पूर्वश्लोकेन अस्य गतार्थत्वाद् एतं न वदेत्.

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रम् इदं द्वैतम् अद्वैतं परमार्थतः ।।१७।।

'प्रपञ्चो यदि' इति तु भिन्नाधिकारिणां विलम्बासहिष्णूनां विकल्प–बुद्धिनिवृत्तये सर्वत्र ब्रह्मस्फूर्तये च द्वैतस्य अन्तरासृष्टिरूपताबोधनपरम्.

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशाद् अयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।।१८।।

''विकल्पो विनिवर्तेत'' इति तु [१८]पूर्वोक्तस्यैव पोषणाय. कल्पितो विकल्पो मानसो यदि केनचिद् उपासनेन योगादिसाधनेन मा विशेषतो निवर्तेत तदा शुद्धे चेतसि [१९]उपदेशाद् ज्ञाते तुरीये अयं वादः भेदापादकत्वाद् द्वैतरूपो न विद्यते. सर्वस्य तदभिन्नत्वे ज्ञाते भेदस्यापि तदनतिरेकात् सोऽपि पूर्वबुद्धरूपाद्वैतो ब्रह्मैव भवति इति अर्थः. एवम् एते नव बोध्याः.

प्रकृतम् अनुसरामः. एवं **''ॐ इत्येतदक्षरम्''**(माण्डू.उप.१) इति आरभ्य **''सः आत्मा सः विज्ञेयः''**(तत्रैव ७) इत्यन्तेन सर्वस्य वेदस्य ब्रह्मवाचकत्वे बीजम् उपदिश्य ॐकारस्य ब्रह्मवाचकत्वेन आन्तरीयत्वेन ब्रह्मात्मकत्वम्. बीजम् उपदेष्टुम् आत्मोङ्कारयोः सादृश्यम् उपपादयति **''सो अयम् आत्मा''**(तत्रैव ८) इत्यारभ्य **''एवम् ॐकार आत्मैव''**(१२) इत्यन्तेन.

सो अयम् आत्मा अध्यक्षरम् ॐकारो अधिमात्रम्. पादा
मात्राः. मात्राश्च पादाः. अकार उकारो मकारः इति ।।८।।

सो अयं पूर्वप्रकृतः चतुष्पादाः **अध्यक्षरं** ब्रह्माधिकृत्य वर्तते. **ॐकारो**

मात्राः अधिकृत्य तासु वर्तते इति एकं सामान्यम्. नच आधेयत्वे व्यापकत्वहानिः, विरुद्धधर्माधारत्वेन उपपत्तेः. अन्तस्तत्तद्धर्माद्यधिकरण-विषयवाक्येषु आधेयतायाः अङ्गीकारात्. अतो न दोषः. अपरम् आह **पादाः मात्राः मात्राश्च पादाः** इति. तत्राऽपि त्रयाणां पादानां तिसृणामेव च मात्राणां परस्परसाधर्म्यम् इति ज्ञापयितुम् आह **अकार उकारो मकारश्च** इति.

एवं प्रतिज्ञाय व्याकरोति ''**जागरितस्थानो वैश्वानरो अकारः प्रथमा मात्रा आप्तेरादिमत्वाद्वा**'' इति.

जागरितस्थानो वैश्वानरो अकारः प्रथमा मात्रा आप्राप्तेः आदिमत्वाद् वा आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ।।९।।

''**अकारो वै सर्वा वाग्**''(ऐत.उप.३।६।७) इति श्रुत्यन्तराद् अकारो यथा सर्ववाक् प्रपञ्चव्यापी तथा वैश्वानरोऽपि, व्याहृत्युक्त-सप्तलोकाङ्कत्वात् सर्वरूपप्रपञ्चव्यापी. यथा वा अकारः सादिः तथा वैश्वानरोऽपि इति तस्माद्वा सामान्याद् अनयोः वैश्वानराकारयोः ऐक्यं व्यपदिश्यते इति अर्थः. एवं व्यापदेशिकम् ऐक्यम् उक्त्वा तथोपासनायां फलम् आह ''**आप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद**'' इति. **आदिः** इति महतां प्रथमः इति अर्थः. शेषं स्फुटम्. यत्तु अभिधानाभिधयोः वाङ्मात्रत्वेन ऐक्यं वदन्ति तत्तु श्रुतौ साधर्म्यकथनात् केन साम्येन इति एवं स्वयं व्याख्यानाच्च वदद्व्याघात-साधकमिति तैरपि उपेक्ष्यम् इति अलम्. एवम् अग्रेऽपि ज्ञेयम्.

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षाद् उभयत्वाद् वा उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति समानश्च भवति नास्य अब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद ।।१०।।

उत्कर्षाद् इति यथा अकारोपरि वर्तमानत्वेन उकारः उत्कृष्टः तथा विराडुपरि वर्तमानत्वेन तैजसो हिरण्यगर्भः उत्कृष्टः तस्माद् उत्कर्षाद् इति अर्थः. **उभयत्वाद्** इति मध्यस्थत्वाद् इति अर्थः. **उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम्** इति. ज्ञानपरम्परां वर्द्धयन् उत्कृष्टां करोति इति अर्थः. **समानश्च भवति** इति तुल्यदर्शित्वात् शत्रूणाम् अप्रद्वेष्यो भवति इति अर्थः.

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारः तृतीया मात्रा मितेर् अपीतेर् वा मिनोति ह वा इदं सर्वम् अपीतिश्च भवति य एवं वेद ।।११।।

मितेः इति प्रक्षेपात्. ''**डुमिञ् प्रक्षेपणे**''(पाणि.धा.पा.५।१२७५). यथा उच्चारणे मकारेण नादनिकटेन उकाराकारौ बहिः प्रेर्येते, तथा प्राज्ञेन सृष्टिदशायां विश्वतैजसो तस्माद् इति अर्थः. अपीतिः प्रलयाद् एकीभावात्. यथा ॐकारसमाप्तौ अन्त्याक्षरे मकार-उकाराकारौ लीयेते तथा प्रलयदशायां विश्वतैजसौ प्राज्ञे, तस्माद्वा इति अर्थः. ''**मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति**'' इति. बहिः प्रक्षिपन् अन्तश्च प्रवेशयन् जगत्कारणात्मा भवति इति अर्थः. अङ्गोपासनायां फलवचनं पूर्णोपासनायाः महाफलबोधनाय.

अत्र एते श्लोकाः भवन्ति

विश्वस्यात्व विवक्षायाम् आदिसामान्यम् उत्कटम् ।।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्याद् आप्तिसामान्यमेव च ।।१९।।
तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्याद् उभयत्वं तथाविधम् ।।२०।।
मकारभावे प्रज्ञास्य मानसामान्यम् उत्कटम् ।।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ।।२१।।

अत्राऽपि पूर्ववत् पञ्चश्लोकाः. तत्र ''विश्वस्य आत्वविवक्षायाम्''

इत्यादीनां त्रयाणां पूर्वार्द्धेषु पादानां मात्रत्वे विवक्षिते पूर्वार्द्धोक्तं सामान्यं स्फुटं भवति इति उच्यते. उत्तरार्द्धेषुतु मात्राणां पादत्वज्ञाने उत्तरार्द्धोक्तं [२०]सामान्यं स्फुटति इति उच्यते. तेन व्यापदेशिकमेव ऐक्यं नतु वास्तवम् इति पूर्वोक्तमेव फलति. नतु पापानां वाङ्मात्रत्वं साम्यकथनवैयर्थ्यापातात्. यत्तु, **'आत्वविवक्षायाम्'** इति अस्य व्याख्यानं **'मात्रासम्प्रतिपत्तौ'** इति उक्तं, तद् असत्, व्याख्येयश्रुतौ द्विविधोद्देश्य-विधेयभावोक्त्या द्विधावेदनस्य विवक्षितत्वेन अस्य तद्विरुद्धत्वात्, श्लोकप्रथमपादेनैव निर्वाहात् तृतीयपादवैयर्थ्यापत्तेश्च.

त्रिषु धामसु यत् तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ।।२२।।
अकारो नयते विश्वम् उकारश्चापि तैजसम् ।।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ।।२३।।

''**त्रिषु धामसु**'' इत्यादिश्लोकद्वयन्तु ''**आप्नोति ह वा**'' इत्याद्युक्त-फलानां व्याख्यानाय. ''**नामात्रा विद्यते गतिः**'' इति पादस्तु मात्रात्रयोपासनया तुरीयप्राप्तिः न भवति इति आर्थिकसमर्पणाय.

प्रकृतम् अनुसरामः. साधर्म्यद्वयम् उक्त्वा तृतीयं मुख्यं वास्तवं बीजम् आह **अमात्रः चतुर्थो अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवो अद्वैतः** इति.

अमात्रश्चतुर्थो अव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवो अद्वैत एवम् ॐकार आत्मैव संविशत्यात्मना आत्मानं य एवं वेद।।१२।।

अमात्रो नादः **चतुर्थः** तुरीयपादाभिन्नः इति अर्थः. कुतः? इति आकाङ्क्षायां हेतुगर्भाणि स्वरूपाप्रच्यवबोधकानि चत्वारि पादविशेषणानि अस्मिन् आह **अव्यवहार्यः** इत्यादि. तथाच अदृष्टाग्राह्यादि-सप्तविशेषणोक्त-धर्माभावेऽपि उक्तधर्मचतुष्टयसत्तया तत्प्रत्यासन्नत्वाच्च तदभिन्नएव इति अर्थः.

तथा उक्तं द्वादशस्कन्धे सूतेन

''समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृद्याकाशाद् अभून् नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते।।
यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्।।
ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।।
शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः''

(भाग.पुरा.१२।६।३७-४०) इति.

तथाच साक्षाद् आत्मनः सकाशाद् व्यक्तत्वेन आत्मप्रत्यासन्नो अयम्. आत्मा च अत्र परएव अभिप्रेयते, नतु शारीरः, श्रुत्यन्तरविरोधादिति उपपादितम् अधस्तात्. एवं सर्वं साधर्म्यादिकम् उक्त्वा उपसंहरति **एवम् ॐकार आत्मैव** इति. एवं नादस्य तुरीयधर्मवत्वेन मात्रान्तराणां पादान्तरसाधर्म्येण अधिष्ठेयत्वसाम्येन च ॐकारो मुख्य-गौणवृत्तिभ्याम् आत्माभिन्नः इति अर्थः. आत्माभिन्नत्वादेव अक्षराभिन्नो ज्ञेयः. तदेवं सर्वस्य [२१]वेदस्य ब्रह्मवाचकत्वे एवं बीजम् उपदिश्य सम्पूर्णोपासनायाः फलम् आह **संविशत्यात्मना आत्मानं य एवं वेद** इति. संविशति उपभुङ्क्ते. तथाच **''ब्रह्मविदाप्नोति परम्''** (तैत्ति.उप.२।१।१) इति ब्राह्मणव्याख्यानरूपायाम् ऋचि **''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता''**(तत्रैव) इति अनेन भगवदात्मक-कामाशनरूपं यत्फलम् उक्तं तदेव अत्र एवम् उक्तमिति न काऽपि अनुपपत्तिः. अत्राऽपि षट् श्लोकाः पूर्ववत् सन्ति प्रणवस्तावकाः. तत्र व्यश्नुते तदनन्तरम् इति अनेन ज्ञेयाद् अनन्तरं यत् तुरीयं तद् विशेषेण आप्नोति इति अर्थः उच्यते. शेषं स्फुटम् इति उपरम्यते.

इति श्रीमद्बालकृष्णप्रभुपदरजोभिषिक्तेन श्रीमदाचार्यचरणदासेन
पुरुषोत्तमेन विरचिता माण्डूक्यदीपिका
सम्पूर्णा.

(पाठभेदाः)

१.रोधे इति खपाठ.

२.तायामिति कपाठः.

३.चाकर इति कपाठः.

४.तत्रेति कपाठः.

५.पातेति कचिन्नास्ति.

६.नेवेति कपाठः.

७.नचासाविति खपाठः.

८.न चात्रेति कपुस्तके नास्ति.

९.श्रुताविति कपाठः.

१०.भोगस्य बाधादिति खपाठः.

११.एवं भावमानेत्यादि खपाठः.

१२.सामेति कपाठः.

१३.भेदभावनेति कपाठः.

१४.पुरुषेति खपाठः.

१५.पादेति कपाठः.

१६.अलक्षेति कपाठः.

१७.पङ्क्तिद्वयात्मकः पाठः क पुस्तके नास्ति.

१८.तस्येवेति खपाठः.

१९.उपदेशादृते इति खपाठः.

२०.पदमेतत् खपुस्तके नास्ति.

२१.वेदस्येति नास्ति खपुस्तके.

V

।। [1]वैतथ्यप्रकरणटीका ।।

अथ अखण्डाद्वयात्मज्ञान–साधनीभूत–परमात्मतत्वज्ञानोपदेशनाय उपदिष्टस्थैर्याय च जडचर्यां यादृच्छिकत्वं च उपदेष्टुम् उपदेक्ष्यमाण–ज्ञानविषयस्य आत्मनः सर्वात्मकत्वलक्षणे स्वरूपे बोधनीये तद्विरोधिनः प्रतीयमानस्य काल्पनिकस्य भेदस्य निरासाय भेदवाद्यभिमतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं प्रतिपादयिष्यन् प्रथमतः स्वाप्निकस्य मिथ्यात्वं त्रिभिः श्लोकैः प्रतिपादयति **वैतथ्यम्** इति.

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ।।१।।
अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस् तस्मिन् देशे न विद्यते ।।२।।
अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ।।३।।

उक्तवैतथ्यसिद्ध्यर्थं न्यायम् आह **अन्तः** इत्यादि. शरीरान्तःस्थानाद् इति अर्थः. **संवृतत्वेन** इति अत्रापि तथा. तथाच स्वाप्निकाः सर्वभावभेदाः शरीरान्तःस्थाः, शरीरसंवृतत्वात्. यद्–यत् संवृतं तत्–तद् अन्तःस्थम्, गृहकुम्भवत्. यद्वा. शरीरसंवृतं तच्छरीरान्तःस्थम्, शिरांत्रादिवद् इतिन्यायेन अन्तरत्वे सिद्धे तद्विरुद्ध–बाह्यत्व–महत्त्वादीनां तेषु असम्भवात्. तदद्वयाभासमानाः ते भावभेदाः वितथाः इति अर्थः. बाह्यत्वादिभानात् पक्षे हेत्वसिद्धिः हेतोः साध्यसमत्वं वा सत्प्रतिपक्षत्वं वा इति आशङ्कायां तन्निरासाय न्यायान्तरम् आह **अदीर्घत्वाद्** इति. स्वप्नदर्शनावच्छिन्नस्य कालस्य अदीर्घत्वाद् अल्पसूर्य–परिस्पन्द–परिच्छिन्नत्वाद् देशान् दूरस्थान् गत्वा न पश्यति, किन्तु यत्र सुप्तः तत्रैव, अतोऽपि अबाह्याः. तथाच ते अबाह्याः अदीर्घकालदर्शनकत्वाद् दृश्यमान–देशगमनानपेक्षदर्शनकत्वाच्च इति न्यायाभ्यां प्रत्युत बाह्यत्वस्यैव साध्यसमत्वम् इति अर्थः. एतदुपष्टम्भाय तर्कम् आह **प्रतिबुद्धः** इति.

तथाच यदि गत्वा पश्येत् तं देशं प्रपश्यन् प्रतिबुद्धः तत्रैव तिष्ठेत्. यतो न एवम् अतो न एवं, यतो न गत्वा पश्यति ततो अन्तरेव पश्यति इति अदीर्घकाल – दर्शनत्वादिः सद्धेतुः. तेन च संवृतत्वं सद्धेतुः इति तथा इति अर्थः. एतन्मतोपष्टम्भाय श्रुत्यन्तरसम्मतिमपि आह **अभावः** इत्यादिः. **श्रूयते** इति वाजसनेयिनां बृहदारण्यके श्रूयते इति अर्थो न्यायपूर्वकः इति. ''**स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानः**''(बृहदा.उप.४।३।१३) इति मन्त्रेण अनेकरूपकरणम् उक्त्वा ''**तस्मान्नायतं बोधयेद् दुर्भैषज्यं हास्मै भवति**''(तत्रैव४।३।१४) इत्यनेन सुप्तस्य निर्बन्धेन जागरणे कष्टम् आह यदि अन्यत्र गतो भवेत् तत्करणं न वदेद् दुर्भैषज्यं च. यत्र सुप्तः तत्रैव स्त्रिया स्वप्ने रममाणः स्खलिते जाग्रन् तां बहिः पश्येत्. यतो न पश्यति ततः करोति यतः करोति ततो रथाद्यभावः. एवञ्च स्वप्ने पूर्वं रथाद्यभावः पश्चात् करणाद् इत्यादिन्यायपूर्वकम् इति अर्थः.

एवञ्च स्वाप्निकानाम् आन्तरत्वं साधयित्वा वैतथ्यं निगमयन् वक्तॄणां मनीषित्वं दृढीकरोति **वैतथ्यम्** इति. एतेन ये स्वप्ने चिन्तामण्यादिसिद्ध–सृष्टिन्यायेन अनुपादानकां सत्यां सृष्टिं वदन्ति ते निरस्ताः, पूर्वोक्तन्यायानां तत्प्रतिपक्षत्वाद्, अनुपादानकत्वे अवयवादिः विघटनेऽपि नाशासम्भवापत्या चिन्तामण्यादि–सिद्धसृष्टावपि तथात्वस्य विप्रतिपन्नत्वाच्च इति ।।१–३।।

एवं त्रिभिः दृष्टान्तार्थं स्वप्नदृष्टेः मिथ्यात्वं साधयित्वा जाग्रत्–प्रपञ्चस्याऽपि भिन्नस्यातत्त्वे आत्माद्वयसिद्धिः न इति तदर्थम् अन्तःस्थायां जाग्रत्सृष्टौ मिथ्यात्वम् अतिदिशति **अन्तःस्था** इति.

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तथा जागरिते स्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्त्वेन भिद्यते ।।४।।

तथा इति अन्तःस्थत्वाद् वैतथ्यम् इति अर्थः. **स्मृतम्** इति मनीषिभिः स्मृतम्. अस्य प्रमेयस्य पुराणेषु ''**ऋतेऽर्थम्**''(भाग.पुरा.२।९।३३) इत्यादौ प्रसिद्धेः. स्मृतित्वज्ञापनाय वा स्मृतम् इति. ''**यद्वै किञ्च मनुः अवदत्**

तद्भेषजम्''(तैत्ति.संहि.२।२।१०।२) इतिवत्. तावता तासामपि अविरुद्धानां प्रामाण्यम् इत्यपि उक्तं भवति. **जागरिते** इति. बहिः अनुभवात् कथम् अन्तःस्थत्वम्? इति आकाङ्क्षायां स्वप्नतुल्यत्वाद् इति वक्तुं स्वप्नस्य एतत्तौल्यम् आह **यथा तत्र** इति. यथा जागरिते मनोध्यातो अर्थः शरीरसंवृतत्वेन बाह्येभ्यो भिद्यतइति शरीरान्तःस्थत्वं तथा स्वप्नेऽपि पूर्वम् उक्तम्, अतः तत्तुल्यत्वात् तथा इति अर्थः ।।४।।

एतदेव प्रपञ्चयति **स्वप्न...** इत्यादि.

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकम् आहुर् मनीषिणः ।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ।।५।।

एकम् इति एकजातीये. अत्यन्तसाजात्याय एकवचनम्. तत्र हेतुः **भेदानाम्** इत्यादि. **प्रसिद्धेन** इति. उक्तरीत्या अत्यन्तं सिद्धेन. तथाच संवृतत्वादिना हेतुना भेदानां वितथत्वसाम्याद् उभे स्थाने अत्यन्तम् एकजातीये इति अर्थः ।।५।।

स्वप्ने हि सृजति. जाग्रतितु बहिष्ठं ध्यायति, ध्यान-स्मरणयोः ऐकार्थ्यात् स्मरणगोचरतामात्रं भवतीति अन्तःस्थत्वेऽपि कथं मिथ्यात्वम्? इति आशङ्कायां ध्यातस्य मिथ्यात्वप्रकारम् आह **आदौ** इत्यादि.

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तो ऽवितथा इति लक्षिताः ।।६।।

असत्सत्ता सदसत्तयोः श्रुत्यन्तरे निरस्तत्वात् ध्यातस्य च मनःकल्पितत्वेन पूर्वं पश्चाच्च असत्वाद् वितथैः स्वाप्निकैः तुल्यत्वाद् मिथ्याकल्पनत्वम्. न हि माणवकः सिंहत्वेन ध्यातः सिंहो भवति इति. तथाच मनोध्याताः पदार्थाः वर्तमानतया अनुभूयमानत्वेऽपि असन्तः आद्यन्तयोः

असत्त्वात्. यदनन्तवद् असत्यवद् इति.

एवञ्च मनोध्यातानां बाह्यतुल्यत्वं च इति फलति. नच ध्यानस्य स्मरणपर्यायत्वं, मनःक्रियारूपत्वेन अत्र अभिप्रेतत्वाद्; देवतायाः अननुभूतत्वेन तद्ध्याने स्मरणत्वस्य अशक्यवचनत्वाच्च. तर्हि कल्पनोपदिष्टात् फलसिद्धिः न स्याद्, वितथस्य फलाजनकत्वाद् इति आशङ्कायाम् आह **सप्रयोजनता** इति.

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्माद् आद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ।।७।।

स्वाप्निकप्रमदास्पर्शादिना पारमार्थिक-स्खलनदर्शनात् सप्रयोजनता स्वप्नेऽपि विप्रतिपन्ना अतो किञ्चित्कारा सती सत्त्वसाधिका इति अर्थः. तथाच मनोध्याताः सत्याः, सत्फलजनकत्वाद्, घटादिवद् इति साधने स्वाप्निकप्रमदा-स्पर्शवद् इति दृष्टान्तस्य हृदि करणाद् हेतोः साधारणत्वं दर्शितम्. तथाच सति असत्याः आद्यन्तवत्वात् तेन वितथसदृशत्वाच्च इति हेतुः दृढीकृतः. विमताः मनोध्याताः सन्तः अर्थक्रियोत्पादकत्वाद् घटादिवद् इत्यपि निरस्तम्. स्मृताः इति पूर्ववत्. तथाच श्रुतिगीतायां **''न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसः''**(भाग.पुरा.१०।८७।३७) इति. एकादशे च **''न यत् पुरस्ताद् उत यन्न पश्चान् मध्येऽपि तन्न व्यपदेशमात्रम्''** (भाग.पु.११।२८।२१) इति. यदि एवं तर्हि स्वर्गकामादि-श्रुत्युपप्लवः स्वर्गस्य अपूर्वजत्वेन अपूर्वस्य अस्मदादिकर्मजन्यत्वेन च कीर्त्तनादि-नाश्यत्वेन च आद्यन्तवत्वाद् इति आशङ्कायाम् आह **अपूर्व** इति.

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।
तान् अयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ।।८।।

अपूर्वम् अस्मत्क्रियाभिव्यक्तं कर्म, स्थानिधर्मः स्थानिनः जाग्रदादि-स्थानवतो भगवतो धर्मः, सः यथा स्वर्गनिवासिनां तथा. स्वर्गस्थाः हि देवताः

तन्नियामकत्वेन भगवता परमेश्वरेण स्थापिताः सर्वदा तत्र निवसन्ति. तेषां स्वर्गो न अपूर्वसाध्यो अपितु भगवदवयवात्मैव इति नित्यएव. नाऽपि अपूर्वं स्थानिधर्मः कर्मसाध्यः किन्तु भगवदवयवात्मनः तत्त्वेन स्मृतौ प्रसिद्धो नित्यएव, तथैव तत्क्रियया यो अभिव्यज्यते सोऽपि सएव इति नित्यएव. स्वर्गोऽपि तथा. सम्बन्धमात्रं परं जन्यते. अतो न कर्मश्रुत्युपप्लवः इति अर्थः. नच एवं सिद्धार्थबोधकत्वेन अधिगतार्थगन्तृत्वाद् विध्यप्रामाण्यं शङ्क्यं, लोकानधि-गतार्थगन्तृत्वस्य तदर्थत्वेन प्रामाण्यानपायात्. **''अग्निर् मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ''**(मुण्ड.उप.२।१।४) इत्यादिश्रुत्यतिरिक्तस्य लौकिकमानस्य तदर्थागमकत्वात्. अन्यथा सकृद्बोधितार्थस्य विधेः कालान्तरे पुनः बोधनेऽपि अप्रामाण्यापत्तेः. उपपादितं च इदम् आचार्यैः ईक्षत्यधिकरणे. नित्यतामेव प्रकटयति **तान् अयम्** इति. अयं कर्मणा धर्माभिव्यञ्जकः इतः स्वर्गे गत्वा तान् स्वर्गवासिनः स्वर्गान् वा स्वभिषजैः तान् धर्मान् वा प्रेक्षते दिव्यचक्षुषि लब्धे साक्षात् करोति. तत्रापि विशेषः यथैव इह सुशिक्षितः इति. येन प्रकारेण भगवद्रूपतया अपूर्वतया नित्यकर्मतया वा तत्स्वरूपज्ञाने उपाध्यायेन सुतरां दत्तशिक्षः तथा इति. तथाच यादृक् स्वरूपं स्वर्गादीनाम् इह ज्ञातं तादृक् तत्र पश्यति. यदि नित्यो न स्यात्, तर्हि एतददृश्यैतत्समवेतत्वाद् अत्रैव स्वर्गः स्यात्. तत्र गते वा अस्मिन् स्वर्गः उत्पद्येत, जीवानाम् अणुत्वात्. व्यापकजीववादस्य श्रुत्यगोचरत्वात्. अणुत्वं च उपपादितं तद्गुणसारत्वाधिकरणे आचार्यैः. एवं निरस्तेऽपि दोषे जन्यत्वाद् बाह्यघटपदादिदृटान्तेन सत्यत्वसाधने तत्प्रतिसाधनाय बाह्यत्वेन प्रतीतस्य स्वरूपम् आह **स्वप्नः** इति आरभ्य **दृष्टम्** इत्यन्तेन.

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश् चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद् दृष्टं वैतथ्यम् एतयोः ।।९।।

तथाच स्वप्ने यदा स्वप्नजागरौ भासेते तदा अस्मिन् जागरे स्वाप्निकत्वेन भासस्य असत्त्वं बाह्यत्वेन भासस्य च सत्त्वम् अभिमन्यते, तत्र पूर्वोक्तन्यायैः उभयोः मिथ्यात्वमेव सिद्धम्. तथा जागृद्वृत्तावपि अन्तः 'देवो अहं' 'राजा अहम्' इत्यादिकल्पितस्य बहिःघटादिरूपेण गृहीतस्य च मिथ्यात्वमेव.

बाह्यत्वभावनस्य जागरितभातत्वस्य भानस्य च उभयत्राऽपि तुल्यत्वेन प्रत्यक्षस्य अप्रयोजकत्वात्. दृष्टम् इत्यनेन ऐन्द्रिजालिकपदार्थानां बाह्यत्वेन प्रतीतानामपि मिथ्यात्वस्य दृष्टत्वाच्च इत्यपि उक्तम् ।।९।।

एवं सर्वस्य मिथ्यात्वे प्राप्ते द्रष्टुरपि तदनतिरिक्तत्वाद् मिथ्यात्वम् इति शून्यवादापत्तिम् आशङ्कते **उभयो**ः इति.

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर् यदि ।
क एतान् बुध्यते भेदान् को वै तेषां विकल्पकः ।।१०।।

[२]द्रष्ट्रे भानस्याऽपि वितथत्वात् शून्यं तर्हि इति अर्थः. तत्र समादधानः सिद्धान्तम् आह **कल्पयति** इत्यनेन.

कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानम् आत्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदान् इति वेदान्तनिश्चयः ।।११।।

अत्र **देव**ः इति क्रीडापरत्वम् उक्तम्. तेन इयं कल्पना क्रीडारूपा इति फलति. कल्पयति आत्मना आत्मानम् आत्मा इति विभक्तित्रयेण कारक-त्रयात्मकत्वं स्वस्यैव इति उक्तम्. तत्र उपलक्षणविधया सर्वात्मत्वं सर्वकारकत्वं च साधितम्, आकाराभेदे कारकभेदाभावात्. तत्तद्रूपे स्वस्मिन् तत्तद् नामनियमनम् इति कल्पनास्वरूपमपि अनेनैव उक्तम्. अन्यथा आत्मानम् इत्यस्य व्याकोपात्. 'आत्मनि' इति पाठे तुल्यएव अर्थः. कल्पने करणम् उक्त्वा भेदबोधे करणान्तरम् आह **स्वमायया** इति. 'स्व'पदेन शक्तेः अभिन्नत्वम् अधीनत्वं च उक्तम्. मध्ये कथनेन क्रीडाकरणत्वमपि. तात्पर्यानभिज्ञानां वाक्याभासादिकं पुरस्कृत्य प्रत्यवतिष्ठतां मुखमुद्रणाय आह **इति वेदान्तनिश्चय**ः इति. तेन इदं फलति. सः सर्वात्मकः परमात्मा क्रीडन् स्वात्मकान्येव रूपाणि तादृशैरेव नामभिः नियमयति. स्वमायया सएव भेदान् स्वात्मरूपान् बुध्यते. यथा पुरुषः शङ्ख-सुरभि-

मत्स्यादिमुद्राः स्वाङ्गुलीभिः विधाय तासु तत्तद्रूपताम् अनुसन्धत्ते तद्वत्. इदं च अहिकुण्डलसूत्रे उक्तं व्यासचरणैः. अतो न चोद्यावसरः.

एवं सिद्धान्ते सत्यतैव आत्मरूपत्वेन सर्वस्य प्राप्ता, नतु कस्यापि मिथ्यात्वम् इति पूर्वोक्तम् उपपादनं वृथैव जातम्. पूर्वोक्तयुक्तीनां च बलवत्त्वात् सिद्धान्तस्य अज्ञानमात्रतया उपचरितार्थत्वं च इति शङ्काद्वयनिरासाय एतद् व्याकरिष्यन्नेव पूर्वोपपादितसमर्थकं कल्पनाद्वयम् अन्यद् आह.

विकरोत्यपरान् भावान् अन्तश्चित्तेऽव्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्ते एवं कल्पयते प्रभुः ।।१२।।

विकरोति इति विकृतान् करोति इति अर्थः. **अपरान्** इति स्वात्मरूपेभ्यो अतिरिक्तान् मायामनोमयान् अव्यवस्थितान् इति. स्वप्ने गजरूपेण दृष्टस्यापि नरहयादिरूपेण दर्शनाद् मनोरथकल्पनायां रङ्कस्य विरूपस्य सुन्दरत्व-राजत्वादिना कल्पनाद् अव्यवस्थितान्. आन्तरान् उक्त्वा बाह्यान् आह **नियतान्** इति. घटो घटरूपेण, पटः पटरूपेण इति एवं नियतान् इति अर्थः. वितथ-कल्पनेऽपि सामर्थ्यार्थं प्रभुः इति ।।१२।।

एवम् आन्तरबाह्यभेदेन द्विविधान् कल्पितान् उक्त्वा, उक्तसमर्थनाय तेषां वैतथ्यं विशदयति **चित्तकालाः** इति द्वाभ्याम्.

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ।।१३।।
अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ।।१४।।

तत्र पूर्वेण स्वाप्निकानां तथात्वम् आह. स्वाप्निकजागरेऽपि ज्ञानस्य

विषयेन्द्रियसम्प्रयोगतन्त्रत्वाभिमानाद्वयकालाः इति उक्तम्. **न अन्यहेतुक**ः इति. चित्तान्वयः व्यतिरेकानुविधात् चित्तैः अहेतुकाः न किन्तु चित्तहेतुकाएव.

यद्वा 'कल्पित'पदोपादानात् कल्पितत्वेन रूपेण आत्महेतुकाः कल्पनामात्रहेतुकाः वा इति अर्थः. तेन वैतथ्यम् उक्तम्.

जागरकल्पितानां तथात्वम् आह **अव्यक्ता** इति. ननु जाग्रद्वृत्तौ विषयेन्द्रिय–सम्प्रयोगाद् घटादिः गृह्यते इति केवलचित्तग्राह्याभावात् कथं कल्पितत्वम्? अस्तु वा यथा तथा, तथापि बहिः गृह्यमाणानाम् आन्तरत्वाभावात् सर्वात्मकत्वाद् आत्मनः सत्सृष्टेरपि उक्तत्वेन तस्याएव च सम्प्रयोगघटकतया बाह्यत्वेन तदितराप्रसिद्ध्या च कस्य बाह्यस्य कल्पितत्वम् इति आशङ्काद्वयनिवृत्त्यर्थम् आह **विशेषस्तु इन्द्रियान्तरे** इति. बाह्यतया कल्पितो यो विशेषः सतु इन्द्रिय–तत्संयुक्तयोः अन्तराले गोलकान्तरः इति अर्थः. ''**अन्तरं रन्ध्रावकाशयोः**''(अम.कोष.रामाश्री ३।३।१८७) इति कोशात्. 'विशेषाः' इति पाठेऽपि अयमेव अर्थः.

ननु इदम् अप्रयोजकं, भ्रमरिकादृष्ट्या कामलादौ च अन्तरालिकस्य भ्रमि–पीतिमादेः गोलकान्तरेव प्रत्यक्षेण निश्चयाद्, अस्यापि तत्रैव वक्तव्यत्वात्. विविधरङ्गरक्त–काचाद्युपनेत्राणि मध्ये निधाय निकट–दूरस्थवस्तूनि अवलोकयतां विषय–गोलकयोः अनुपरागेऽपि कतिपयनायनकिरणेषु उपधीयमानेषु विषये रागोपलम्भाभिमानस्य सार्वजनीनत्वाच्च. तथाच अन्तराले [३]गोलकाद् जायमानस्य कल्पितत्वं वैतथ्यं बाह्यत्वं च इति फलति. तेन पूर्वोपपादितं समर्थितं भवति. अतएव एकादशे द्वाविंशाध्याये ''**इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि, बहिरन्तर्भिदाहेतुर् जनोऽसज्जनकृद्यथा**''(भाग.पुरा.११।२२।४१) इति उक्तम्. इयमेव च सृष्टिः अन्तरासृष्टिः इति, अन्यद् इति, अनृतम् इति, मायामनोमया इति च श्रुतिपुराणेषु गीयते.

''**अनृतं वै वाचा वदति अनृतं मनसा ध्यायति**''(   )

''**अनृतापिधानाः**''(छान्दो.उप.८।३।१)

''न तं विदाथ य इमा जनानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव,
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति''(ऋक्सं.१०)
इति.

एकादशस्कन्धे च

''न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः,
उक्थशास्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुष''(भाग.पुरा.११।२१।२८) इति.

''यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः,
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्''(तत्रैव ११।७।७) इति

''मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यद्''(तत्रैव ११।१९।७)
इति च. द्वितीयस्कन्धे

''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत''(तत्रैव २।९।३३) इत्यत्र एतत्सुबोधिन्यां **''अतो विषये विषयता काचित् स्वीकार्या यया दृष्टिः सविषया भवति''** इत्यादिना च उपपाद्य विवृता ।।१५।।

एवं द्वाभ्यां प्रतिज्ञां समर्थ्य ''कल्पयति'' इत्यादिमन्त्रद्वयोक्तकल्पनाद्वय-प्रकारं द्वाभ्यां विवृणोति **जीवं कल्पयते** इत्यादि.

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान् ।
बाह्यान् आध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ।।१५।।
अनिश्चिता यथा रज्जुः अन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैः तद्वदात्मा विकल्पितः ।।१६।।

तत्र प्रथमश्लोकोक्तकल्पनाप्रकारं विवृणोति **जीवम्** इति. जीवं प्राणधारणप्रयत्नवन्तं मुख्यजीवं हिरण्यगर्भं वा पूर्वं कल्पयते. तेन नाम्ना तद्रूपं आत्मानं नियमयति. तदुत्तरं बाह्यान् शरीर-तद्भोग्यान्, आध्यात्मिकान् करुणादिरूपान् बुद्धीन्द्रियमनःप्राणादीन्. कल्पयते इति पूर्ववत्. **पृथग्विधान्** इत्यनेन प्रकाराणामेव परस्परं भेदो नतु स्वरूपस्य इति उक्तम्. जीवकल्पनोपकरणम् आह **तथाविद्यः** इति. यादृक् ज्ञानं पूर्वं भवति तथादेव-

मानुषासुररूपभेदेन जीवे नामरूपं नियमयति इति अर्थः. ततो भावान् इत्याद्युक्तभोग्यकल्पनोपकरणम् आह **तथास्मृतिः** इति. यादृशजीवे यादृग् बाह्याध्यात्मिकं भोग्याद्यपेक्षितं तस्मै-तस्मै तादृशं-तादृशं तत्तन्नामरूपं तत्र-तत्र नियमयति इति अर्थः.

एवम् एकेन प्रथमकल्पनाप्रकारम् उक्त्वा **'विकरोत्यपरान्'** इत्यनेन उक्तकल्पनायाः प्रकारम् आह **अनिश्चिता** इत्यनेन. अतएव अत्र व्युपसर्गः उक्तः.

तथाच **विकरोति** इति श्लोकोक्तकल्पना विकल्पनारूपा अत्र नतु तत्र पदार्थः सः इति अर्थः ।।१६।।

एवं द्वाभ्यां द्वयं विवृत्य विकरोति इत्यनेन उक्तायाः द्वितीयस्याः अज्ञानकल्पितत्वाद् ज्ञाननाश्यत्वम् आह **'निश्चितायाम्'** इति.

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ।।१७।।
प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैर् एतैर् विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य ययाऽयं मोहितः स्वयम् ।।१८।।

तद्वद् आत्मविनिश्चयः इति. विशिष्टः आत्यन्तिकः निश्चयः प्रमाणज्ञानं यस्य तादृशः आत्मा तद्वत्. निश्चितरज्जुवद् अद्वैतो भवति. सर्वाकारत्वेन ज्ञातः कल्पितद्वैतभावज्ञाननिवर्त्तको भवति इति अर्थः. रज्जुसर्पादिभावैरिव आत्मकैः भावैः विकल्पितः तत्र अन्धकारइव अत्र अनिश्चयहेतुश्च कः इति आकाङ्क्षायाम् आह **प्राणादिभिः** इति. तथाच यथा अत्र रज्ज्वाकारसदृक्षाः सर्पधारादिभावाः एवम् आत्मनः सर्वाकारत्वात् तत्तदेएकदेशाकारसदृक्षाः अनेके प्राणादिभावाः तैः विकल्पिताः. तत्र यथा अन्धकारो अनिश्चयहेतुः एवम् अत्र एषा अनिश्चयहेतुभूता तस्य आत्मानात्मानं कल्पयितुः देवस्य क्रीडतः परमात्मनो माया. सा का? इति आकाङ्क्षायां

कार्यलक्षणेन तां परिचाययन् तस्याः स्वरूपम् आह **यया अयं मोहितः स्वयम्** इति. यया अयं जीवः मोहितो भवति तादृक्प्रकारकः स्वयं परमात्मैव माया इति अर्थः. तथाच जीवमोहकं परमात्मनः स्वरूपं माया इति फलति. अतएव एकादशस्कन्धे **''तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं, वाङ्मनो–गोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहद्''**(भाग.पुरा.११।२४।३) इति भगवता उक्तम्. तेन **'असती'** इति, 'सदसद्विलक्षणा' इति मायास्वरूपं वदन्तो निरस्ताः. कल्पकोऽपि मोहितकथनेनैव उक्तः. तेन मोहितम् आत्मस्वरूपं जीवः इति फलति. सच प्रदेशो अंशो वा इति आशङ्का तु **''अंशो नानाव्यपदेशाद्''** (ब्रह्मसूत्र २।३।४३) इत्यादिसूत्रैः तद्विषयवाक्यैः **''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः''**(भग.गीता१५।७) **''एकस्यैव ममांशस्य जीवस्य''** (भाग.पुरा. ११।११।४) इत्यादिस्मृतिभिः ब्रह्मसूत्रभाष्यएव निरस्तेति न इह निरस्यते ।।१८,१९।।

एवम् 'अनिश्चिते'तिश्लोकयोः दार्ष्टान्तिकांशः 'कल्पयन्ति' इति मन्त्रस्थ'माया'पदस्य अर्थश्च विवृतः. अतः परं 'निश्चितायाम्' इति मन्त्रस्थं दार्ष्टान्तिकांशं विवृणोति **प्राणः** इत्यादिभिः **सर्वदा** इत्यन्तैः नवभिः श्लोकैः.

प्राण इति प्राणाविदो भूतानीति च तद्विदः ।
गुणा इति गुणविदः तत्त्वानीति च तद्विदः ।।१९।।
पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः ।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ।।२०।।
वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ।।२१।।
सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदो–ऽमूर्त इति च तद्विदः ।।२२।।
काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ।।२३।।
मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।

चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ।।२४।।
पञ्चविंशत इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुर् अनन्त इति चापरे ।।२५।।
लोकाल्लोकविदः प्राहुर् आश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्री–पुं–नपुसकं लैङ्गा परापरम् अथापरे ।।२६।।
सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ।।२७।।

तेन सर्वात्मको यः परमात्मा इति सिद्धान्तः फलिष्यति. आत्मानं प्राणाः इति वदन्ति इति **प्राणविदः**. तेन एकदेशं आत्मत्वेन विदित्वा प्राणाएव आत्मस्वरूपम् इति आहुः इति अग्रिमेण सम्बन्धः. अर्थात् स्वशिष्येभ्यः. एवम् अग्रेऽपि ज्ञेयम्. **भूतानि** आकाशादीनि पञ्च. **गुणाः** सत्त्वादयः, सत्यादयो वा. तत्त्वानि पुरुषादीनि पञ्चविंशतिः. **पादाः** अकारोकारमकारनादाद्याः प्रणवादि–विद्यासु प्रसिद्धाः. **विषयाः** शब्दादयः पञ्च. **भोक्ता** जीवः. एवम् अन्यदपि बोध्यम्. एवं दिङ्मात्रेण उक्त्वा कल्पितत्ववारणाय सर्वस्य आत्मरूपताम् आह **सर्वं च इह तु सर्वदा** इति. इह आत्मनि सर्वं पूर्वोक्तम् चकाराद् अनुक्तमपि यत् तदपि **सर्वदा** सर्वकालं नतु कदाचित्. तथाच अत्र उक्तस्य सर्वस्य आद्यन्त–रहितत्वाद् आत्मरूपत्वे निश्चिते कल्पितप्राणादि–विकल्पनिवृत्तौ सर्वम् आत्मा इत्येव अद्वैतं भवति इति अर्थः ।।२०–२८।।

एवं नवभिः दार्ष्टान्तिकांशो विवृतः. अतः परं एकैकांशविदः पूर्णज्ञानाभावेन मोहस्यापि सत्त्वात् कैवल्य–तदभावयोः अशक्यवचनात् किं फलम्? एकैकांशज्ञानं च तेषां कथम्? इति आकाङ्क्षायां प्रसङ्गात् फलं तज्ज्ञानप्रकारं च आह द्वाभ्यां **यम्** इति श्लोकाभ्यां

यं भावं दर्शयेद् यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ।।२९।।
एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।

एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽविशङ्कितः ।।३०।।

तथाच तस्य-तस्य तावत्-तावद् ज्ञाने परमात्मेच्छैव नियामिका इति अर्थः. फलम् आह **तम्** इति. यः यं भावं पश्यति तं तद्भावद्रष्टारमपि. **चो**ऽप्यर्थे. अज्ञान-शबलज्ञानमपि इति अर्थः. सः भूत्वा तज्ज्ञानदार्ढ्याय तद्द्रष्टभावरूपः आविर्भूयः अवति सर्वविघ्नादिभ्यो रक्षति. इदम् अवान्तरफलम्. परमं तस्य आह, **असौ** दृष्टान्तः. **तद्ग्रहः** तदाश्रयः. **तद्ग्रहः** तदेकनिष्ठो वा तत्तद्भावात्मकम् आत्मानं **समुपैति** प्राप्नोति, तस्मिन् लीनः तदात्मको भवति इति अर्थः. अथवा तं स्वदृष्टं भावं प्राणादिरूपं **अवति** स्वान्तः रक्षति सदानुसन्धत्ते. ततः तस्य फलम् आह **सः भूत्वा** इति. **''देवो भूत्वा देवानप्येति''** (बृहदा.उप.४।१।२) इतिवत् तदात्मको भूत्वा तदाश्रयः तं प्राप्नोति इति पूर्ववत्. अवान्तरफलस्य अवनस्य प्रयोजनम् आह **एतैः** इति. **एतैः** एकैकांशवेत्तृभिः **एषः** परमात्मा **अपृथग्भावैः** अभिन्नसत्ताकैः प्राणादिभिः **पृथगेव** इतरभिन्नएव **इति लक्षितः**. एकांशत्वाद् अन्यांशस्य अभिन्नत्वं मिथ्यात्वं च उक्त्वा तद्भिन्नतया ज्ञापितः. तस्य प्रयोजनम् एवं उक्तरीत्या इतरभिन्नतया यः शिष्यः तत्त्वेन आत्मत्वेन **वेद** जानाति **सः अविशङ्कितः** शङ्कारहितः सन् कल्पयेत् स्व-स्वगुरूक्तं श्रुतिसिद्धिं मतं समर्थयेत्. तथाच तत्तच्छिष्यैः तन्मार्गप्रवर्तनार्थं तद्बोधनस्य अवनम् इति अर्थः. द्वितीयपक्षेतु सदानुध्यानस्य आनुषङ्गिकं फलम् अनेन उच्यते. अर्थस्तु पूर्वोक्तएव ।।२९,३०।।

एवं प्रासङ्गिकम् उक्त्वा तेन अद्वैतं दृढीकृत्य भेदवादिनिन्दनाय तदभिमतस्य जगतो यादृशत्वं वेदान्तेषु अभिमतं तद् आह **स्वप्नमाये** इति.

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वम् इदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।३१।।

स्वप्नो निद्राहेतुको अन्तःकरणवृत्तिविशेषः. **माया** इन्द्रजालादौ प्रसिद्धा.

गन्धर्वनगरम् उत्पाद्यते तेषु दृश्यमानम् अतिसुन्दरपुरम्. तानि दृष्टानि यथा येन प्रकारेण भवन्ति, इदं भेदवाद्यभिमतं दृष्टं लौकिदृष्टिविषयभूतं **विश्वं तथा** तेन प्रकारेण अस्ति इति विशेषः. यथा तानि तथा वा इदं दृष्टम्. अर्थात् सुन्दरतया भासमानमपि मिथ्याभूतं वेदान्तेषु **विचक्षणैः** वेदान्तनिपुणैः **दृष्टं, वेदान्तेषु** वा विविधैः स्वप्नमायानिभत्वादिकथनैः **दृष्टं,** न तात्पर्याभिज्ञैः अवगतम् ।।३१।।

तत्र हेतुम् आह **तमः** इत्यादिः द्वाभ्याम्.

तमःस्वप्ननिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसन्निभम् ।
नाशप्रायं सुखाद् हीनं नाशोत्तरमभावगम् ।।३२।।

दृष्टं दर्शनगोचरीभूतं जगत् **तमःस्वप्ननिभम्.** तमो यथा सवितरि उदिते अनायासेन अपैति, स्वप्नो वा निद्राद्यपाये तथा इदं भिन्नं जगद्दर्शनगोचरमपि तत्त्वज्ञाननाश्यम् अन्तः. पूर्वोक्तैः संवृतत्वादिहेतुभिः. तस्य मिथ्यात्वम् इति अर्थः. किञ्च, वर्षे वर्षणे ये बुद्बुदाः तत्सन्निभं तत्तुल्यम्. तुल्यतामेव आह **'नाशप्राये'**त्यादिना. तथाच पूर्वोक्तेन आद्यन्तवत्त्वेनाऽपि तस्य मिथ्यात्वम् इति अर्थः. इदं व्याससमृतिवाक्यम्.

मिथ्यासाधर्म्याद् मिथ्यात्वम् उक्त्वा सत्यवैधर्म्यादपि आह **न निरोधः** इति.

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।३३।।

निरोधोत्पत्ती जडधर्मौ, शेषाः जीवधर्माः. ते परमात्मनि न सन्ति, सर्वरूपत्वेन सर्वधर्मरहितत्वात्. सएव च परमार्थभूतः. तद्वैधर्म्यादपि अस्य भिन्नस्य जगतो न सत्यत्वम् इति अर्थः ।।३३।।

भेदवादिनो विनिन्द्य पूर्णज्ञानरहितयोः मिथ्यावाद्येकैकांशाभेदवादिनो मतम् अनुवदन् सर्वाद्वैतं प्रशंसति **भावैः** इति.

भावैरसद्भिरेवायम् अद्वयेन च कल्पितः ।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद् अद्वयता शिवा ।।३४।।

अयम् आत्मा असद्भिः मिथ्याभूतैः **भावैः** प्राणादिभिः साधितं यद् अद्वैतं तेनाऽपि **कल्पितः**, अर्थाद् मिथ्यावादिभिः. **भावा अपि अद्वयेन** हि अन्यथा भवन्ति तथा कल्पिताः. अर्थाद् एकैकांशवद्भिः उभयथापि अद्वैतस्यैव उभयवादिसम्मतत्वाद् अद्वयता शिवा. वादिविप्रतिपत्यसम्भवाद् असन्दिग्धा समीचीना इति अर्थः. एतेनाऽपि साङ्ख्य–नैय्यायिकादिमतापेक्षया अनयोः उत्तमत्वं सूचितम्. अत्र उत्तराद् [४]‘‘देकल्पित’पदकथनाद् द्वितीयैकदेशिनः पूर्वापेक्षया किञ्चिद् उत्तमत्वं सूचितम्. समुपैति तम् इतिवद् अस्य फलाकथनाच्च ।।३४।।

एवम् एकदेशिनोः मतम् उक्त्वा सखण्डाखण्डभेदेन द्विविधम् अद्वैतज्ञानं वेवेक्ति द्वाभ्यां **न आत्मभावेन** इति.

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन ।
न पृथङ् नापृथक् किञ्चिद् इति तत्त्वविदो विदुः ।।३५।।
वीतरागभयक्रोधैर् मुनिभिर् वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ।।३६।।

तस्य भावः **तत्तत्त्वं**, सर्वत्र आत्मभावः, तद् विदन्ति इति **तत्त्वविदः**. सर्वत्वं पुरस्कृत्य तत्र ब्रह्मत्वविदः, सखण्डब्रह्मज्ञाना इति यावत्. ते **इदं** जगद् **नाना न** किन्तु ब्रह्माभिन्नम् इति विदुः. ततोऽपि अनेकसाधनैः **मुनिभिः** मननशीलैः अयं **निर्विकल्पः** केवलब्रह्मस्फूर्तौ सर्वांशास्फुरणात् **प्रपञ्चोपशमो**

अद्वयो द्रष्टव्यः इति द्विविधम् अद्वैतज्ञानम् अत्र उक्तम् ।।३५,३६।।

एवं विविच्य अखण्डब्रह्मज्ञानाधिकारभूत-सखण्डानुभवार्थं साधनम् उपदिशति द्वाभ्यां **तस्माद्** इति.

तस्मादेवं विदित्वैनम् अद्वैते योजयेत् स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ।।३७।।
निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर् यादृच्छिको भवेत् ।।३८।।

यस्माद् ईदृशमेव आत्मज्ञानं न अन्यथा **तस्मात्. एवं** उक्तद्विविध-प्रकारेण, **एनम्** आत्मानं **विदित्वा** श्रुतितो अवगत्य स्मृतिं मायिकप्रपञ्चभिन्न-प्रपञ्चादिबोधिकां पुराणादिरूपाम् अद्वैते योजयेत्. अद्वैततात्पर्यतया वैराग्याद्यर्थत्वेन लापयेत्. नतु तदनुसारेण श्रुत्यर्थम् अन्यथा कुर्याद् इति अर्थः. शेषं स्पष्टम् ।।

एवम् उक्तसाधनकरणे फलम् आह **तत्त्वम्** इति.

तत्त्वम् आध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस् तदारामस् तत्त्वाद् अप्रच्युतो भवेत् ।।३८।।

।। इति गौडपादीयकारिकासु वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम् ।।

आवृत्तिः उपसंहारार्था, द्विविधज्ञानदार्ढ्यार्था वा इति सर्वं व्याख्यातम् अनवद्यम्.

अत्र इदं सिद्ध्यति सृष्टिः द्विविधा भगवद्रूपा मायिकी च. तत्र आद्या त्रिधा भोक्तृसृष्टिः, बाह्यभोगसृष्टिः, आध्यात्मिकभोग्यसृष्टिश्च इति. सा त्रिविधाऽपि सत्या, नित्यत्वात्. द्वितीया बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा. तत्र आभ्यन्तरा

अव्यवस्थिता, बाह्या व्यवस्थिता. सा द्विधाऽपि पुनः द्विधा जाग्रत्–स्वप्नभेदेन. तत्रापि जाग्रति या बाह्या सा इन्द्रियाद् बहिः लोकान्तरेव जायते. एवं सर्वापि मायिकी मिथ्या, आद्यन्तत्वात्. प्रथमायां कारणमपि भगवान्, द्वितीयस्याः करणं माया. तत्र मोहो द्वारम्. कर्तातु भगवानेव क्रीडन्. एवं सति दुःखस्यापि मोहजत्वात् तन्निवृत्तये मोहो निवर्तनीयः. सच अज्ञानजन्मेति अज्ञानं निवर्तनीयम्. तत्र साधनं ब्रह्माद्वयज्ञानम्. तत् चतुर्थाः. सर्वं मायिकं ब्रह्मैव निराकारं सत्यम् इति एकदेशिमतम्. प्राणादिषु एकैकरूपो भगवान् इतरन्मिथ्या इति अपरैकदेशिनां मतम्. भेदवादसिद्धन्तु सर्वं मायिककोटौ निविशति. सर्वत्वज्ञानपूर्वकं सर्वत्र ब्रह्मस्फूर्तिः सखण्डब्रह्माद्वैतज्ञानं तत्सिद्धान्ते अधिकाररूपम्. अखण्डाद्वैतज्ञानं साक्षात्काररूपं फलम्. तत्र अधिकारज्ञानसिद्ध्यर्थं जडचर्याद्युपदिशति. इदञ्च अवशिष्यते. आद्यन्तवत्त्वम् असत्कार्यवादे दूषणं नतु साङ्ख्यवादे. तेन तदपि ज्ञानसाधनम्. साधनान्तराणां स्मार्तानाम् उपासनानां च सत्त्वात् किमिति जडचर्याद्युपदेशः इति एतद्द्वयमतम् अद्वैताख्ये विचारयिष्ये.

।। इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणधनेन पुरुषोत्तमेन कृतं वैतथ्यप्रकरणविवरणम् ।।

(१.एतत्प्रकरणस्यैकमेव पुस्तकं लब्धं तच्च बहुषु स्थलेषु शुद्धेतरदिति स्खलितानि यथामति शोधितान्यपि अवशिष्टान्येव इति साधुधियः क्षमध्वम्. संस्कर्ता.

२. द्रस्ट स्यात्.

३. गोलकाज्जायेति स्यात्.

४. 'त्तरात्कल्पि..' इति कदाचित् स्यात्.

५. न इमः कारिका उपनिषत् किन्तु शंकराचार्यगुरुणा निर्मिताः श्लोकाः. अतस्तन्मतानुयायिनामेव प्रामाणिकत्वमावाहन्ति नान्येषामिति मन्मतिः.)

V

।। कैवल्योपनिषदर्थसंग्रहः ।।

कैवल्योपनिषद्वेद्यं कैवल्यानन्दतुन्दिलम् ।
कैवल्यगिरिजारामं स्वमात्रं कलयेऽन्वहम् ।।

ॐ अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनम् उपसमेत्य उवाच. अधीहि भगवनन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्. यथा अचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान् ।।१।।

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि ।।२।।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः. परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति ।।३।।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः. ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।४।।

श्रीकृष्णाय नमः. कैवल्योपनिषदि तावद् **अथ आश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनं परिसमेत्य उवाच** इति तयोः संवादम् उपक्षिप्य **अधीहि भगवन्** इति मन्त्रेण शीघ्रं पापनिवर्तनद्वारा परात्परमपुरुषप्रापिकां वरिष्ठां ब्रह्मविद्याम् अध्यापय इति प्रश्ने अग्रिममन्त्रार्धेन पितामहः **श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगाद् अवेहि** इति सामान्यतो ब्रह्मज्ञानसाधनानि उक्त्वा **न कर्मणा न प्रजया** इति मन्त्रेण संन्यासस्य अंगताकथनपूर्वकम् अमृतत्व-प्राप्ति-सोपान-पूर्वरूपां वदन् **वेदान्तविज्ञान** इति द्वितीयेन संन्यासिनो वेदान्तज्ञान-जनित-निश्चयोत्तरं परप्राप्तिं तत्प्रश्नोत्तरत्वेन उवाच. तेन उत्तमाधिकारे बन्धाभावाद् अचिरादेव एतैः अमृतप्राप्तिद्वारा परामृतस्य पुरुषस्य प्राप्तिः भवति इति बोधितम्.

ततः किम् अमृतं किंवा परामृतम् इति ज्ञापयितुम् आश्वलायनाधिकारम् अनु(माय)...तदर्थम् उपासनापूर्वकं ज्ञानरूपं साधनं वदन् द्वयोः स्वरूपं ध्येय-प्राप्यस्वरूपकथनमुखेन आह **विविक्तदेश** इत्यादिभिः **नान्येन हेतुना** इत्यन्तैः.

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः. अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ।।५।।

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्. अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ।।६।।

तमादि-मध्यान्त-विहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्. उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्. ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ।।७।।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्. स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ।।८।।

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्. ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ।।९।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि. संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ।।१०।।

तथाच उक्तरीत्या **अन्त्याश्रमस्थाः** उक्तधर्मवत्त्वेन नीलकण्ठं ध्यात्वा **मुनिः** विचारकः सन् **भूतयोनिं** समस्तसाक्षिणं **तमसः परस्तात्** तमोनियामकं प्राप्नोति इति ध्येयप्राप्यौ शिवभूतयोः अमृत-परामृतौ इति ज्ञापितम्. तत्रापि प्राप्यस्वरूपकथने **स ब्रह्म स शिवः इन्द्रः सो अक्षरः परमः स्वराट् सएव विष्णुः स प्राणः** इति सावधारणम् '**एव**'कारेण विष्णुत्वकथनाद् विष्णुरेव अधिकारिविशेषानुग्रहाय शिवरूपं प्रकटयति इति ध्येयं शिवरूपम् उत्तमं सोपानभूतयोनित्वादिविशिष्टं सर्वदेवतात्मकं सर्वात्मकं यत् तत्तु प्राप्यम् इति द्वयोः

स्वरूपम् उक्तं भवति. अतएव द्वितीयस्वरूपम् उक्त्वा **ज्ञात्वा तं मृत्युम् अत्येति, नान्यः पन्था विमुक्तये** इत्यत्र 'तम्' इति उक्तफलोक्त्या अन्यसाधननिषेधोक्त्या च एतस्य एतज्ज्ञानस्य च फलसाधनपराकाष्ठात्वं ज्ञापितम्. एतद्दार्ढ्यायैव **सर्वभूतस्थम् आत्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना** इति परत्वमपि अस्य ज्ञापितम्.

यदि ध्येयस्यैव प्राप्यत्वम् अभिप्रेयात् तदा **उमासहायम्** इत्यतः पूर्वमन्त्रे **अचिन्त्यम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्** इति 'अनन्तरूप'-'योनि'पदाभ्यां सर्वदेवतात्मकत्व-भूतयोनित्वयोरपि प्राप्तत्वाद् ''ध्यात्वा मुनिः याति परं तमेव'' इति वदेत् नतु **गच्छति भूतयोनिम्** इति.

तस्मात् परामृतस्वरूपज्ञापनायैव एवम् उक्तिः इति निष्कर्षः.

आत्मानम् अरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्.
ज्ञाननिर्मथना-भ्यासात् पापं दहति पण्डितः ।।११।।

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरम् आस्थाय करोति सर्वम्. स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिम् एति ।।१२।।

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पित-जीवलोके. सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपम् एति ।।१३।।

आश्वलायनेन पापनिवृत्तिद्वारा परप्राप्तिसाधनस्य पृष्टत्वात् तदधिकारं हीनं ज्ञात्वा पापदाहाय प्रणवेन उपासनं यतः उक्तवान् **आत्मानम् अरणिम्** इति मन्त्रेण ततः सर्वस्य यदि तदात्मकत्वं तदा शरीरस्य कथं पापभागित्वम्? इति आशंकापरिहाराय तत्प्रकारम् आह **सएव** इत्यादि(ना) **विचित्रम्** इत्यन्तम्. तथाच मायामोहेन तस्य एवम्भावइति तस्य पापभागित्वम्. जीवश्च काशकृत्स्नमते ब्रह्मावस्थाविशेषः इति च.

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः. पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवः ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्.

ततो मुक्तियोग्यत्वाय अमुग्धजीवस्वरूपं बोधयितुं तदाधारब्रह्मस्वरूपं पुनः आह **आनन्दम्** इत्यारभ्य **सूक्ष्मतरं नित्यम्** इत्यन्तम्.

आधारम् आनन्दम् अखण्डबोधं यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च ।।१४।।
एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च. खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।१५।।

ततो मुक्त्यर्थम् ऐक्यम् अस्य आह **तत्त्वमेव त्वमेव तद्.**

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्. सूक्ष्मासूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत् ।।१६।।

एवम् उक्ते अभेदएव प्रतीयेतेति तन्निरासाय तादात्म्यं बोधयति **जाग्रद्** इत्यनेन. तथाच बन्धाभावार्थमेव अभेदोक्तिः वस्तुतस्तु तादात्म्यमेव इति अर्थः.

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते. तद्ब्रह्माहम् इति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ।।१७।।

एतदेव बोधयितुम् ऐक्यज्ञानप्रकारम् आह **त्रिषु** इत्यारभ्य **नच अम्बरं च** इत्यन्तम्.

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्. तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ।।१८।।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्. मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।।१९।।

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्. पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ।।२०।।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्यामि अचक्षुः स शृणोति अकर्णः. अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ।।२१।।

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्. न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ।।२२।।

न भूमिरापो न च वह्निरिस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च.

एतदेव निगमयति **एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलम् अद्वितीयं समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्** इति.

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।।२३।।

।। इति कैवल्योपनिषदि प्रथमः खण्डः ।।१।।

'परं'=स्थानत्रयविलक्षणात्मनो जीवस्य रूपम् **एवं विदित्वा** गुहाशयादिलक्षणं **परमात्मरूपं** प्रयाति इति अर्थः. तथाच एवं जीवं शिवरूपत्वेन ज्ञात्वा परं ब्रह्म प्राप्नोति इति अर्थः सम्पद्यते. तेनापि अमृतत्वोत्तरं परामृतप्राप्तिः इति उक्ता भवति.

एवं पूर्वोक्ताशंकाम् अपाकृत्य पाण्डित्ये प्रणवाभ्यासेन पापदाहस्य पूर्वम्

उक्तत्वात् तदभावे साधनान्तरम् आह **यः शतरुद्रीयम्** इत्यादिना **आश्रितो भवति** इत्यन्तम्.

समस्तसाक्षिं सदसद् विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्.
यः शतरुद्रीयम् अधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यातः पूतो भवति स सुवर्णस्तेयात्पूतो भवति स कृत्याकृत्यात्पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति.

अत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत्. अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्. तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं फलमश्नुते कैवल्यं फलमश्नुत इति ।।२४।।

।। इति कैवल्योपनिषदि द्वितीयः खण्डः ।।२।।

एवम् अस्य अविमुक्ताश्रयरूपं फलम्. पश्चादपि अस्य आवर्तनाय आह **अत्याश्रमी सर्वदा सकृद् वा जपेत्** ततः फलम् आह **अनेन ज्ञानम् आप्नोति संसारार्णवनाशनम्. तस्माद् एवं विदित्वा एनं कैवल्यं फलम् अश्नुते** इति. तथाच अन्त्याश्रमी उत्तमस्तु प्रणवेन, मध्यमः सकृत् शतरुद्रीयजपेन, निकृष्टः सर्वदा जपेन पूतो भवति. त्रिविधस्यापि संघातपृथग्भावफलम् आप्नोति इति अर्थसंग्रहः.

इति कैवल्योपनिषदर्थसंग्रहः सम्पूर्णः

(आद्यसम्पादकीयम्)

अयं ग्रन्थः श्रीपुरुषोत्तमैरेव निर्मितः. एतद्ग्रन्थोपन्यासोऽपि भाष्यप्रकाशे ११०० तमे पत्रे तैरेव कृतः. श्रीपुरुषोत्तमैः ५२ वादग्रन्था निर्मिताः इति बहुवारं श्रुतम् अस्माभिः तथापि तेषां नाम्नामपि अप्राप्यत्वाद् अवतारवादावल्यां चतुर्विंशतिमात्रग्रन्थानां समाविष्टत्वाद् नेदं युक्तम् इति प्रतिभाति. श्रीपुरुषोत्तमैः ५२ उपनिषदर्थसंग्रहो निर्मितः सएव कैश्चिद् अपरैः 'वादग्रन्था'ख्यया ख्यापितः इति अनुमानं न सर्वथा असंगतम्. दयारामकविः यतो

गुरुशिष्यसंवादग्रन्थे ‘‘उपनिषद् तो मात्र बावन’’ इति ५२ उपनिषदर्थाध्ययनम् इच्छारामतः स्वविद्यागुरोः निवेदयति. श्रीपुरुषोत्तमकृतोपनिषदर्थसंग्रहान्तःपाती ब्रह्मोपनिषदर्थसंग्रहस्तु प्रागेव अस्मिन् मासिके मुद्रितः इति विदांकुर्वन्तु विद्वांसः. ‘माण्डूक्योपनिषद्दीपिका’ अस्मत्सविधे विद्यमाना द्रागेव प्राकाश्यं गमिष्यति. उपनिषदन्तरदीपिकाः तदर्थसंग्रहो वा मुद्रणार्थम् अस्मभ्यं ददतां महोदारचरितं न कदापि विस्मरिष्यामः

(‘पुष्टिभक्तिसुधा’वर्ष ५ अंक ६, विक्रमसं.१९१७ श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला).

V

।। *ब्रह्मोपनिषदर्थसङ्ग्रहः ।।

ॐ शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्लादम् अपृच्छत्. [क]दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति, कथं सृजन्ति, [ख]कस्यैष महिमा बभूव [ग]यो ह्येष महिमा बभूव क एषः ?

तस्मै स होवाच ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम्. [घ]प्राणो ह्येष आत्मा, [ङ]आत्मनो महिमा बभूव. देवानामायुः, स देवानां निधनमनिधनं दिव्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं यद् ब्रह्म विभाति स नियच्छति, मधुकरराजानं माक्षिकवत्. यथा माक्षीकैकेन तन्तुना जालं विक्षिपति तेन अपकर्षति तथैवैष प्राणो यदा याति संसृष्टम् आकृष्य. प्राणदेवतास्ताः सर्वा नाड्यः सुष्वपे श्येनाकाशवद् यथा खं श्येनमाश्रित्य याति स्वमालयमेवं सुषुप्तो ब्रूते. [च]यथैवैष देवदत्तो यष्ट्यापि ताड्यमानो न यत्येवम् इष्टापूर्तैः शुभाशुभैर्न लिप्यते. यथा कुमारो निष्काम आनन्दम् उपयाति तथैवैष देवदत्तः स्वप्न आनन्दम् अभियाति. [छ]वेदएव परं ज्योतिः. ज्योतिष्कामो ज्योतिरानन्दयते, भूयस्तेनैव स्वप्नाय गच्छति जलौकावत्. यथा जलौकाऽग्रमग्रं नयत्यात्मानं नयति परं संधय. यत्परं नापरं त्यजति स जाग्रद् अभिधीयते. यथैवैष कपालाष्टकं संनयति, तमेव स्तन इव लम्बते वेददेवयोनिः. यत्र जाग्रति शुभाशुभं निरुक्तम् अस्य देवस्य स संप्रसारो अन्तर्यामी [ज]खगः कर्कटकः पुष्करः पुरुषः प्राणो हिंसा

(*श्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमसंगृहीतोपनिषदर्थसंग्रहाख्यग्रन्थस्य एकदेशः एषः इति प्रतिभाति. एतद्ग्रन्थवितरणेन भूर्युपकृता वयं कैश्चिद् गोस्वामिभिः. यदि समस्तोऽपि उपनिषदर्थसंग्रहो वितीर्येत एवमेव प्राकाश्यं नीयेत अस्माभिः इति कृतं बहुपल्लवितेन. **आद्यसम्पादकीयम्.**)

परापरं ब्रह्म, आत्मा देवता वेदयति. य एवं वेद स परं ब्रह्म धाम क्षेत्रज्ञम् उपैति ।।१।।

(क)

ब्रह्मोपनिषदितु शौनकः कार्यतः शास्त्रान्तरतो वा शरीरे वागादीनां देवानां प्रतिष्ठाम् अवष्टभ्य अङ्गिरसं सम्पृच्छति. तत्र **दिव्ये** इत्यादि **कथं सृजन्ति** इत्यन्तेन उक्तो यः सतु ते एकैकशः सङ्घशो वा इति तत्कार्यस्यैव कथङ्कारप्रश्नः प्रथमः.

(ख)

ततः **कस्य एष महिमा बभूव** इति तेऽपि किं स्वमहिम्नान्यमहिम्ना वा इति महिमवतः प्रश्नो द्वितीयः.

(ग)

यो हि एष महिमा बभूव क एषः? इति महिमस्वरूपप्रश्नः तृतीयः इति त्रयः प्रश्नाः.

तत्र त्रिभिरपि ब्रह्मणएव पृष्टत्वाद् उत्तरस्य ब्रह्मविद्यात्वं स्वयं श्रुतिः वदन्ती वक्रमुखेन उत्तरं वक्ति. तत्रापि त्रयाणां सामान्यम् उत्तरं **(घ)प्राणो हि एष आत्मा** इति. सएस प्रश्नोत्तरभूतः इति अर्थः. कथम् एवम्? इति आकांक्षायां ब्रह्मणि महिमवति ज्ञाते सर्वं सुखेन ज्ञायते इति द्वितीयस्य उत्तरं प्रथमतो वदति **(ङ)आत्मन** इत्यादि. कथम् एवम्? इति आकांक्षायां आह **देवानाम्** इत्यादि. कुतः? इति आकांक्षायां तस्य स्वरूपम् आह **अनिधनम्** इत्यादिना. न हि एतादृशस्य अस्य महिम्ना ते कथं सृजन्ति इति आकांक्षायाम् एतस्य तन्नियामकत्वं सदृष्टान्तम् आह **स नियच्छति** इत्यादिना. तथा च लूतास्थानीयः पर आत्मा, तन्तुः प्राणो, महिमरूपजीवः, जालस्थानीया नाड्यः, मक्षिकास्थानीया वागादयः तान् सुषुप्तौ ब्रह्मणि नयति. सुषुप्तौ ब्रह्मण्येव लीयते इति अत्र गमकम् आह **सुषुप्तो ब्रूते** इति. उत्थितः सन् ''सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'' इति आनन्दानुभवं

ब्रूते. आनन्दश्च ब्रह्म.

ननु तत्रैव नयतीति शुभाशुभकर्मसु सत्सु कथं ब्रह्मानुभवः? इति आकांक्षायां तदानीं तदसंसर्गम् आह **यथेव** इत्यादि. तर्हि नित्यं सुखं तत्र अस्ति इति अत्र किं मानम्? इत्यत आह **(च)यथा कुमार** इति.

एवं केवलस्य आनन्दकत्वम् उक्त्वा सृष्टिरूपं कार्यम् अवस्थात्रयं विवृणोति **(छ)वेदएव** इति आरभ्य शुभाशुभं निरुक्तम् अस्य इत्यन्तम्. नियमने दृष्टान्तम् आह **देवस्य स सम्प्रसारो अन्तर्यामी** इत्यादि. तथा च अन्तर्हितएव सर्वान् नियच्छतीति तं न कोऽपि जानाति इति अर्थः. महिम्नः स्वरूपं सदृष्टान्तम् आह **कर्कटः पुष्करः पुरुषः प्राणो हिंसा पराम्** इति. वक्रगामित्वाद् यागादिपुष्टिकरत्वात् पुरिशयनात् प्राणनकारित्वाद् हिंस्रत्वाद् अपरत्वाद् एष शारीरः तन्महिमरूप इति अर्थः. ईदृशोऽपि न तस्माद् भिन्नः इति वक्तुं पुनः ब्रह्मणः स्वरूपम् आह **परापरं ब्रह्मात्मा** इति. अतः सर्वं तदभिन्नम् इति अर्थः. पुनः माहात्म्यम् आह **देवता वेदयति** इति. एवं ज्ञानस्य फलम् आह **य एवं वेद** इत्यादि. एवं परब्रह्मणो नियामकत्वं स तन्महिमरूपस्य शरीरस्य साक्षिणः स्वरूपं जानाति इति तृतीयस्य उत्तरं फलपर्यन्तम् उक्तम्.

समाप्तः प्रथमः खण्डः.

एवं महिमस्वरूपम् उक्त्वा महिमवतो ब्रह्मणः स्वरूपं परिचाययितुं द्वितीयखण्डे भिन्नप्रक्रमेण आह (क)**अथ** इत्यादि

.

(क)**अथ अस्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति. नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति. तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति. जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयम् इति.**

(ख)**जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रः तुरीयं परमाक्षरम्. स आदित्यश्च विष्णुश्च ईश्वरश्च स पुरुषः स**

प्राणः स जीवः सो अग्निः सेश्वरश्च जाग्रत्...

ततो द्वितीयखण्डे ''**अथ अस्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिः हृदयं कण्ठं मूर्द्धा इति. तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति**'' इति प्रकृत्य ''**जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयम्**'' इति चतुष्पादान् निर्दिश्य किम् अवस्थारूपाएव पादाः उत अतिरिक्ता इति आकांक्षायां (ख)''**जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्ते रुद्रः तुरीयं परमक्षरम्**'' इति. तत्र पादानां स्वरूपं च उक्त्वा ''**स आदित्यः स विष्णुश्च ईश्वरश्च स पुरुषः स प्राणः स जीवः सो अग्निः स ईश्वरः स जाग्रद्**'' इत्यनेन त्रिभ्यः तुरीयस्य उत्कर्षमपि उक्त्वा ततोऽपि उत्कर्षाय चतुष्पादमात्रात्मकतावारणाय च अग्रे पठ्यते :

(ग)''**तेषां मध्ये यत्परं विभाति स्वयम् अमनस्कम् अश्रोत्रम् अपाणिपादं ज्योतिर्विवर्जितं न तत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः पशवो न पशवः तापसो न तापसः इति एकमेव परं ब्रह्म विभाति हृद्याकाशं यस्मिन् इदं सञ्चरति विचरति यस्मिन् इदं सर्वम् ओतप्रोतं सं विभोः प्रजाः सत्यपरं न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद् इति**''.

अत्र तेषां पूर्वोक्तानां चतुर्णां पादानां मध्ये यत् परं ब्रह्म विभाति इति ब्रह्मणः चतुर्षु ब्रह्मादिषु पादेषु अनुसीवनम् उक्त्वा तत्स्वरूपम् आह **स्वयम्** इत्यारभ्य **विवर्जितं न** इत्यन्तेन. अत्र **अमनस्क** इति अन्तर्बहिः इन्द्रियशरीरनिषेधोत्तरं **विवर्जितं न** इत्यनेन मनआदिराहित्यनिषेधमुखेन तेषां प्रतिप्रसवात् परब्रह्मणि अप्राकृताकारो बोधितः. तथाच यथा अस्मदादिषु सजातीय-विजातीय-स्वगतद्वैतं तथा न ब्रह्मणि, किन्तु तत्कार्यं स्वयमेव करोतीति

त्रिविध–द्वैतवर्जितं स्वयमेव सर्वाकारम् इति अर्थः. नच **''अपाणिपादो जवनो गृहीता''**(श्वेता.उप.३।१९) इति श्रुत्युक्ततत्तत्कार्यकर्तृत्वम् अस्तु नतु तत्तद्रूपताऽपि इति वाच्यं, प्रतिप्रसवव्याकोपात्. नच श्रुत्यन्तरविरोधः **''चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्''**(बृहदा.उप.४।४।१८) इत्यादि–श्रुत्यन्तरानुरोधाद् उक्तश्रुतावपि कार्यद्वारा अप्राकृततत्समर्पणे बाधकाभावात्. अतएव परिच्छेदत्रयातीतत्वसिद्धेः श्रौते अर्थे दृष्टविरोधस्य अकिञ्चित्करत्वात्. नच 'ज्योतिः वर्जितम्' इति एकं पदं, तथासति तन्मात्रप्रतिप्रसवेऽपि ज्योतिःसाहित्यस्य द्वैतापादकत्वेन ज्योतीरूपम् इत्येव अर्थो वाच्यः, तदापि उत्तरवाक्यस्वारस्यात् सर्वाकारत्वस्यैव सिद्धेः व्याख्यानक्लेशमात्रपर्यवसानात्. पदभेदपक्षस्यैव ज्यायस्त्वात्. अतएव उत्तरवाक्ये **''लोका न लोका''** इत्यादिना उपलक्षणविधया लोकाद्यनुवादपूर्वकं लोकादीन् निषिध्य **''इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति''** 'इति'शब्देन उक्तप्रकारवाचिना एकस्यैव परब्रह्मणः तद्रूपेण विभावनं वदति. यदि सर्वाभावम् अभिप्रेयाद् न लोकादीन् अनुवदेत्. निषेधप्रतियोगि–वाचकपदाभ्यामेव चारितार्थ्यात्. 'इति'शब्दस्य हेत्वर्थकत्वेऽपि अनुवादकबलाद् उक्तार्थस्य पारिशेष्यादेव सिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्. नञः पर्युदासार्थत्वेतु प्रकारवाचित्वमेव 'इति'शब्दस्य सिध्यतीति पूर्वोक्तस्यैव अर्थस्य तेनाऽपि सिद्धिः. एवं तत्स्वरूपम् उक्त्वा तस्यैव अन्तर्यामित्वम् अग्रे वक्तुम् उपासनादौ अभिव्यक्तिं च अभिप्रेत्य तस्य स्थानम् आह **हृद्याकाशः** इत्यादि. आधारस्वरूपम् आह **तत्सुषिराकाशम्** इति. कार्यम् आह **यस्मिन् इदं सञ्चरति** इत्यादि, **यस्मिन् इदं सर्वम्** इत्यादि च. तथाच यत् सर्वस्य कारणं यत्र विभोः स्वस्यैव प्रजा अपरब्रह्मरूपा विभुनियम्याः सन्ति इति सर्वप्रकारेण आधारं तद् इति अर्थः. एवं सन्दर्भेण विरुद्धधर्माश्रयत्वेन महामहिमवत्त्वं समर्थितम्. एवं ज्ञातुरपि उत्कर्षम् आह **न तत्र देवा** इत्यादिना.

(ग)**हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः ।**
हृदि प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च यन्महत् ।।१।।
हृदि चैतन्ये तिष्ठति.

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।।२।।
सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः ।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रम् इति धारयेत् ।।३।।
सूचनात् सूत्रम् इति आहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ।।४।।
येन सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद् योगी योगवित् तत्त्वदर्शिवान् ।।५।।
बहिःसूत्रं त्यजेद् विद्वान् योगम् उत्तमम् आस्थितः ।
ब्रह्मभावमयं सूत्रं धारयेद् यः स चेतनः ।।६।।
धारणात् तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ।
सूत्रम् अन्तर्गतं येषां ज्ञान-यज्ञोपवीतिनाम् ।।७।।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।।८।।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानम् उच्यते ।
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।।९।।
स 'शिखी'ति उच्यते विद्वान् इतरे केशधारिणः ।
कर्मणि अधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।।१०।।
तैः संधार्यम् इदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ।
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।।११।।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ।
इदं यज्ञोपवीतं तु पवित्रं यत् परायणम् ।।१२।।
स विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात् स यज्ञः स च यज्ञवित् ।
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।।१३।।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।
एको मनीषी निष्क्रियाणां बहूनाम् एकं रूपं बहुधा यः करोति ।।१४।।

तम् आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां शांतिः शाश्वती न इतरेषाम्।
आत्मानम् अरणिं कृत्वा प्रणवं च उत्तरारणिम् ।।१५।।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् एवं पश्येद् निगूढवत् ।
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रातः स्वरणीषु चाग्निः ।।१६।।
एवम् आत्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येन एनं तपसा यो अनुपश्यति ।
ऊर्णनाभिर् यथा तन्तून् सृजते संहरत्यपि ।।१७।।
जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ।
पद्मकोश–प्रतीकाशं सुषिरं चापि अधोमुखम् ।।१८।।
हृदयं तद् विजानीयाद् विश्वस्य आयतनं महत् ।
नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत् ।।१९।।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ।
यदात्मा प्रज्ञयात्मानं संधत्ते परमात्मनि ।।२०।।
तेन सन्ध्या ध्यानमेव तस्मात् सन्ध्याभिवन्दनम् ।
निरोदका ध्यानसन्ध्या वाक्कायक्लेश–वर्जिता ।।२१।।
सन्धिनी सर्वभूतानां सा सन्ध्या ह्येकदण्डिनाम् ।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।।२२।।
आनन्दम् एतद् जीवस्य यं ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ।
सर्वव्यापिनम् आत्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।।२३।।
आत्माविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ।
सर्वात्मैकत्वरूपेण तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् इति ।।२४।।

[ग](अस्य अंशस्य अर्थो ग्रन्थकारैः न संगृहीतः)

एवं नारायणकृतटीकानुरोधिनः प्रसिद्धपाठस्य अर्थः उक्तः.

शङ्करानन्दकृतव्याख्यायान्तु

''तुरीयम् अक्षरं स आदित्यो ब्रह्मा विष्णुश्च ईश्वरश्च स्वयम् अमनस्कम् अश्रोत्रम् अपाणिपादं ज्योतिर्विदितं यत्र लोका न लोका'' इत्यादि पूर्ववद् उक्त्वा **''एकमेव तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणं न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्या''** इति पाठः. तदाऽपि ईश्वरश्च इति अन्तेन शबलं तौरीयं रूपं निरूप्य अग्रे **स्वयम्** इत्यादिना **विभाति** इत्यन्तेन चतुष्पादस्य ब्रह्मणः स्वरूपम् अस्मद्व्याख्यानरीतिकमेव सिध्यति. यद्यपि वर्जितं न इत्यत्र विदितम् इति पठितं, तथापि कथं विदितम् इति आकांक्षायां **''यत्र लोका न लोका''** इत्याद्युत्तरं वाक्यमेव अन्वेति इति पूर्वोक्तएव अर्थो यतः. यत्तु ''ज्योतिः प्रकाशस्वभावं, विदितं स्वयम्प्रकाशमानम्'' इति तेन व्याख्यातं तद् असङ्गतम्. ज्योतिःपदेनैव अर्थादेव स्वयम्प्रकाशमानत्वसिद्धेः अन्यतरवैयर्थ्य–पौनरुक्त्ययोः आपत्तेः. एवमपि अनुवादकपदेभ्यो अनूद्य सङ्ग्राहक–तत्पदाच्च उक्तरीतिः कार्याप्रतिरोधात्. बाधकाभावे तत्पदस्य सन्निहित–परामर्शितायाएव औचित्यात्. अन्यथा वैयर्थ्यापाताच्च. तस्माद् उक्तार्थो निष्प्रत्यूहः. एवं सति **''न तत्र देवाः''** इत्यादिना उक्तम् अनन्येश्वरत्वमपि निर्व्याजं तत्रैव पर्यवस्यति. तथा **''एको देवः''** इत्यादिमन्त्रेण अन्तर्यामित्वं सर्वकर्मफलदातृत्वमपि तस्यैव. **''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च''** इति 'निर्गुण'पदात्. तदग्रे **''एको मनीषी निष्क्रियाणां बहूनामेकं सन्तं बहुधा यः करोति तम् आत्मानं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिः शाश्वती न इतरेषाम्''** इति पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वे एकस्यापि तुरीयस्य अवस्थात्रयत्वेन बहुधाकरणं च उक्त्वा तस्य अनुग्रहेण आत्मनि तद्दर्शने शाश्वतशान्तिरूपं फलमपि ततएव उक्तं भवति. तदग्रे जीवस्य अवस्थात्रये स्थानभेदो मूर्द्धन्येव ऐक्यम् इत्यपि योगिनां तत्र ऐक्यानुभावाय उक्त्वा **''यतो वाचो''** इति मन्त्रेण तादृशानन्दप्राप्यत्वेन जीवस्य सम्बन्धित्वं वदन् ज्ञातुः मुक्तिरपि तद्ध्यानेनैव उक्ता.

इति गोस्वामीश्रीपुरुषोत्तमकृतो ब्रह्मोपनिषदर्थसंग्रहः समाप्तः.

गोस्वामिश्रीश्रीपुरुषोत्तमचरणविरचितदीपिकया समलङ्कृता

श्रीनृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्।

ॐ भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर् व्यशेम देवहितं यदायु:।।१।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा: स्वस्ति न: पूषा विश्ववेदा:।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिनेष्टमि: स्वस्ति नो बहस्पतिर् दधातु।।
ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।

ॐ देवा ह वै प्रजापतिम् अब्रुवन् अणोरणीयांसम् इमम् ॐकारं नो व्याचक्ष्वेति. ॐ तथेति ॐइत्येतदक्षरम् इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्. भूतं भवद्-भविष्यद् इति सर्वम् ॐकारएव. यश्च अन्यत् त्रिकालातीतं तदपि ॐकारएव. सर्वं हि एतद् ब्रह्म अयम् आत्मा ब्रह्म. तम् एतम् आत्मानम् ॐइति ब्रह्मणा एकीकृत्य ब्रह्म च आत्मना ॐइत्येकीकृत्य तदेकम् अजरम् अमृतम् अभयम् ॐइति अनुभूय तस्मिन् इदं सर्वं त्रिशरीरम् आरोप्य तन्मयं हि तदेव इति संहरेद् ॐइति. तं वा एतं त्रिशरीरम् आत्मानं परं ब्रह्म अनुसन्दध्यात्.

नृसिंहपूर्वतापिन्यां प्रजापतिना श्रीनृसिंहस्वरूपे बोधिते तन्मन्त्रराजोद्धारे च कृते प्रणवमात्राणां मन्त्रराजपादानां च ऐक्ये च ऐकार्थ्याय बोधिते देवैः मन्त्रराजाङ्गमन्त्राः पृष्टाः तदा प्रजापतिना पूर्वं प्रणवो अङ्गमन्त्रः उक्तः. विश्व-तैजस-प्राज्ञ-तुरीयाख्य-चतुष्पाद-ब्रह्मवाचकतया ब्रह्माभिन्नत्वेन उपासनार्थं व्याख्यातश्च. तत्र कालपरिच्छेद्यस्य सर्वस्य त्रिकालातीतस्य शारीरादेश्च ॐकारत्वश्रवणात् परमात्मनश्च ॐकारस्य चतुष्पादत्वश्रवणात् सर्वस्य तत्पादताश्रावणात् तत्र सन्देहाभावेऽपि स्वस्मिन् तादृङ्माहात्म्यशून्यतानुभवाद्

ॐकारात्मताविरोधे जाते प्रजापत्युक्तार्थं सन्दिहानैः देवैः उत्तरतापिन्यारम्भे शारीरस्य ब्रह्माभेदज्ञानार्थम् एतद्वाचकतया ॐकार–व्याख्यानाय प्रजापतिः चोदितः **अणोरणीयांसम् इमम् आत्मानम् ॐकारं नो व्याचक्ष्व** इति. अयं शारीरो अत्यन्तम् अणुः असर्वरूपो अपादरूप ॐकारवाच्यो भवितुं न अर्हतीति कथम् अस्य त्रिकालातीतस्य परब्रह्मनृकेसर्यभिन्नत्वम् अतः तद्बोधनाय येन रूपेण अस्य प्रणववाच्यत्वं तद्व्युत्पादय इति चोदनाबीजम्. तदा प्रजापतिः **तथा इति** अङ्गीकृत्य व्याकुर्वन् **ॐइत्येतद्** इति आरभ्य **अयम् आत्मा ब्रह्म** इत्यन्तेन ब्रह्मत्वेन रूपेण ॐकारवाच्यत्वप्रतिज्ञां स्मारयित्वा शाब्दजातस्य[१] कुतर्कोपघातेन तिरोभावम् आशङ्क्य अस्मिन् ब्रह्मरूपतानुभावनाय यतमानः **तमेतम्** इत्यादिना **अनुभूय** इत्यन्तेन अजरामरामृताभयरूपतया उभयोः ऐक्यम् आहार्यवृत्तिरूप–प्रणवात्मना अनुभवम् अनूद्य तावता तुरीयपादैकदेश–साजात्येन तदात्मकताम् अस्मिन् बोधयित्वा पादान्तरसाजात्याय **तस्मिन् इदम्** इत्यादिना **ॐ**इति इत्यन्तेन शरीरत्रयारोपद्वारा सर्वस्य शारीरे संहारं विदधानः संहृतस्य शरीरत्रयस्य अस्मिन् स्थित्या अस्य त्रिशरीरत्वे यादृशं प्रलयकाले चतुष्पादब्रह्मरूपं तादृशम् एतत्स्वरूपं भावनीयम् इति आशयेन तथा भावनं विधत्ते ''**तं वा एतमित्याद्यनुसन्दध्याद्**'' इत्यन्तम्. उभयत्र त्रिशरीरपदात् शारीरे आरोपो, ब्रह्मणितु प्रलयदशायामपि वास्तवं त्रिशरीरत्वम् इति बोधितम्. 'त्रिशरीर'पदेन प्राप्तं भेदं परिहर्तुं सर्वात्मकत्वाय षड्ढेतून् आह

स्थूलत्वात् स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मभुक्त्वाच्च
ऐक्याद् आनन्दभोगाच्च. सो अयम् आत्मा चतुष्पात्.

'स्थूलत्वाद्' इत्यादि. तथाच त्रिशरीरत्वेऽपि स्थूलादिसर्वरूपत्वाद् न भेदो यथा बह्मणि तथा शारीरस्यापि आरोपितशरीरत्रयस्य आरोपितस्थूलादि–सर्वरू(?प)त्वाद् न भेदः इति अर्थः. नच शरीरत्रयकथने वैयर्थ्यं शङ्क्यम्. सर्वं हि एतद्ब्रह्म इति पूर्वं प्रतिज्ञानात्. ''**परं च अपरं ब्रह्म यदोङ्कार**'' (प्रश्नोप.५।१) इतिश्रुत्यन्तराच्च. तथाच एवंभावनया अहङ्ग्रहोपासनायाम् अस्य

स्वस्मिन् तादृग् माहात्म्यवत्त्वं प्रभेदश्च स्फुरिष्यति इति भावः. एवम् ''**अयम् आत्मा ब्रह्म**'' इत्यन्तो ग्रन्थः सूत्ररूपो अहङ्ग्रहोपासनायोग्यप्रकारेण शारीरसङ्ग्राहकतया व्याकृतः.

अतः परम् एतद्वृत्तिरूपं ''**सो अयम् आत्मा**'' इत्यादिग्रन्थं ''**सो अयमात्मा**'' इत्यारभ्य ''**तुरीय**'' इत्यन्तया पूर्णकण्डिकया व्याचष्टे श्रुतौ सत्पदार्थोत्पत्त्यङ्गीकारात् सृष्टिदशायां चतुष्पात्त्वेन अभेदभावनार्थम्. अन्यथा प्रणवप्रत्तिपाद्य–चतुष्पादात्माभेदः इदानीम् अस्य न स्फुरेत्. परस्परात्यन्त–विलक्षणयोः घटपटयोरिव पार्थिवत्वादिना यत्किञ्चित् साजात्येऽपि ऐक्यभावनस्य अत्रापि अशक्यत्वात्. तत्र बुद्धेतु चतुष्पात्त्वे साजात्यात् तुरीयाभेदो अस्मिन् शक्यबोधः इति पूर्ववत् पादत्रयम् आरोपयितुं पूर्वं ब्रह्मणः चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय तत्पादत्रयं पूर्वम् आह

जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभूक् चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः

स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः सूक्ष्मभूक् चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः.

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्. तत् सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एव आनन्दमयो ह्यानन्दभूक् चेतोमुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरः तृतीयः पादः.

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषो अन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य, प्रभवाप्यप्यौ हि भूतानाम्.

'**जागरितः**' इति आरभ्य '**भूतानाम्**' इत्यन्तम्. पूर्वतापिन्यां 'बहिःप्रज्ञ'पदेन उक्तो अर्थो अत्र 'स्थूलप्रज्ञ'पदेन उच्यते, 'अन्तःप्रज्ञ'पदार्थश्च 'सूक्ष्मप्रज्ञ'पदेन. स्थूले प्रज्ञा अस्य येन असौ स्थूलप्रज्ञः. स्थूलप्रज्ञत्वादयो धर्माः

प्रथमपादाद् अभिन्नाः ज्ञापयितुं चतुरात्मा इति. उक्तचतुष्टयात्मकः इति अर्थः. एवम् अग्रेऽपि. विश्व-तैजस-प्राज्ञानां स्वरूपं बोधयितुं 'वैश्वानर-हिरण्यगर्भेश्वर'पदानि. शेषं पूर्ववदेव च्च(?) माण्डूक्यविवरणे विवृतम्.

एवं ब्रह्मपादत्रयम् उक्त्वा शारीरस्य आह **त्रयम् एतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो हि अयम् आत्मा** इति.

त्रयम् एतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो हि अयम् आत्मा.

तथाच ब्रह्मपादानां यत् स्थानं तद् आधेयारोपात् तत्पादात्मकं सद् एतद्भासितत्त्वाद् एतस्य पादत्रयम् इति अर्थः. नच अत्र **'एतत्'**शब्देन विश्वादयएव परामृश्यन्ते इति वाच्यं, स्थानत्वोक्तिव्याकोपापातात्. त्रयम् उद्दिश्य अत्र आत्मत्वविधानानङ्गीकारेण पूर्वोक्तपादत्रयस्यैव मायामात्रत्वाङ्गीकारे 'सुषुप्त-स्वप्न'पदयोः वैय्यर्थ्यापत्तेः वाक्यानन्वयापत्तेश्च.

एवं पादत्रयम् आरोपितम् अस्मिन् उक्त्वा चतुर्थपादसाजात्यस्य अस्मिन् सत्त्वात् साजात्येऽपि न्यूनत्वं बोधयितुं ब्रह्मतुरीयपादस्य मुख्यत्वं च बोधयितुं भिन्नप्रक्रमेण आह **अथ चतुर्थः** इत्यादि.

अथ चतुर्थश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वाद् एकैकस्य ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैः.

तस्य स्वरूपम् आह **'चतुरात्मा'** इत्यारभ्य **'अविकल्पैः'** इत्यन्तम्. सर्वेषु प्रत्येकचतुरात्मत्वकथनं प्रणवस्य चतुर्मात्रत्वात् सर्वेषां पादानां प्रत्येकं प्रणववाच्यत्वाय अग्रिमकण्डिकायां फलिष्यति. एकैकस्य वैश्वानरादेः तुरीयावसितत्वाद् ओतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैः रूपैः चतुरात्मा चतुर्थः पादः. तथाच वैश्वानरस्य तुरीयावसितत्वात् तुरीयः **ओतः** तैजसस्य तथात्वाद् अनुज्ञाता. प्राज्ञस्य

तथात्वाद् अनुज्ञारूपः तुरीयस्य तथात्वाद् अविकल्पः इति अर्थ:. शारीरस्य तुरीयांशतया तत्स्वरूपत्वाय सत्सरूपतां शारीरे अतिदिशति.

त्रयम् अत्रापि सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्यथायम् आदेश:.

'त्रयम् अत्रापि' इत्यादि. तथाच यथा ब्रह्मपादत्रयं तुरीये अवसितम् एवम् एतत्त्रयम् अत्र अवसितम् अतः चिदेकरस: शारीरोऽपि चतुरात्मा आदिश्यते इति अर्थ:. तेन चतुरात्मत्वांशेऽपि आरोपितमिव जघन्यमेव साधर्म्यम् इति भाव:. पूर्वोक्तं पादत्रयम् अपरब्रह्मात्मकं तुरीयाधारकम् इति तुरीयस्य लक्षणम् आह **'न स्थूल्यप्रज्ञम्'** इत्यारभ्य **'मन्यन्ते'** इत्यन्तम्.

न स्थूलप्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं न उभयत: प्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम् अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तम् अद्वैतं मन्यन्ते:.

लक्षणम् उक्त्वा तस्य मुख्यताबोधकं वाक्यम् अनुवदन् तस्य बलम् आह

स एवात्मा सएव विज्ञेय ईश्वरग्रासः तुरीयस्तुरीय:.

ईश्वरग्रासः तुरीयः इति. ईश्वरं पूर्वोक्तं प्राज्ञं ग्रसतीति तथा. तत्साधर्म्यं जीवः आह 'तुरीयः' इति. तथाच मुख्यपादैकदेशस्वरूपलक्षणस्य अत्र सत्त्वात् कार्ये ईश्वरग्रासत्वेऽपि ऐकदेशिकसाधर्म्याच्च ॐङ्कारेण एकीकरणे अयम् अणुरपि ॐङ्कारवाच्याभिन्नत्वेन भावयितुं शक्यः इति अस्यापि ॐङ्कार–वाच्यत्वम् अनेन रूपेण एवम् आरापेण च भवति इति अस्य नृकेसर्यभिन्न(त्व)मेव ज्ञेयम् इति अर्थ:.

इति प्रथमः खण्डः.

।। अथ द्वितीयः खण्डः ।।

तं वा एतम् आत्मानं जाग्रत्यस्वप्नम् असुषुप्तं स्वप्ने जाग्रतम् असुषुप्तं सुषुप्ते जाग्रतम् अस्वप्नं तुरीये अजाग्रतम् अस्वप्नम् असुषुप्तम् अव्यभिचारिणं नित्यानन्दं सदैकरसं ह्येवं चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर् द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा, ततः सर्वस्माद् अस्माद् अन्यो विलक्षणः.

चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी, ततो अविक्रियो महाचैतन्यो अस्मात् सर्वस्मात् प्रियतम आनन्दघनो ह्येवम् अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातम् एकरसमेव अजरम् अमरम् अमृतम् अभयं ब्रह्मैवापि अजयैनं चतुष्पादमात्राभिः ॐकारेण च एकीकुर्य्यात्।।

अथ अस्मिन् त्रिशरीरपरब्रह्मानुसन्धानस्य एकीकरणमूलकत्वाद् एकीकरणं स्वप्रकारं वाच्यम् इति आकांक्षायां **'सोऽयमात्मा'** इति आरभ्य **'मकार इति'** इत्यन्तेन माण्डूक्यवत् प्रणव–तद्वाच्ययोः अभेदं बोधयन्नेव प्रणवमात्राणां ब्रह्मपादानां च परस्परं तादात्म्यम् अग्रे कार्यार्थं प्रतिज्ञाय परब्रह्मणः तुरीयस्य स्वपादत्रयविलक्षणत्ववद् एतस्यापि स्वपादत्रयवैलक्षण्यं बोधयितुं **'तं वा एतम्'** इत्यारभ्य **'अभयम्'** इत्यन्तेन स्वरूपम् अस्य उपपादयन् स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वात् तुरीयाव्यभिचारित्वादिकं द्रष्टृत्वाद् दृश्यभिन्नत्वं तद्विलक्षणत्वं साक्षित्वाद् अविक्रियत्वं महाचैतन्यत्वं सर्वापेक्षाप्रियत्वेन आन्दघनत्वं सर्वापेक्षया पूर्वभातत्वेन एकरसत्वादिकं च उक्त्वा तेन ''न स्थूलप्रज्ञम्'' इत्यादिना उक्ततुरीयधर्मान् अस्मिन् बोधयित्वा तदवैलक्ष्याद् ब्रह्मैव इत्यनेन ब्रह्मत्वं विधाय **'अजयैनं चतुष्पादम्'** इत्यनेन चतुर्णां शारीरपादानाम् आरोपितत्वाय शारीरस्य मायया चतुष्पादत्वं स्मारयन् पूर्णारोपाद्यैकीकरणं द्विधा विधत्ते **मात्राभिः ॐकारेण वैकुर्याद्** इति.

ततः तत्प्रकारकथनार्थं पादमात्रयोः तादात्म्यम् आह **‘जागरित’** इत्यारभ्य **‘आदिमत्वाद्वा’** इत्यन्तेन.

> **जागरितस्थानः चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः चतूरूपो ॐकारएव. चतुरूपो ह्ययमकारः स्थूलसूक्ष्म–बीजसाक्षिभिः अकाररूपैः आप्तेः आदिमत्वाद्वा.**

चतुरात्मत्वात् चतूरूपो ॐकारात्मको विश्वो अकारात्मा चतुरात्मनः कथम् एकरूपाकारात्मकत्वम्? इति आकांक्षायाम् अकारस्यापि चतूरूपत्वं वदति **‘‘चतुरूपो हि अयम्’’** इत्यादि. **अयम्** इति प्रणवमात्रारूपः. स्थूलादीनितु प्रातिलोम्येन परापश्यन्त्यादिरूपाणि श्रुत्यन्तराद् ज्ञेयानि. अतो विश्वो यथा चतुरात्मत्वेन तथा अकारोऽपि. **‘‘अकारो वै सर्वा वाग्’’**(ऐत.उप.३।६।७) इति श्रुत्युक्तया सर्ववाग्व्याप्त्या पादान्तरादिमत्त्वेन च सर्वव्यापिप्रथमपादः विश्वात्मकः इति अर्थः.

> **स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात् साक्षित्वाच्च आप्नोति ह वा इदं सर्वम् आदिश्च भवति य एवं वेद. स्वप्नस्थानः चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भः चतूरूप उकारएव चतुरूपो ह्ययम् उकारः स्थूल–सूक्ष्मबीजसाक्षिभिः उकाररूपैः उत्कर्षाद् उभयत्वाद्वा स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात् साक्षित्वाच्च उत्कर्षयति ह वा ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति य एवं वेद. सुषुप्तस्थानः चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरः चतुरूपो मकार एव. चतुरूपो ह्ययं मकारः स्थूल–सूक्ष्मबीजसाक्षिभिः मकाररूपैः मितेः अपीतेर्वा. स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात् साक्षित्वाच्च मिनोति ह वा इदं सर्व्वम् अपीतिश्च भवति य एवं वेद.**

एवं पाद–मात्रयोः तादात्म्यं साधर्म्येण व्याख्याय एकीकरणप्रकारम् आह

‘स्थूलत्वाद्’ इत्यारभ्य **‘य एवं वेद’** इत्यन्तम्. यः एवं पाद–मात्रयोः ऐक्यं वेद सः आरोपितैः स्थूलत्वादिभिः स्वीयम् इमं पादं व्याप्नोति तदादिश्च भवदि इति. एवम् अग्रेऽपि. तथाच पादमात्रे यथा धर्मसादृश्येन परस्परात्मिके तथा शारीरोऽपि ब्रह्मधर्मसदृशारोपितधर्मवत्त्वेन ब्रह्म एकीभूतो भावनीयः इति भावः.

मात्राणाम् अमात्रकत्वात् कथं चतूरूपत्वम्? इति शङ्काव्युदासाय आह **मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कुर्याद्** इति.

> **मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कुर्य्यात्. अथ तुरीयः ईश्वरग्रासः स्वराट् स्वयम् ईश्वरः स्वप्रकाशः चतुरात्मा ओतानुज्ञात्रनुज्ञात्र–विकल्पैः ओतो ह्ययमात्मा यथेदं सर्वम् अन्तकाले कालाग्निःसूर्योऽस्रैः.**

तत्प्रकारस्तु उक्तएव. एवं मात्रात्रयवाच्यत्वम् अस्य व्युत्पाद्य चतूरूप–तुरीयस्वरूपत्वं व्याकर्तुं पूर्वं तुरीयस्य ईश्वरग्रासत्वकथनात् प्रसञ्जितं कार्येश्वरवादं च परिहर्तुम् **‘अथ’** इति भिन्नप्रक्रमेण तुरीयस्वरूपं वदिष्यन् तुरीयस्य ओतत्वनेश्वरग्रासत्वम् अनुज्ञातृत्वेन स्वराट्त्वम् अनुज्ञात्वेन स्वयम् ईश्वरत्वम् अविकल्पत्वेन स्वप्रकाशत्वम् ईश्वरग्रासादिभिः अविकल्पान्तैः पदैः उक्त्वा तेन प्राज्ञस्य ईश्वरगुणसारत्वादेव ईश्वरत्वं नतु स्वतः. स्वतस्तु तुरीयएव ईश्वरः इति तुरीयस्वरूपं–बोधयित्वा शारीरस्याजया चतुष्पात्वात् चतुरात्मतुरीयाभेदः भावनोपायत्वेन दृष्टान्तान् आह **‘‘ओतो ह्ययम् आत्मा यथेदम् अन्तकाले’’** इत्यादिना. तत्र ओतत्वे कालाग्निः दृष्टान्तः. तथाच यथा अन्तकाले सर्वं कालाग्निरूपं तथा सुषुप्तौ सर्वम् आध्यामिकं मायामयं शारीरे लीनत्वात् शारीराभिन्नम्. यथाच शास्त्रतः सूर्यस्त्रय्यात्मा तथा शास्त्रतः शारीरोऽपि आध्यात्मिकसर्वात्मा तथाच कैवल्योपनिषदि **‘‘यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च’’**(कैव.उप.१।१४) इति उक्तम्. **‘‘सएव माया परिमोहितात्मा शारीरमास्थाय करोति सर्वम्’’** (तत्रैव १।१२) इति च.

अनुज्ञाता ह्ययम् आत्मा अस्य सर्वस्य, स्वात्मानं ददाति दर्शयति इदं स्वात्मानमेव करोति, यथा तमः सविता, अनुज्ञैकरसो ह्ययम् आत्मा चिद्रूपएव. यथा दाह्यं दग्ध्वा अग्निः अविकल्पो ह्ययम् आत्मा अवाङ्मनोगोचरत्वात् चिद्रूपः चतूरूपः ॐकारएव. चतूरूपतो ह्ययम् ॐकारः ओतानुज्ञात्रनुज्ञात्र-विकल्पैः ॐकाररूपैरात्मव. नामरूपात्मकं हीदं सर्वं तुरीयत्वात् चिद्रूपद्वा ओतत्वाद् अनुज्ञातृत्वाद् अनुज्ञात्वाद् अविकल्परूपत्वाच्च अविकल्परूपं हीदं सर्वम्. नैव तत्र काचन भिदास्ति.

अनुज्ञातृत्वम् अस्य उपपादयति. **अस्य सर्वस्य आत्मानं ददादि** इति. कथं ददाति? इति आकांक्षायाम् आह **इदम्** इत्यादि **यथा तमः सविता** इत्यन्तम्. तमोवद् अन्तरासृष्टिरूपं यद् विकल्पबुद्धिवृत्यात्मकं सर्वं तत्स्वात्मकं कुर्वन् स्वात्मानं ददाति इति अर्थः. एवम् अग्रेऽपि. अविकल्पत्वस्य अत्र सत्त्वेन दृष्टान्तानपेक्षणात् तद्बोधनाय हेतुमेव आह **अवाङ्मनसगोचरत्वाद्** इति. एवं कल्पनया स्वरूपेण च ब्रह्मसाम्यं शारीरस्य उक्त्वा तेन प्रणववाच्यत्वम् आह ''**चिद्रूपश्चतूरूप ॐकारएव**'' इत्यारभ्य ''**ॐकाररूपैः**'' इत्यन्तम्. तथाच अयं वाचकॐकारः ओतादिभिः चतुर्भिः ॐकारवाच्यरूपैः चतूरूपः. शारीरस्तु त्रयम् अत्रापि इत्यादिना उक्तसारूप्यत्रयकल्पनया अविकल्पतासाम्येन च कृत्वा चतूरूपः इति वास्तविकचतूरूपोङ्कारवाच्याद् अभिन्नएव इति अर्थः. एतम् अर्थं सम्यक्परिचाययितुं हेतूपूर्वकं विवेचयन् आह '**आत्मैव**' इत्यारभ्य '**विकल्परूपं हीदं सर्वम्**' इत्यन्तम्. तथाच तुरीयत्व-चिद्रूपत्वाभ्यां मायामयं सर्वम् आत्मरूपं ओतत्वादिहेतुचतुष्केन च सर्वम् अविकल्परूपम् अतः आध्यात्मिकं मायामयं सर्वम् आत्माभिन्नम् इति फलितो अर्थः. एवम् अतिनिर्बन्धेन काल्पनिक-चतूरूपाणाम् उत्तरोत्तर-पर्यवसितत्वेन अविकल्पता-निरूपणप्रयोजनम् आह **नैव तत्र काचन भिदास्ति** इति. **तत्र** प्रणवप्रतिपाद्ये परे ब्रह्मणि इति अर्थः. तथाच ब्रह्मस्वरूपम् ईदृशम् एवं सर्वात्मकं च. अर्थात् शारीरस्वरूपं तद्विलक्षणं स्यात्

तदभिन्नं न स्याद् इति हेतोः एवं निरूप्यते इति प्रयोजनोक्तिमुखेन स्वोक्ते अनुकूलतर्कइव प्रदर्शितः.

एवं शारीरस्य तुरीयाभिन्नत्वं तर्केणेव बोधयित्वा तुरीयस्याऽपि यत् तुरीयं रूपं तत् स्वरूपं तज्ज्ञानफलं च आह **अथ तस्य अयम् आदेशः** इत्यारभ्य **य एवं वेद** इत्यन्तेन.

अथ तस्य अयम् आदेशो अमात्रश्चतुर्थो अव्यवहार्य: प्रपञ्चोपशम: शिवो अद्वैत ॐकार आत्मैव, संविशत्या–त्मनात्मानं य एवं वेद, एष वीर:.

नारसिंहेन अनुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यात्, एष ह्यात्मानं प्रकाशयति, सर्वसंहारसमर्थ: परिभवासह: प्रभुर्व्याप्त: सदोज्ज्वलो अविद्यातत्कार्यहीन: स्वात्मबन्धहर:.

सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूप: सर्वाधिष्ठान: सन्मात्रो निरस्ताखिलाविद्या–तमोमोहो अहमेव इति. तस्माद् एवमेव इमम् आत्मानं परं ब्रह्म अनुसन्दध्याद् एष वीरो नृसिंहएव.

'तस्य' इति अविकल्परूपस्य. एवं प्रणवेन तुरीयात्मकतानुसन्धानोत्तरम् आत्मसुखसाक्षात्कारेण वीर्यवत्त्वे जाते **एषः वीरः** इत्यादिना प्रणवस्य मन्त्रराजस्य च ऐकार्थ्यात् तदङ्गीभूतेन मन्त्रराजेनापि तुरीयवेदनम् उक्त्वा अनुष्टुभा किमिति विद्याद् इति आकाङ्क्षायां तत्र हेतुं वा **एष हि** इत्यादिना **अहमेव इति** इत्यन्तेन उक्त्वा फलितम् आह **तस्माद् एवमेव इमम्** इत्यादिना. तथाचैव स्वरूपसाजात्येन कल्पितसाधर्म्येण अंशत्वेन च इमं परत्वेन अनुसन्ध्याद् 'एषः वीरः' उपासको नृसिंहएव इति।।२।।

इति द्वितीयः खण्डः

।। अथ तृतीयः खण्डः ।।

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादो भवति, द्वितीया द्वितीयस्य, तृतीया तृतीयस्य, चतुर्थी ओतानुज्ञात्रनुज्ञात्रविकल्परूपा, तया तुरीयं चतूरात्मानम् अन्विष्य चतुर्थपादेन च तथा तुरीयेण अनुचिन्तयन् ग्रसेत्.

ततो अनुष्टुभा तुरीयत्वेन इमं कथं विद्याद्? इति आकांक्षायां तत्प्रकारम् आह **तस्य** इत्यादिना **ग्रसेद्** इत्यन्तम्. तथाच पादत्रयं यथायथं मात्रात्रयेन सम्पुटीकृत्य चतुर्थ्या नादरूपत्वेन केवलोच्चारस्य कर्तुम् अशक्यतया ओतादिभिः तत्स्वरूपैः तुरीयम् अनुचिन्त्य अनुचिन्तितरूपया तया तुरीयात्मकेन चतुर्थपादेन च अनुचिन्तयन्, अर्थात् शारीरं ग्रसेद् एकीकृत्य तदभिन्नम् अनुसन्दध्याद् इति अर्थः.

तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिवी अकारः स ऋग्भिः ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः, सा प्रथमः पादो भवति. भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल-सूक्ष्म-बीज-साक्षिभिः द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिः यजुर्वेदो विष्णु-रुद्रास्त्रिष्टुब्-दक्षिणाग्निः, सा द्वितीयः पादो भवति. भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल-सूक्ष्म-बीज-साक्षिभिः. तृतीया द्यौः समकारः ससामभिः सामवेदो रुद्रादित्याजगत्याहवनीयः, सा तृतीयः पादो भवति. भवति सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल-सूक्ष्म-बीज-साक्षिभिः.

यावसाने अस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ॐकार सो अथर्वणैः मन्त्रैः अथर्ववेदः संवर्तको अग्निः मरुतो विराडेक ऋषिः भास्वती स्मृता, सा चतुर्थः पादो भवति. भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कृत्वा ओतानुज्ञात्रनुज्ञात्रविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत्.

तत्प्रकारम् आह **तस्य ह वा** इत्यादिना, **मात्रा–मात्रा प्रतिमात्राः कृत्वा...ग्रसेद्** इत्यन्तम्. तत्र प्रतिमात्रं मात्राकरणस्य अनुवक्ष्यमाणत्वात् पूर्वतापिन्यामिव अत्रापि मात्राणां पदानां च माहात्म्यं वदन् प्रथममात्रायाः माहात्म्यं **'पृथिवी'**त्यादिना उक्त्वा तत्सम्पुटितत्वात् प्रथमपादस्य तदात्मकत्वम् आह **सा प्रथमः पादो भवति** इति. तेन ॐकारमात्रावत् प्रथमपादस्य विश्वाभिन्नत्वं बोधितम्. विश्वस्य पादाभिन्नत्वं बोधयितुं प्रथममात्रायां मात्राकरणार्थम् आह **भवति च** इत्यादि **साक्षिभिः** इत्यन्तम्. एवम् अग्रेऽपि. तथाच मात्रावद् मन्त्रब्रह्मपादयोः ऐक्यं सर्वेषु पादेषु तद्रूपे आरोपेण शारीरपादोऽपि तदात्मको भवतीति सोऽपि मन्त्रराजवाच्यः इत्येवं पूर्ववत् कुर्यात्. तदेतद् अनुवदन् आह **मात्रा...** इत्यादि **ग्रसेद्** इत्यन्तम्. अर्थस्तु पूर्वम् उक्तएव.

ज्ञो अमृतो हुतसंवित्कः संविष्टो निर्विघ्न इमम् असुनियमे अनुभूयः इह इदं सर्व्वं दृष्ट्वा असुप्रपञ्चहीनः. अथ सकलः साधारो अमृतमयः चतुरात्मा सर्व्वमयः चतुरात्मा. अथ महापीठे सपरिवारं तमेतं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानं मूलाग्नौ अग्निरूपं प्रणवं सन्दध्यात्. सप्तात्मानं चतुरात्मानम् अकारं ब्रह्माणं नाभौ सप्तात्मानं चतुरात्मानम् उकारं विष्णुं हृदये, सप्तात्मानं चतुरात्मानं मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये, सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानम् ॐकारं सर्व्वेश्वरं द्वादशान्ते, सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानम् आनन्दामृतरूपं प्रणवं षोडशान्ते अथ आनन्दामृतेन एनान् चतुर्धा सम्पूज्य, तथा ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तान् त्रीनेव अविभक्तान् त्रीनेव लिङ्गरूपानेव च सम्पूज्य उपहारैः चतुर्धा. अथ लिङ्गान् संहृत्य तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्य तदधिष्ठानम् आत्मानं सञ्चाल्य तत्तेज आत्मचैतन्यरूपं बलम् अवष्टभ्य, गुणैः ऐक्यं सम्पाद्य महास्थूले महास्थूलं महासूक्ष्मे महासूक्ष्मं महाकारणे च संहृत्य मात्राभिः

ओतानुज्ञात्रनुज्ञात्रविकल्परूपं सञ्चिन्तयन् ग्रसेत् ।।३।।

तदनन्तरकार्यम् आह **ज्ञो अमृत** इत्यारभ्य **ग्रसेद्** इत्यन्तम्. तथाच 'ज्ञोऽमृते'त्यादिरूपः सन् प्राणायामेन एवंरूपत्वं स्वस्य अनुभूयः सुषुप्त–स्वप्न–मायामात्राख्य–शारीरत्रयं 'सर्व'पदोक्तं सृष्ट्वा सुतरां तादृशप्रपञ्चव्यतिरिक्तभूतः सकलादिरूपेण द्विविध–चतुरात्मा सन्, ततो महापीठरूपे मूलाग्नौ सपरिवारं प्रणवम् अग्निरूपं सन्धाय सप्तात्मेत्यादिप्रकारेण उपहारैः सम्पूज्य, ततः संहृत्य पूर्वं सृष्टं शरीरत्रयं तत्तेजसा संव्याप्य, तदधिष्ठानं स्वं शारीरात्मानं सञ्ज्वाल्य, तदनुसन्धानम् अकृत्वा, तेजोबलं प्राप्य अभेदभावनायां सिद्धायां ब्रह्मगुणैः अस्य ऐक्यं सम्पाद्य, **'महास्थूले'**त्यादिना उक्तप्रकारेण ब्रह्मणः शरीरत्रयं ब्रह्माभिन्नम् अनुसन्धाय तुरीयमात्राभिः तुरीयत्वम् अस्य चिन्तयन् एवं तदैक्येन भावयेद् इति अर्थः।।३।।

इति तृतीयः खण्डः.

।। अथ चतुर्थः खण्डः ।।

ततो अग्रिमकृत्यम् आह **'तं वा एतम्'** इत्यादिना.

तं वा एतम् आत्मानं परमं ब्रह्म ॐकारं तुरीय ॐकाराग्रविद्योतम् अनुष्टुभा नत्वा प्रसाद्य ॐइति संहृत्य अहम् इति अनुसन्दध्यात्. अथ एतमेव आत्मानं परमं ब्रह्म ॐकारं तुरीय ॐकाराग्रविद्योतम् एकादशात्मानम् आत्मानं नृसिंहं नत्वा ॐइति संहरन् अनुसन्दध्यात्. अथ एतमेव आत्मानम् आत्मानं परमं ब्रह्म ॐकारं तुरीय ॐकाराग्रविद्योतं प्रणवेन सञ्चिन्त्यानुष्टुभा सच्चिदानन्दपूर्णात्मसु नवात्मकं सच्चिदानन्दपूर्णात्मानं परमात्मानं परमं ब्रह्म सम्भाव्य अहम् इति आत्मानम् आदाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्यात्, अनुष्टुभैव वा.

एष उ एव नृ एष हि नृसिंहः सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सिंहो असौ परमेश्वरः, असौ हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सन् सर्वम् अत्ति.

नृसिंहः एवैकलः, एषः तुरीयः, एषएव उग्रः, एषएव वीरः, एषएव महान्, एषएव विष्णुः, एषएव ज्वलन्, एषएव सर्वतोमुखः, एषएव नृसिंहः, एषएव भीषणः, एषएव भद्रः, एषएव मृत्युमृत्युः, एषएव नमामि, एषएव अहम्. एवं योगारूढो ब्रह्मण्येव अनुष्टुभं सन्दध्याद् ॐकारः इति.

तदेतौ श्लोकौ भवतः,

संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान् गुणर्द्धान् संयोज्य शृङ्गैर्ऋषभस्य हृत्वा।
वश्यां स्फुरन्तीम् असतीं निपीड्य सम्भक्ष्य सिंहेन स एष वीरः॥
शृङ्गप्रोतान् पदान् स्पृष्ट्वा हृत्वा तामग्रसत् स्वयम्।
नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्बभौ॥

तथाच प्रणवानुष्टुब्भ्यां तथा कृत्वा शारीरं मनसा करणेन ब्रह्मणा एकीकृत्य अनुष्टुबर्थरूपत्वं ब्रह्माभेदेन स्वस्य ज्ञात्वा योगारूढः सन् अनुष्टुभं प्रणववाच्यब्रह्मवाचिकं जानीयाद् इति श्लोकद्वयसहितकण्डिकार्थः॥४॥

इति चतुर्थः खण्डः॥४॥

॥ अथ पञ्चमः खण्डः ॥

एवं स्वस्मिन् ब्रह्माभेदभावनायां सिद्धायां दृढभूमित्वाय प्रणवमात्राणां मन्त्रराजपादानां च स्वस्वार्थवाचकत्वेऽपि तत्तद्धर्मपुरस्कारेण ब्रह्मवाचकत्वमेव इति प्रतिज्ञाय पूर्वोक्तम् अर्थं प्रकारान्तरेण उपपादयति **'अथ एषह्येव अकार आप्ततमार्थ'** इत्यादिना.

अथ एषएव अकार आप्ततमार्थः. आत्मन्येव नृसिंहे

ब्रह्मणि वर्त्तते. एष ह्येव आप्ततमः एष हि साक्षी, एष हि ईश्वरः. अतः सर्वगतः न हि इदं सर्वम् एष हि व्याप्ततमः. इदं सर्वं यदयम् आत्मा मायामात्रम् एषएव उग्र एष ह्येव आप्ततमः.

तथा मात्राणां ब्रह्मवाचकत्वे सति पूर्वं या शरीरस्य ॐकारार्थता वक्तुम् आरब्धा सा न सिद्ध्यतीति तत्सिद्ध्यर्थं परब्रह्मणो नृसिंहस्य साक्षित्वम् आह **एष हि साक्षी** इति. तथाच सएव अनेन प्रकारेण अत्र वर्ततइति तदभिन्नत्वाद् अयमपि अकारार्थइति न तदसिद्धिः इति अर्थः.

ननु व्यापको यः परमात्मा सः कथम् अणुः भवितुम् अर्हति? इति आकाङ्क्षायां तत्सामर्थ्येन समाधानम् आह **'एष ईश्वरो अतः सर्वगः'** इति. तथाच कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थत्वाद् व्यापकत्वेऽपि तथाभावो न विरुद्धः इति अर्थः.

ननु ब्रह्मणः सर्वगतत्वोक्तौ वस्त्वन्तरसत्ता प्राप्यते इति वस्तुपरिच्छेदे अद्वयत्वव्याकोपः इति शङ्कायाम् आह **'अतो न हीदं सर्वम् एष हि व्याप्ततमः'** इति. सर्वगतत्वादेव इदं वस्त्वन्तरं न भवति. नहि अन्तःस्थे अग्नौ बहिः सर्वत्र व्याप्ते काष्ठत्वम् अवशिष्यते. यद्वा इदं सर्वम् अतो न एतज्जातं न किन्तु एषएव सर्वत्र तत्तद्रूपेण व्याप्तः ततो वस्तुपरिच्छेदाभावाद् न अद्वयत्वव्याकोपः इति अर्थः. तर्हि भेदप्रतीतिविषयभूतम् इदं किम्? इति आकाङ्क्षायाम् अस्य स्वरूपम् आह **इदं सर्वं यदयमात्मा मायामात्रम्** इति. **यद्** इत्यन्तम् उद्देश्यं शेषं विधेयम्. तथाच यद् भेदप्रतीतिविषयं तद् मायात्मकं शारीरस्यैव रूपं तेन शारीरे आरोप्यत्वेन शरीरत्रयं पूर्वं यदुक्तम् आसीत् तद् एतद् इति अर्थः.

एषएव वीर, एष हि व्याप्ततमः. एषएव महान् एषएव व्याप्ततमः. एषएव विष्णुः, एष हि व्याप्ततमः. एषएव ज्वलन् एष हि व्याप्ततमः, एषएव सर्वतोमुख एष हि व्याप्ततमः. एषएव नृसिंह एष हि व्याप्ततमः. एषएव भीषण एष हि व्याप्ततमः.

एषएव भद्र एष हि व्याप्ततमः. एषएव मृत्युमृत्युः एष हि व्याप्ततमः. एषएव नमामि एष हि व्याप्ततमः. एष एव अहम् एष हि व्याप्ततमः. आत्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति.

य एवं वेद सो अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति.

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य व्याप्ततमत्वेन प्राप्तं मन्त्रराजप्रत्येकपदार्थरूपत्वम् **'एषएव'**इत्यादिना वदन् प्रणवप्रथममात्रायाः मन्त्रराजावयवानां च ऐकार्थ्यं स्फुटीकृत्य तस्य व्याप्ततमत्वात् शारीरस्यापि तदभिन्नत्वेन मन्त्रावयवार्थत्वम् इति प्रणवादिवाच्यता अस्मिन् सूपपन्ना इति ज्ञापयन् न प्रतारकत्वाय फलम् आह **'तस्माद् आत्मानम्'** इत्यारभ्य **'आप्येति'** इत्यन्तेन. एवम् अग्रेऽपि.

उकारस्य ब्रह्मवाचकत्वात् सत्यस्वरूपत्वम् उक्त्वा पूर्ववदेव प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वम् आह **न ह्यन्यदस्ति** इत्यादिना.

अथ एषएव उकार उत्कृष्टतमार्थः. आत्मन्येव नृसिंहे ब्रह्मणि वर्त्तते. तस्माद् एष सत्यस्वरूपो नहि अन्यद् अस्ति अमेयम् अनात्मप्रकाशम् एष हि स्वप्रकाशो असङ्गो अन्यं न वीक्षते आत्मा.

अतो न अन्यत्र प्राप्तिः आत्ममात्रं हि एतदुत्कृष्टम्, एष एव उग्र एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव वीर एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव महान् एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव विष्णुः एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव ज्वलन् एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव सर्वतोमुख एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव नृसिंह एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव भीषण एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव भद्र एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव मृत्युमृत्युः

एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव नमामि एष ह्येव उत्कृष्टः, एषएव अहम् एष ह्येव उत्कृष्टः, तस्माद् आत्मानमेव एवं जानीयाद् आत्मैव नृसिंहो देवो भवति. य एवं वेद सो अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति.

अथ एषएव मकारो महाविभूत्यर्थः आत्मन्येव नृसिंहे देवे परे ब्रह्मणि वर्तते, तस्माद् अयम् अनल्पो अभिन्नरूपः स्वप्रकाशो ब्रह्मैव आप्ततम उत्कृष्टतम एतदेव ब्रह्म.

अपि सर्वज्ञं महामायं महाविभूति, एतदेव उग्रम् एतद्धि महाविभूति, एतदेव वीरं, एतद्धि महाविभूति, एतदेव महद् एतद्धि महाविभूति, एतदेव विष्णुः एतद्धि महाविभूति, एतदेव ज्वलन् एतद्धि महाविभूति, एतदेव सर्वतोमुखम् एतद्धि महाविभूति, एतदेव नृसिंहम् एतद्धि महाविभूति, एतदेव भीषणम् एतद्धि महाविभूति, एतदेव भद्रम् एतद्धि महाविभूति, एतदेव मृत्युमृत्युः एतद्धि महाविभूति, एतदेव नमामि एतद्धि महाविभूति एतदेव अहम् एतद्धि महाविभूति.

तथाच अमेयम् अनात्मप्रकाशं यत्तद् अन्यद् नास्ति किन्तु एषः हि स्वप्रकाशः इति एतदात्मकमेव तत्. तत्र हेतुः असङ्गः आत्मा अन्यद् न वीक्षते. यतः एतद्वीक्षते अतो न इदं ततो अन्यद् इति तर्केण उपपाद्य फलितम् आह **आत्मतो न अन्यद् आत्ममात्रं हि एतदिति**. शेषं पूर्ववदेव.

तस्माद् अकारोकाराभ्याम् इमम् आत्मानम् आप्ततमम् उत्कृष्टतमं चिन्मात्रं सर्वद्रष्टारं सर्वसाक्षिणं सर्वग्रासं सर्वप्रेमास्पदं सच्चिदानन्दमात्रम् एकरसं पुरतो अस्मात् सर्वस्मात् सुविभातम् अन्विष्य आप्ततमम् उत्कृष्टतमं चिन्मात्रं

महाविभूतिं सच्चिदानन्दमात्रम् एकरसं परमेव ब्रह्म मकारेण जानीयात्, आत्मैव नृसिंहो देवः परमेव ब्रह्म भवति, य एवं वेद सो अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति इति ह प्रजापतिः उवाच.

एवम् अकारोकाराभ्यां तदर्थरूपेण शारीरज्ञानम् उक्त्वा अग्रे च मकारार्थत्वेन उक्त्वा मकारेण एतस्य शारीरस्य ब्रह्मत्वेन ज्ञानप्रकारम् उपसंहारेऽपि सूचयन् आह **तस्माद् अकारोकाराभ्याम्** इति आरभ्य **जानीयाद्** इत्यन्तम्. ततः पूर्ववदेव फलम् उक्त्वा व्याख्यानसमाप्तिं सूचयति **इति ह प्रजापतिः उवाच** इति.

इति पञ्चमः खण्डः ।।५।।

।। अथ षष्ठः खण्डः ।।

एवं कण्डिकापञ्चकेन तेषां पूर्णोपदेशे जाते तेषां सप्रणव–मन्त्रराजाहङ्ग्रहोपासनया जातां प्रतिबन्धनिवृत्तिरूपाम् अवान्तरसिद्धिं तदग्रिमां च मुख्यवृत्त्या प्रणववाच्ये परिसमाप्तिरूपां सिद्धिम् उपाख्यानपूर्वकम् आह **'ते देवा'** इत्यारभ्य सर्वया षष्ठ्या.

ते देवा इमम् आत्मानं ज्ञातुम् ऐच्छन्; तान् हासुरः पाप्मा परिजग्रास; त ऐक्षन्त; हन्तैनम् आसुरं पाप्मानं परिग्रसाम इति. तमेव ॐकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयम् आत्मानम् उग्रम् अनुग्रं, वीरम् अवीरं, महान्तम् अमहान्तं, विष्णुम् अविष्णुं, ज्वलन्तम् अज्वलन्तं, सर्वतोमुखम् असर्वतोमुखं, नृसिंहम् अनृसिंहं, भीषणम् अभीषणं, भद्रम् अभद्रं, मृत्युमृत्युम् अमृत्युमृत्युं, नमामि अनमामि, अहम् अनहं नृसिंहानुष्टुभैव बुबुधिरे. तेभ्यो ह असावासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनं ज्योतिः

अभवत्. तस्माद् अपक्व–कषायम् इममेव ॐकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयम् आत्मानं नृसिंहानुष्टुभैवं जानीयात्. तस्य ह असुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनं ज्योतिर् भवति.

ते देवा ज्योतिष उत्तितीर्षवो द्वितीयाद् भयमेव पश्यन्त इममेव ॐकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयम् आत्मानं वै नृसिंहानुष्टुभान्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन् अवस्थिताः. तेभ्यः तज्ज्योतिः अस्य सर्वस्य पुरतः सुविभातम् अविभातम् अद्वैतम् अचिन्त्यम् अलिङ्गं स्वप्रकाशम् आनन्दघनं शून्यम् अभवत्. एवंवित् स्वप्रकाशं परमेव ब्रह्म भवति.

ते देवाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च ससाधनेभ्यो व्युत्थाय निरहङ्कारा निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा बधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ताइव परिवर्त्तमानाः, शान्ता दान्ता उपरताः तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परमं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं जानन्तः तत्रैव परिसमाप्ताः.

तस्माद् देवानां व्रतम् आचरन् ॐकारपरे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत्. स आत्मनैव आत्मानं परमं ब्रह्म पश्यति; तद् एषः श्लोकः

शृङ्गेषु शृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत्।
शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबध्य त्रयो देवा उदासते।।

इति.

अत्र आसुरो भावएव पापजन्यत्वात् पाप्मा. एतं शारीरम्, ॐकाराग्रविद्योतम्, ॐकारस्य यदग्रं नादाभिधेयम् अविकल्परूपं तेन विद्योतो यस्य तादृशम्. तुरीयातुरीयेत्याद्युक्तरूपेण उभयविधं नृसिंहानुष्टुभा पूर्वोक्तरीत्या

देवा: ज्ञातवन्तः तदा सर्वात्मकत्वे तस्य ज्ञाते पाप्मनोऽपि तदभिन्नत्वात् तेन ज्ञानेन तस्य पाप्मन: सच्चिदानन्दघन–ज्योतिर्भावरूपावान्तरसिद्धिः अभूत् तथापि भेदो न गतइति स्वाधिकारवशाद् भयं दृष्टवन्तः ततः पुनः उपासनावृत्तौ तज्ज्योतिः तद्भावम् अपहाय ब्रह्मणः आनन्दाकरत्वात् तद्रूपं सत् स्वस्वरूपशून्यम् अभूत् तदा तस्य आसुरत्वे निवृत्ते देवाः जातविरागा: सन्त: प्रणवप्रतिपाद्यपरब्रह्मण: पाप्मशून्यकारित्वात् तत्स्वरूपं शून्यं जानन्त: प्रणवे परिसमाप्ता इति पूर्वापेक्षया तेषाम् उत्कृष्टाधिकाररूपा द्वितीया सिद्धिः अभूद् इति अर्थ:. एतज्ज्ञापनार्थम् उपासकस्य फलम् उक्तम्.

इति षष्ठः खण्डः।।६।।

।। अथ सप्तम: खण्ड: ।।

देवा ह वै प्रजापतिम् अब्रुवन्, भूयएव नो भगवान् विज्ञापयतु इति. तथेति अजत्वाद् अमरत्वाद् अजरत्वाद् अमृतत्वाद् अभयत्वाद् अशोकत्वाद् अमोहत्वाद् अनशनायत्वाद् अपिपासत्वाद् अद्वैतत्वाच्च अकारेण इमम् आत्मानम् अन्विष्य उत्कृष्टत्वाद् उत्पादकत्वाद् उत्वेष्टृत्वाद् उत्थापयितृत्वाद् उद्दृष्टृत्वाद् उत्कर्त्तृत्वाद् उत्पथवारिकत्वाद् उद्ग्रासकत्वाद् उद्भान्तकत्वाद् उत्तीर्णविकृतित्वाच्च ॐकारेण परमं सिंहम् अन्विष्य, अकारम् इमम् आत्मानम् उकारपूर्वार्धम् आकृष्य सिंहीकृत्य उत्तरार्धेन तं सिंहम् आकृष्य महत्त्वाद् महस्त्वाद् मानत्वाद् मुक्तत्वाद् महादेवत्वाद् महेश्वरत्वाद् महासत्त्वाद् महाचित्वाद् महानन्दत्वाद् महाप्रभुत्वाच्च मकारार्धेन अर्थेन एकीकुर्य्यात्.

अशरीरो निरिन्द्रियो अप्राणो अतमा: सच्चिदानन्दमात्र: स स्वराड् भवति, य एवं वेद.

एवं जातायामपि अवान्तरसिद्धौ ब्रह्मणः शून्यत्वेन ज्ञानाद् विद्यायाः अपूर्तिं स्वस्मिन् ज्ञात्वा देवाः पुनः विशेषेण ज्ञापनार्थं चोदितवन्तः तदा पुनः ताः प्रजापतिः तथा इति अङ्गीकृत्य सप्तम्यष्टमीभ्यां पूर्वोक्तोपासनं प्रकारान्तरेण आह. तत्र सप्तम्यां प्रणवः मात्राभिः पूर्वं द्विधा उपासनं विदधाति. तत्र पूर्वम् अप्रजत्वादिभिः स्वरूपलक्षणभूतैः दशभिः हेतुभिः प्रणवप्रथममात्रया एनं विचार्य उत्कृष्टत्वादिभिः सप्तभिः हेतुभिः द्वितीयमात्रया स्वमनसि भगवन्तं सिंहं सन्निधाय पूर्वोक्तेन भगवन्महाभूतिरूपेण मकारार्थेन शारीरेण सह महत्वादिभिः हेतुभिः दशभिः सिंहम् अभिन्नं भावयेद् इति एकं प्रकारम् '**अजत्वाद्**' इति आरभ्य **एकीकुर्याद्** इत्यन्तेन उक्त्वा '**शारीर**' इत्यारभ्य '**वेद**' इत्यन्तेन तत्फलम् आह.

कस्त्वम् इति अहम् इति होवाच, एवमेव इदं सर्व्वम्; तस्माद् अहम् इति सर्व्वाभिधानं, तस्य आदिः अयम् अकारः सएव भवति. सर्वं हि अयम् आत्मा, अयं हि सर्वान्तरः, न हि इदं सर्वं निरात्मकं आत्मैव इदं सर्वं, तस्मात् सर्वात्मकेनाकारेण सर्वात्मकम् आत्मानम् अन्विच्छेत्.

ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं, सच्चिदानन्दरूपम् इदं सर्वं, सद् हि इदं सर्वं, सत् सद् इति चिद् हि इदं सर्वं, काशते काशते च इति.

एवञ्च अत्र शारीरस्य विभूतिरूपत्वं भगवतस्तु विभूति–विभूतिमतोः च ऐक्यात् शारीरस्यापि प्रणववाच्यत्वसिद्धिः पूर्वस्मात् पक्षाद् विशेषः. ततो अस्मिन् प्रकारे अकारो निषेधार्थकः इति प्रणवतुरीयपादस्यैव सङ्ग्रहो नतु पादत्रयस्याऽपि इति अनेनापि प्रकारेण विभूतिरूपतैव अस्य देवानां भास्यते न सर्वात्मकत्वम्, अमुख्याधिकारित्वाद् इति विचिन्त्य देवप्रबोधनाय प्रकारान्तरम् आह '**कस्त्वम्**' इति आरभ्य '**वेद**' इत्यन्तम्. तत्र '**कस्त्वम्**' इत्यादिना प्रकारस्य सर्वाभिधानत्वम् उपपाद्य तेन जीवान्वेषणं वक्तुं शारीरस्य सर्वत्वम् आह '**सर्वं ह्ययम्**' इति आरभ्य '**आत्मैवेदं सर्वम्**' इत्यन्तेन. सर्वस्य सात्मकत्वेन शारीरस्य सर्वान्तरत्वात्

तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः इति सर्वात्मकः इति अर्थः. तथा सति अकारेण शारीरान्वेषणम् उक्त्वा प्रस्तुतसर्वस्य न अस्मिन् पक्षे मायिकता इति बोधयितुं **ब्रह्मैव इदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपम्** इति उक्त्वा **सच्चिदानन्दरूपम् इदं सर्वम्** इति प्रतिज्ञाय तदुपपादयति **'सद्धीदं सर्वम्'** इति आरभ्य **'प्रकाशते च'** इत्यन्तेन. तथाच सर्वत्र सच्चिद् अन्वयेन सर्वं सच्चिद्रूपम् इति अर्थः. एवम् आनन्दान्वयोऽपि प्रियत्वात् सर्वत्र ज्ञापितः.

एवम् अन्वयेन सच्चिदानन्दात्मकत्वं साधयित्वा यद्रूपम् इदं सर्वं तेषां सच्चिदानन्दानां स्वरूपं बोधयितुं प्रथमं ''**किं सदिति**'' इति प्रश्नव्याजेन सदर्थे सन्दिह्य ''इदम्'' इति भेदप्रतीतिविषयम् अर्थं सत्स्वरूपत्वेन सम्भाव्य ''**इदं न**'' इत्यनेन तद् अपोह्य अपवादे हेतुम् आह **इत्यनुभूतिः** इति.

किं सद् इति इदम् इदं न इति अनुभूतिः इति, कैषेतीयम् इयं न इत्यवचनेनैव अनुभवन् उवाच, एवमेव सच्चिदानन्दौ, अथ वचनेनैव अनुभवन् उवाच, सर्वम् अन्यदपि, स परम आनन्दः तस्य ब्रह्मणो नाम ब्रह्म इति, तस्य अन्त्यो अयं मकार: सएव भवति; तस्माद् मकारेण परमं ब्रह्म अन्विच्छेत्.

इदं विकल्पबुद्धिविषयम् एवंप्रकारकानुभवमात्रमेव, यतो अत इदं न सद् इति अर्थः. ननु यदि एवं तदानुभूतिः केन रूपेण सतीति वाच्यम्. यदि स्वेन, तदा सर्वस्यापि स्वेन स्वेनैव रूपेण सत्त्वम् अस्तु भेदानपायस्य तौल्याद् इति आशयेन पूर्ववत् सन्दिह्य सम्भावयति **कैषेतीयम्** इति. या विकल्पबुद्धिविषयस्य लौकिकस्य स्वरूपत्वेन उच्यते एषा अनुभूतिः का या अनुभूयते सा उत अन्या इति. एतस्याः स्वरूपम् इदमेव अन्यद् वा इति अर्थः. तत्र उत्तरम् आह **इयं न इति अवचनेनैव अनुभवन् उवाच** इति. एतस्मिन् निषेधमुखेन एतद्विलक्षणं सतः स्वरूपम् उवाच इति अर्थः. एवम् अग्रे चिदानन्दयोः यद् उवाच तत् स्वयं श्रुतिः आह **सर्वम् अन्यदपि सः परम आनन्दः** इति. 'सर्व'शब्दवाच्यः सदात्मप्रपञ्चः अन्यत्

चिदानन्दौ च सः परमेश्वरः परमानन्दात्मा इति अर्थः.

एवं सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वम् उक्त्वा प्रकारेण ब्रह्मान्वेषणं सहेतुकम् आह **'तस्य'** इत्यारभ्य **'अन्विच्छेद्'** इत्यन्तेन.

किम् इदम् एवमित्यु इत्येव आह अविचिकित्सन्; तस्माद् अकारेण इमम् आत्मानम् अन्विष्य मकारेण ब्रह्मणा सन्दध्याद् उकारेण अविचिकित्सन्, अशरीरो निरिन्द्रियो अप्राणो अतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति, य एवं वेद.

अस्मिन् प्रकारे मात्राद्वयेनैव ऐक्यभावनसिद्धिरिति उकारो व्यर्थः स्यादिति उकारस्य प्रयोजनम् आह **किम्** इत्यादि. यदर्थम् इदं सर्वम् उक्तं तद् अनुवदन् तस्य फलम् आह **'तस्माद् अकारेण'** इत्यारभ्य **'वेद'** इत्यन्तम्. अस्मिंश्च प्रकारे अकारः सर्वार्थकत्वात् पूर्वोक्तोपासनासिद्धः. शारीरश्च सर्वान्तरत्वात् सर्वात्मकः इति व्यपदिश्यते. तेन उभयोः सन्तमेव धर्मम् आदाय सदंशेन अकारेण सदंशशारीरान्वेषणं* ब्रह्मतु स्वभावादेव सर्वात्मकमिति प्रकारेण तदन्वेषणम् इति गौण्या साधर्म्यम् आदाय ॐकारात्मकत्वभावनम् इति पूर्वोक्तपक्षद्वयाद् विशेषः.

(*.सदृशेति क पाठ.)

ब्रह्म ह वा इदं सर्वम् अमृतत्वाद् उग्रत्वाद् वीरत्वाद् महत्त्वाद् विष्णुत्वाद् ज्वलत्त्वात् सर्वतोमुखत्वात् नृसिंहत्वाद् भीषणत्वाद् भद्रत्वाद् मृत्युमृत्युत्वाद् नमामित्वाद् अहन्त्वाद् इति, सततं हि एतद् ब्रह्म, उग्रत्वाद् वीरत्वाद् महत्त्वात् पुनःपुनरहन्त्वाद् इति; तस्माद् अकारेण परमं ब्रह्मान्विष्य-मकारेण मनआद्यवितारं मनआदिसाक्षिणम् अन्विच्छेत्.

पूर्वस्माद् अतिरिक्तं प्रकारम् आह **ब्रह्म** इति आरभ्य **वेद** इत्यन्तम्. तत्र शारीरे...(त्रुटितो भागः इति भाति.) एवञ्च द्वितीयकण्डिकायां

प्रतिमात्राः कुर्याद् इत्यन्तेन यद् एकीकरणम् आरोपपक्षेण उक्तं तद् एकीकरणम् आरोपं विहाय व्यपदेशेन उक्तं तद् अग्रे यत् तत्र अयं **तुरीयः** इत्यादिना उक्तं तस्य पक्षान्तरं विहाय **'एषः वीरः'** इत्यादिना तथोक्तब्रह्मणा ऐक्यस्य पूर्ववद् वक्ष्यमाणत्वाद् **''ब्रह्म वा इदं सर्वम्''** इत्यारभ्य अमृतत्वादिभिः त्रयोदशहेतुभिः सर्वस्य ब्रह्मत्वं बोधयित्वा **'सततं हि एतद्ब्रह्म'** इति आरभ्य उग्रत्वादिद्वादशहेतुभिः प्रपञ्चस्य सर्वावस्थासु ब्रह्मरूपतां ब्रह्मपादत्वाय स्थिरीकृत्य सर्वस्य उक्तस्य अर्थस्य अकारवाच्यत्वाद् अकारेण मन्त्रराजपादाभिन्नेन ब्रह्मान्वेषणम् उक्त्वा शारीरस्य ब्रह्मात्मकत्वाय ब्रह्मणएव मनआद्यविवृतत्वेन मनआदिसाक्षित्वेन विचारं वक्ति **मकारेण** इत्यादिना **अन्विच्छेद्** इत्यन्तेन.

ननु शारीरेण मनआद्यवनस्य अनुभूयमानत्वाद् ब्रह्मणः कथं तथात्वम्? इति आशङ्कायां तदुपपादयन् आह **स यदि** इत्यारभ्य **ददाति** इत्यन्तम्. तथाच प्रवेशादिभिः आत्मदानां तैः अयमेव जीवरूपेणावितेति अर्थः.

स यदा एतत् सर्वम् उपेक्षते, तदा एतत् सर्वम् अस्मिन् प्रविशति. स यदा प्रबुध्यते, तदा एतत् सर्वम् अस्मादेव उत्तिष्ठति. स एतत् सर्वं निरूह्य प्रत्यूह्य सम्पीड्य सञ्ज्वाल्य सम्भक्ष्य स्वात्मानम् एषां ददाति.

सर्वसाक्षित्वम् आह **अत्युग्र** इत्यारभ्य **समासते** इत्यन्तम्. तथाच अलौकिकोग्रादिरूपत्वेन स्वमहिमस्थत्वात् साक्षात्यर्थः.

अत्युग्रो अतिवीरो अतिमहान् अतिविष्णुः अतिज्वलन् अतिसर्वतोमुखो अतिनृसिंहो अतिभीषणो अतिभद्रो अतिमृत्युमृत्युः अतिनमामि अत्यहं भूत्वा स्वे महिम्नि सदा समासते.

तस्माद् एनं मकारार्थेन परेण ब्रह्मणा एकीकुर्य्याद्

उकारेण अविचिकित्सन्; अशरीरो निरिन्द्रियो अप्राणो अतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति, य एवं वेद.

एवम् उभयरूपत्वं ब्रह्मणः साधयित्वा एकीकरणफलं च आह **तस्माद्** इत्यारभ्य **य एवं वेद** इत्यन्तम्. तथाच अकारार्थरूपमेव ब्रह्म मकारार्थभूतं तेन सह वेदस्य ऐक्यं मात्राभिः भावयति तदा अयमपि केवलः सन् स्वमहिमस्थितो भवति इति अर्थः.

तदेष श्लोकः.
शृङ्गं शृङ्गार्धमाकृष्य शृङ्गेणानेन योजयेत्।
शृङ्गमेनं परे शृङ्गे तमनेनापि योजयेत् इति।।

एतदेव श्लोकेन सङ्गृह्य आह **तदेष** इत्यादि, एवञ्च अत्र ब्रह्मणः सर्वात्मकस्य साक्षिरूपत्वात् तेन अस्य एकीभावभावनेन प्रणववाच्यत्वं स्वस्वरूप–लाभात्मकं फलं च भवति इति सिद्धम्.

इति सप्तमः खण्डः।।७।।

।। अथ अष्टमः खण्डः ।।

अतः परं तत्र **अथ तुरीय** इत्यादिना उक्तस्य अत्र प्रकारान्तरं व्यपदेशपदेन आह.

अथ तुरीयेण ओतश्च प्रोतश्च हि अयम् आत्मा सिंहो अस्मिन् हि इदं सर्वम् अयं हि सर्वात्मा अयं हि सर्वं नैव ओतो अद्वयो हि अयम् आत्मैकल एव अविकल्पो न हि वस्तु सद् अयं हि ओत इव सद्घनो अयं चिद्घन आनन्दघन एकरसो

अव्यवहार्यः केनचनाद्वितीयः ओतश्च प्रोतश्च एष ॐकार एवं नैवम् इति पृष्ट ओम् इत्येव आह.

वाग्वा ॐकारो वागेव इदं सर्वं न हि अशब्दमिव इह अस्ति.

तत्र आत्मनात्मोपभोगरूपं फलम् उक्तम् इहतु ब्रह्मभावरूपं फलम् आह **अथ** इत्यारभ्य सम्पूर्णकण्डिकया. तुरीयेण नादात्मकेन पादेन **यः एवं ओतादिरूपतया व्यपदिश्यमानं शारीरं ब्रह्म भिन्नं वेद सो अभयं ब्रह्म भवति** इति सर्वत्र सम्बन्धः.

तत्र पूर्वम् **ओतश्च** इत्यादि **सिंहः** इत्यन्तेन ओततया अस्य सिंहत्वं प्रतिज्ञाय ओतत्वं व्युत्पादयति **अस्मिन् इदं हि सर्वमयं हि सर्वात्मा** इति. इदम् इति विकल्पबुद्धिविषयम्. सर्वात्मा तादृशबुद्धिविषयात्मा. ननु सर्वात्मकत्वे आन्तरत्वाभावात् क्रियाद्यभावाद् ओतत्वम् अस्य न युज्यते इति आकाङ्क्षायां व्यपदेशपक्षत्वाद् इष्टम् अभ्युपगच्छन् आह **अयं हि सर्वं नैवोत** इति. सर्वत्वे हेतुम् आह **अद्वयो हि अयम् आत्मा** इति. अद्वय वासर्वः सर्वत्वाद् न ओतः इति अर्थः. अद्वयत्वमेव कथम् इति आकांक्षायां तद् व्युत्पाद्य आह **एकलएव** इत्यारभ्य **द्वितीयः** इत्यन्तम्. सप्तम्यां हि मात्रात्रयेण ऐक्यभावनाद् आद्यो केवलतायां स्वं महिमस्थत्वम् उक्तं तथात्वे स ययमेकलएव अविकल्पो भवति. निवृत्ते च विकल्पे तद्विषयग्यापि तस्य अन्तरा सृष्टिरूपस्यापि निवृत्ता पूर्वप्रतीतं सर्वं न अहं वस्तु सत्. अयं हि तत्र ओतइव इति निश्चीयते. तत्र हेतुः **सद्‌घनो अयम्** इत्यादि. 'घन'पदं पिण्डितवाचकत्वाद् बीजस्यैव अस्य सूक्ष्माकारबोधकम्. तथाच स्वयं सर्वाकारो अयं स्वसदृशाभास-जननयोग्य वादोतइव व्यपदिश्यते इति अर्थः. द्वितीयकण्डिकायाम् आनन्दघनत्वस्य उपपादितत्वात् तत्र युक्तिम् अनुक्त्वा, एकरसत्वस्य पूर्वम् उपपादितत्वात् तेन चिद्घनत्वं साधयन्नेव सद्‌घनतावत्त्वे युक्तिम् आह **अव्यवहार्यः केचनाद्वितीयः** इति. तथाच व्यवहाराभावेऽपि बीजवत् सर्वत्वात् सद्‌घनता बोधिता इति अर्थः.

एवं शारीरस्य सर्वाकारत्वाद् व्यपदेशेन ओतत्वं साधयित्वा तथैव सर्वरूपतया तद्वाचकत्वाय प्रणवस्यापि व्यपदेशेनैव ओतत्वं साधयति **ओतश्च प्रोतश्च ॐकार** इत्यारभ्य **अस्ति** इत्यन्तम्.

तथाच, **''न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते, अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते''** (वाक्यप.१।११५) इतिन्यायेन ज्ञानमात्रं शब्दानुगतं, शब्दश्च वागात्मा वाक्च ॐकारात्मिका सर्वम् ॐकारेणैव उत्तरणात्. अतः ॐकारो वाचि प्रोतः वाक् च अर्थप्रत्यये अनुगतेति सर्वत्र प्रतिभासिके ॐकार ओतइव व्यपदिश्यते.

एवम् उभयोः ओतत्वं व्यपदेशेन साधयित्वा तेन शब्दार्थयोः नित्यसम्बन्धाद् ओतेन ॐकारेण ओतो अयमेव वाच्यः इति तेन बोधयित्वा मुख्यवृत्या वाच्यत्वाय आह **चिन्मय** इत्यादि **सर्वम्** इत्यन्तम्.

चिन्मयो हि अयम् ॐकारः चिन्मयम् इदं सर्वम्; तस्मात् परमेश्वरएव एकमेव तद्भवति; एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति; य एवं वेद इति रहस्यम्.

एवं द्वेधापि वाच्यत्वं बोधयित्वा फलितम् आह **तस्माद्** इत्यादि **एतद्ब्रह्म** इत्यन्तम्. तस्माद् एवम् ओतत्वेन व्यपदेशात् तादृशोङ्कारवाच्यत्वात् चिन्मयत्वाच्च आत्मा परमेश्वरएव. तत्र हेतुः **एकमेव** इत्यादि. यस्माद् ब्रह्मैकमेव अतः एतदपि आत्मस्वरूपम् अमृतम् अभयम् अतः एतदपि ब्रह्म इति अर्थः. एवं ज्ञाने फलम् आह **अभयम्** इत्यारभ्य **वेद** इत्यन्तम्. पूर्वप्रकारापेक्षया अस्य उत्कृष्टत्वाय आह **रहस्यम्** इति.

एवमेव अनुज्ञातृत्वमपि व्यपदेश्यपक्षेन अस्मिन् आह **अनुज्ञाता**

इत्याारभ्य **अनुजानाति** इत्यन्तम्.

अनुज्ञाता हि अयम् आत्मा एष हि अस्य सर्वस्य स्वात्मानम् अनुजानाति; न हि इदं सर्वं स्वत आत्मवद्; न हि अयम् ओतो न अनुज्ञाता असङ्गत्वाद् अविकारित्वाद् असत्त्वाद् अन्यस्य अनुज्ञाता हि अयम् ॐकार ॐ इति हि अनुजानाति; वाग्वा ॐकारो वागेव इदं सर्वम् अनुजानाति, चिन्मयो हि अयम् ॐकार:; चिद् हि इदं सर्वं निरात्मकम् आत्मसात् करोति; तस्मात् परमेश्वरएव एकमेव तद्भवति; एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति; य एवं वेद इति रहस्यम्.

व्यवहाराभावे अन्धकारइव आत्मलाभाभावाद् व्यवहरणेन तत्तदात्मलम्भकत्वाद् अनुज्ञाता इति अर्थः. ननु एतं विना सर्वस्य कुतो न आत्मलाभः इति अतः आह **न हि इदं सर्वं स्वत आत्मवद्** इति. तथाच विकल्पबुद्धेः जन्यत्वेन तद्विषयस्यापि मायामयस्य तथात्वाद् आत्मानम् अन्तरेण अजननात् तथा इति अर्थः. तर्हि अस्तु स्वाभाविकम् अनुज्ञातृत्वं तद् न आह **न हि** इत्यारभ्य **अन्यस्य** इत्यन्तम्. पूर्वोक्तोपासनया अयम् असङ्गः अतो अजो अनुज्ञाता अयम् अविकारी तेन अन्तःस्थं सर्वम् असद् अतो न ओतः. अतः तत्तद्रूपेण विवर्तमानत्वाद् ओतइव तेन असङ्गतत्वाद् अनुज्ञातेव व्यपदिश्यते इति न स्वाभाविकं तद् इति अर्थः. यथा अत्र तथ ॐकारेऽपि अनुज्ञातृत्वं पूर्ववद् आह **अनुज्ञाता** इत्वारभ्य **करोति** इत्यन्तम्. तथाच पुरुषगतम् अनुज्ञातृत्वं करणभूतेन ॐकारेण व्यज्यते इति सो अनुज्ञाता व्यपदिश्यते. सच वागभिन्नः इति वाक् तथा. अनुज्ञाता च ॐकारः चिन्मयः तस्मिन् ब्रह्माभिन्नत्वस्य पूर्वम् उक्तत्वात्. चिच्च विकल्पविषयस्य आत्मसात्करणाज्ञानाभावे अनुज्ञापनस्य अभावाच्च अनुज्ञातृता सा च ॐकारस्य पूर्वरूपम् अतोऽपि तथा व्यपदिश्यते इति अर्थः. एवं व्यपदेशेन उभयोः अनुज्ञातृत्वं साधयित्वा पूर्ववत् फलितम् आह **तस्माद्** इति आरभ्य

रहस्यम् इत्यन्तम्. अर्थः पूर्ववेदव.

अनुज्ञैकरसो हि अयम् आत्मा प्रज्ञानघनएव अयं हि अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातः, अतः चिद्घनएव न हि अयम् ओतो न अनुज्ञाता आत्म्यं हि इदं सर्वं सदेव, अनुज्ञैकरसो हि अयम् ॐकार ॐ इति हि एव अनुजानाति; वाग्वा ॐकारो वागेव हि अनुजानाति; चिन्नयो हि अयम् ॐकारः चिदेव हि अनुजानाति; तस्मात् परमेश्वरएव एकमेव तद् भवति; एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति; य एवं वेद इति रहस्यम्.

एवमेव अनुज्ञातृत्वम् अस्य आह **अनुज्ञा** इत्यारभ्य **सदैव** इत्यन्तम्. तथाच सर्वस्मात् पूर्वं भातत्वेन चिद्घनत्वाद् अयं प्रज्ञानानां नानाविधबुद्धीनां घनात्मा तेन तत्प्रज्ञानघनत्वाद् अनुज्ञारूपो व्यपदिश्यते. ॐकारश्च स्वरूपेण वाग्रूपेण चिन्मयत्वे च मुख्य–गौणवृत्तिभ्यां तथा व्यपदिश्यते. तस्मात् तद्वाच्यत्वाच्च अयं परमेश्वराभिन्नः इति. शेषः समानो अर्थः. अविकल्पत्वं पूर्ववद् अस्य आह **अविकल्प** इत्यारभ्य **ॐकारः** इत्यन्तम्. शारीरो अर्थो द्वितीयः प्रणवः शब्दाद्वितीयः चिन्मयश्च तस्मात् तेन रूपेणाऽपि ॐकारवाच्यत्वाद् अयं परमेश्वराभिन्नः. तत्र हेतुः एकमेव, तद्भवति इति. ननु परमेश्वरो वस्तुतः सर्वात्मा, अयन्तु व्यपदेशेन इति कथम् अयं तदभिन्नः? इति आकांक्षायां विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपां युक्तिं वदन् असम्भावनायाम् अनिष्टं भवति इति आह **अविकल्प** इत्यारभ्य **अश्नोति** इत्यन्तम्. एवं सर्वं बोधयित्वा फलितम् आह **तद् एतद् द्वयं स्वप्रकाशम् आत्मैव** इत्यादि. शेषं पूर्ववत्.

इति अष्टमः खण्डः।।८।।

।। अथ नवमः खण्डः ।।

एवं सप्तम्यष्टमीभ्यां प्रणवव्यपदेशभाक्त्वं ब्रह्माभेदश्च अस्य उक्तः. तेनापि अमृताभयरूपत्वाद् ब्रह्मत्वेनैव अस्य ॐकारत्वं न सिद्धं न स्वातन्त्र्येण सर्वरूपतया इति. देवानां निश्चये सम्पन्ने देवाः मुख्यवृत्या प्रणववाच्यं तदात्मकं परमेश्वरमेव सिंहं स्वात्मत्वेन ज्ञातुम् इच्छन्तः पुनः प्रजापतिं विज्ञापयन्ति इति आशयेन आह **देवा** इत्यारभ्य **उपदिश** इत्यन्तम्.

देवा ह वै प्रजापतिम् अब्रुवन् इममेव नो भगवन् ॐकारम् आत्मानम् उपदिशेति. तथा इति उपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा सिंहः चिद्रूपएव अविकारो हि उपलब्धा सर्वत्र न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव सिद्धो अद्वितीयो मायया ह्यन्यदिव स वा एष आत्मा पर एव एषैव सर्वम्.

इममेव ॐकारवाच्यं तदात्मकम् अस्मदात्मत्वेन उपदिशेद् इति अर्थः. तदा प्रजापतिः तथा इति अङ्गीकृत्य उपदेक्ष्यन् उपद्रष्टानुमन्तैषः आत्मा सिंहः इत्यनेन द्रष्टृत्वादिना अनुभूयमानस्य अस्य सिंहत्वं चिद्रूपत्वं प्रतिज्ञाय, कथम् इति आकांक्षायां सिंहत्वे चिद्रूपत्वे च हेतुम् आह **अविकारो हि उपलब्धा सर्वत्र** इति अविकारित्वात् सिंहः सर्वत्र उपलब्धत्वात् चिद्रूपः इति अर्थः. ननु सर्वत्र उपलब्धारो नाना अनुभूयन्ते इति कथम् एकस्यैव सर्वत्र उपलब्धृत्वम्? इत्यतः आह **न हि अस्ति द्वैतसिद्धिः आत्मैव सिद्धो अद्वितीयः** इति. पूर्वोक्तप्रकारेण अद्वितीयत्वाद् अयं परमात्मैव सिद्धः. अतो अस्य ब्रह्मभावे व्यापकत्वाद् न द्वैतसिद्धिः इति अर्थः.

ननु सिद्धः इदानीं द्वैतोपलब्धेः इति आशङ्कायाम् अद्वयत्वम् उपपादयिष्यन् द्वैतस्य अवास्तवत्वादिकं पूर्वम् आह **'मायया हि अन्यदिव स वा एष आत्मा परएव'** इति. सः पूर्वोक्तप्रकारेण(?)जया चतुष्पादेषो अविकल्पः आत्मा शारीरः परएव मायया कृत्वा यथा अन्येषां पञ्चिकं (प्रापञ्चिकमिति–

स्यात्!) भिन्नं प्रतीयते तथा अयमपि अन्यइव भासते अतो द्वैतोपलब्धिः अवास्तवी तया जायतइति आत्मा परमात्मैव इति अर्थः. कथं तया जायते? इति आकांक्षायां इयम् अद्वैते प्रतिबद्ध्य स्वयम् अन्तराविषयीभवति इति जायते इति आशयेन आह **एषैव सर्वम्** इति.

> **तथाहि प्राज्ञैः सैषा अविद्या जगत् सर्वम् आत्मा परमात्मैव स्वप्रकाशोऽपि अविषयज्ञानत्वाद् जानन्नेव हि अत्र न विजानाति. अनुभूतेः माया च तमोरूपानुभूतेः तदेतद् जडं मोहात्मकम् अनन्तं तुच्छम् इदं रूपम् अस्य, अस्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढैः आत्मैव दृष्टा.**
>
> **अस्य सत्त्वम् असत्त्वञ्च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन सैषा वटबीजसामान्यवद् अनेक-वटशक्तिः एकैव.**

कथम् इदं निश्चेयम् इति आकांक्षायाम् आह **तथाहि प्राज्ञैः** इति. सुषुप्तिसाक्षिणीदं सिद्ध्यति इति अर्थः. तदा यत् सिद्ध्यति तद् आह **सैषा अविद्या जगत् सर्वम् आत्मा परमात्मैव** इति. सुषुप्तौ सर्वस्य अस्मिन् लयाद् अस्य च प्राज्ञैक्यात् तथा इति अर्थः. ननु आत्मा चेत् परमात्मैव तदा कथम् अस्य मायायाः अज्ञानं, अज्ञत्वे च कथं तदैक्यं, माया च कीदृशी कथं सिद्धेति आकांक्षायां द्वयमपि तदनुभवेन संवादयति **स्वप्रकाशः** इत्यारभ्य तमोरूपानुभूतेः इत्यन्तम्. ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तरीत्या स्वप्रकाशोऽपि शारीरः सुषुप्तौ प्राज्ञपरिष्वङ्गेन तदैक्ये केवलएव तिष्ठतीति अविषयज्ञानात्मकत्वात् तं स्वं च जानन्नपि. एवं जाग्रद्वद् भेदेन अत्र सुषुप्तौ न विजानातीति न किञ्चिद् अवेदिषम् इति स्मरणान्यथा-नुपपत्या तज्जनको अज्ञत्वानुभवः स्वप्रकाशात्मा भिन्नो अवसीयते. बाह्यस्य तमसः तत्र अभावात् स्वप्रकाशस्य अज्ञत्वापादिका माया च तैनैव अनुभवेन अवसीयते. अतएव श्रुत्यन्तरे ''**न बाह्यं वेद नान्तरम्**'' (बृहदा.उप.४।३।२१) इति सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमो अभिभूतः सुखरूपम् एति इति. तथाच सा

तमोरूपा अयं च परमात्मत्वेऽपि तया अज्ञः इति अर्थः.

ननु अस्तु तमोरूपा माया तथापि इदं कथं मायात्मकं, न हि अस्मिन् तमोरूपत्वम् अनुभूयते येन तथा अङ्गीक्रियते. नच सुषुप्तौ तददर्शनात् तथात्वं विप्रतिपन्नत्वाद् इति अतः आह **तद् एतद् जडं मोहात्मकम् इदं रूपम्** इति. एवम् अचिद्रूपत्वाद् इदं माया इति अर्थः. तर्हि सेवेदमपि न प्रतीयेत इति आशङ्कायां तस्याः कार्यम् आह **अस्या व्यञ्जिका** इत्यारभ्य **अस्वतन्त्रत्वेन** इत्यन्तम्. तथाच ज्ञानिभ्यो नित्यनिवृत्तापि अस्याः समन्ताद् व्यञ्जिकात्वाद् मूढेभ्यो तया रीत्या यथायथं प्रपञ्चे अस्मिन् स्वं प्रदर्शयतीति इदं प्रतीयते आत्मभेदश्च भासते नतु वास्तवो अतो न दोषः इति अर्थः. मूढदर्शनानुरोधेन प्राप्तस्य तद् नानात्वस्य अपाकरणाय दृष्टान्तमुखेन तस्याः एकत्वं सामर्थ्यं च आह **सैषा** इत्यारभ्य **एकैव** इत्यन्तम्.

दुरूहत्वाद् दृष्टान्तं व्याकुर्वन् दार्ष्टान्तिके विशेषम् आह **तद्यथा** इत्यारभ्य **भवति** इत्यन्तम्.

तद् यथा वटबीजसामान्यम् एकम् अनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटान् स्वबीजान् उत्पाद्य तत्र तत्र च सम्पूर्णं सन्तिष्ठति; एवमेव एषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति; माया च अविद्या च स्वयमेव भवति.

वटबीजन्तु उत्पाद्य वटेषु पूर्णं सन्तिष्ठति इयन्तु उत्पादने तत्र-तत्र स्थाने च असामर्थ्याद् दर्शयन्त्येव दर्शयित्वा वा भासेन जीवेशौ करोति यथा आदर्शं दर्शयित्वा प्रतिबिम्बं. तथाच तया स्वात्मकक्षेत्रदर्शने परमात्मनः चन्द्रस्येव तथात्मांशप्रवेशने तस्य कार्येश्वरभावो भवति. आभासे द्वैविध्यार्थं स्वयं माया अविद्या भवति इति एवं तस्याः सामर्थ्यम् इति अर्थः.

ननु एवं तस्याः कथं नानारूपत्वं कथं च एवं सामर्थ्यम्? अतः आह **सैषा** इत्यादि **दीप्ता** इत्यन्तम्.

सैषा चित्रा सुदृढा बह्वङ्कुरा स्वयं गुणाभिन्नाङ्कुरेष्वपि गुणाभिन्ना सर्वत्र ब्रह्म–विष्णु–शिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता.

तथाच त्रिगुणभिन्नत्वाद् नानात्वं परमेश्वरस्य गुणेन चैतन्येन दीप्तत्वाद् ब्रह्मादिरूपवतीतु एतेन एवम् अस्याः सामर्थ्यम् इति अर्थः.

ननु चैतन्यदीप्तत्वेन दर्शकत्वम् अस्याः भवतु नतु ब्रह्मादिरूपवत्तापि इति अतः आह **तस्माद्** इत्यादि **योनित्वमपि** इत्यन्तम्.

तस्माद् आत्मनएव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि. अभिमन्ता जीवो नियन्ता ईश्वरः सर्वाहम्मानी हिरण्यगर्भः त्रिरूप ईश्वरवद् व्यक्तचैतन्यः सर्वगो हि एष ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा.

तथाच यस्माद् इयम् आभासाधारभूती त्रिरूपवता तस्माद् आभास्यः परमात्माऽपि त्रिविधः, आभासाभास्ययोः समानरूपतादिनियमात्. यस्मात् च इयं दर्शयित्येव नतु जनयित्रीदर्शनं च जननं विना अनुपन्नं तस्मात् स्वयमेव योनिः इति रूपवत्तादर्शकत्वं च ब्रह्मधर्मसङ्क्रमणाद् न विरुद्धम्. अतएव श्रुत्यन्तरे **''पुरुषं ब्रह्मयोनिम्''** (मुण्ड.उप.३।१।३) इति व्यासचरणैरपि **''योनिश्च हि गीयते''** (ब्रह्मसूत्र १।४।२७) इति उक्तम्. एतेनैव देशप्रकरण्याः चित्रदीपे तापनीयश्रुतिं माया च तमोरूपा इत्यादिकाम् उपन्यस्य जगतो मायामयत्वं मायायाश्च प्रकृतित्वेन योनित्वं प्रकटीकृतं तत् परास्तं बोध्यम्. त्रैविध्यप्रसङ्गाद् अन्यदपि त्रैविध्यं ब्रह्मणः आह **अभिमन्ता** इत्यादि **व्यक्तचैतन्यः** इत्यन्तम्. जीवेश्वरहिरण्यगर्भभेदेन त्रिविधः. आत्मा तत्रापि हिरण्यगर्भो ब्रह्मादिभेदेन त्रिरूपः इति अर्थः. एतदेव

दृढीकर्तुं पुनः ब्रह्मणो माहात्म्यान्तरम् आह **सर्वगः** इत्यादि **ज्ञानात्मा** इत्यन्तम्. पञ्चमकण्डिकायाम् ईश्वरस्य सर्वगत्वं यद् उक्तं तत् क्रियाज्ञानरूपेण इति अर्थः.

ननु क्रियाज्ञानात्मा चेत् सर्वगः तदा सर्वेषु ते कुतो न प्रतीयन्ते? इति आकांक्षायाम् आह **सर्वम्** इत्यारभ्य **अल्पाः** इत्यन्तम्.

सर्वं सर्वमयं, सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु तथापि अल्पाः, स वा एष भूतानि इन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्य अमूढो मूढइव व्यवहरन् आस्ते माययैव.

भगवान् हि ''प्रजायेय'' इति इच्छया उच्चनीचभावेन क्रीडार्थं क्रियाज्ञाने तिरोधापयन् प्रपञ्चे जडरूपतां जीवे च अभिमन्तृत्वं धत्तइति विस्फुलिङ्गवद् उच्चरिताः जीवाः अल्पत्वाद् न जानन्ति इति अर्थः. पूर्वोक्तं समर्थयितुं मायायाः करणत्वं च प्रकटयितुम् अभिन्ननिमित्तोपादानतां प्रकटयन् लीलां तस्य आह **स वा** इत्यारभ्य **माययैव** इत्यन्तम्.

यदर्थम् एतावद् निरूपितं तद् अद्वयत्वं परमेश्वरस्य सर्वरूपत्वेन मायायाः व्यवहारकरणत्वकथनेन च सिद्धमिति तन्निगमयति **तस्माद् अद्वयएव अयम् आत्मा** इति. यः एवम् अद्वयत्वेन सिद्धः सएव अनेन प्रकारेण प्रविश्य व्यवहरणाद् एतच्छारीररूपः इति अर्थः.

तस्माद् अद्वयएव अयम् आत्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुः अद्वय आत्मानन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैः एतैः अवगतः.

एवम् अस्य परमेश्वराभिन्नत्वं साधयित्वा आश्रयस्य स्वरूपलक्षणानि द्वादशसङ्ख्याकानि पूर्वोक्तरूपतायां प्रमाणत्वे वदन् आह **सन्मात्र** इत्यारभ्य

अवगतः इत्यन्तम्. एतेषां च प्रमाणत्वम् उत्तरोत्तरेण पूर्वपूर्वसाधने सिद्ध्यन्ति, प्रत्यग्ररसत्वन्तु प्रत्यक्षादेव सिद्ध्यतीति तथा. एतैः परात्मधर्मैः अस्मिन् वर्तमानैः परमात्मा अभिन्नत्वेन अयम् अवगतः इति अर्थः.

एवं सिद्धे अस्य परमात्माभिन्नत्वे स्वातन्त्येण सर्वात्मत्वबोधनार्थं यजमानः सर्वस्य आविद्यकत्वनिराकरणाय सद्रूपत्वं पूर्वं साधयति **सत्तामात्रं हीदं सर्वं सदेव पुरस्ताद्** इति.

सत्तामात्रं हि इदं सर्वं सदेव पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्म, न हि अत्र किञ्चनानुभूयते.

धर्म-धर्मिणोः प्रकाशाश्रयवद् अभेदात् सर्वं धर्मधर्मिभावभवनात् पूर्वं सदेव इति अर्थः. तेन असत्कार्यवादाभावाद् आद्यन्त-राहित्येन आविद्यकत्वं निराकृतं नित्यत्वं च उक्तम्. धर्मत्वकथनात् कृत्स्नप्रसक्तिरपि निरस्ता. सद्रूपत्वम् एवम् उक्त्वा तत्र हेतुम् आह **सिद्धं हि ब्रह्म न ह्यत्र किञ्चनानुभूयते** इति अत्र ब्रह्मणि किञ्चन तदतिरिक्तं न अनुभूयते अतो यद् अनुभूयते तद् धर्मरूपेण प्रकटं ब्रह्मैव न इतरद् इति अर्थः. सप्तम्यां किं सद्? इति प्रश्ने अनुभवन् **उवाच** इत्यनेन यद् अनुभवः उक्तः तद् इदम् एवम् अत्र उक्तम्.

ननु पूर्वं **सैषा अविद्या जगत्सर्वम्** इति अनेन विद्यात्मकत्वम् उक्तम् आसीत् तद् विरुध्यते इति आशङ्कानिरासाय आह **न अविद्या** इत्यारभ्य **अद्वय** इत्यन्तम्.

न अविद्यानुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिणि अविक्रिये अद्वये पश्यतेहापि सन्मात्रं असद् अन्यत् सत्यं हि इत्थं पुरस्ताद् अयोनिः स्वात्मस्थम् आनन्द-चिद्घनं सिद्धं हि असिद्धम्. तद्विष्णुः ईशानो ब्रह्मान्यदपि सर्वं सर्वगं सर्वम्.

तथाच ईदृशो नास्ति अल्पो अस्ति जीवः तत्रैव सा. तेन तादृशाः यद् अनुभूतं तदेव अविद्यात्मकं नतु इदम् इति अर्थः. एतावता ओतत्वं ब्रह्मणि निश्चायितं शारीरेऽपि तदभिन्नत्वाद् एवम् ओतत्वपरिचायनाय आह **पश्यतेहापि सन्मात्रम् असद् अन्यद्** इति. इह शारीरेऽपि पूर्वोक्तं सन्मात्रं पश्यत. अन्यद् एतदतिरिक्तं विकल्पबुद्धिवृत्यात्मकम् असत्पश्यत इति अर्थः.

ननु धर्मरूपं सर्वं नानाकारं तत्कथं सन्मात्रं पश्यामः? इति आकाङ्क्षायां नानाकारत्वेऽपि सन्मात्रत्वम् उपपादयति **सत्यं हि** इत्यारभ्य **सर्वगं सर्वम्** इत्यन्तम्. पुरस्तात् सृष्टेः प्राक्. अयोनिः अनुत्पादकं स्वात्मस्थं स्वरूपस्थम् आनन्दचिच्छरीरं सिद्धं. तत् तदेवं विष्णुः ईशो ब्रह्मा अन्यदपि प्रापञ्चिकं सर्वं तदेव पूर्वप्रस्तुतं ब्रह्मैव. अतो विविधाकारत्वेऽपि अहिकुण्डलन्यायेन सन्मात्रावगतिः न विरुद्ध्यते इति अर्थः. अतएव सर्वगं सर्वम् इत्यपि, तेन अस्य ओतत्वं न विरुद्ध्यतइति अष्टम्युक्त-सच्चिदानन्दत्वेऽपि ओतत्वं सिद्धम् इति भावः.

एतेनैव अस्य शुद्धत्वाबाह्यत्वेऽपि सिद्धे इत्याह **अतएव शुद्धो अबाह्यस्वरूपः आत्मा** इति. यतः सर्वम् अविद्या तत्कार्याभ्यां भिन्नम् अतएव इति अर्थः.

अतएव शुद्धो अबाह्यस्वरूपो बुद्धः सुखरूप आत्मा. न हि एतत् निरात्मकमपि नात्मा पुरतो हि सिद्धो न हि इदं सर्वं कदाचिदात्मा हि स्वमहिमस्थो निरपेक्ष एकएव साक्षी स्वप्रकाशः.

ननु सर्वं चेद् एतद्ब्रह्मात्मकं तदा आत्मापि सर्वरूपः, तथा सति बाह्यमपि सएवेति कथम् अबाह्यस्वरूपः? इति अतः आह **न हि एतन्निरात्मकमपि** इति. एतद् अस्माभिः उच्यमानं यदि निरात्मकं स्यात् तथा,

यतो न एवम् अतो अबाह्यः इति अर्थः. कुतो न निरात्मकम्? तत्र आह **न आत्मा हि पुरतः सिद्धः** इति. यथा आत्मा पुरतः वृत्तिलाभस्थानेभ्यः पुरेभ्यः सिद्धो ज्ञातः स्यात् तथा नतु एवम् अतः पुरात्मकम् इदं न निरात्मकम् इति अर्थः. पुरेभ्यः कुतो न सिद्धः इत्यतः आह **न हि इदं सर्वं कदाचिद्** इति. किन्तु सर्वदा इति अर्थः. तथाच यतः इदं सर्वदा अतः पुरेभ्यो न आत्मसिद्धिः यउ(?) एवम् अतः सर्वदा पुरं सदा सात्मकं, यतः सदा तथा अतो अविनाभावेन भेदस्य आपादयितुम् अशक्यत्वात् प्रत्यग्रसत्वस्य अस्मिन् सिद्धत्वाद् अयम् अबाह्यएव इति अर्थः. तद् एतत् सर्वं सङ्कलय्य आह **आत्मा हि** इत्यादि **स्वप्रकाशः** इत्यन्तम्.

ननु पूर्वं 'सृष्ट्वा' इत्यनेन सृष्टिः उक्ता तदनुरोधाच्च कादाचित्कत्वं वाच्यम्. तथा सति निरात्मकतापि अस्य सिध्यतीति तन्निरात्मकं किम् आविद्यकम् इदमेव वा इति वाच्यम्? इति शङ्कायाम् आह **किं तद्** इति आरभ्य **विचिकित्स्यम्** इत्यन्तम्.

किं तद् नित्यम्? आत्मनो अत्र हि एव न विचिकित्स्यम्
एतद् हि इदं सर्वं साधयति.
द्रष्टा द्रष्टुः साक्ष्यविक्रियः सिद्धो निरविद्यो बाह्यान्तर;
वीक्षणात्, सुविस्पष्टः तमसः परस्तात्.

तत्र हेतुम् आह **एतद्धि इदं सर्वं साधयति** इति. एतद्ब्रह्म इदं सर्वं साधयति इति अर्थः. कथम्? इति आकाङ्क्षायां प्रकारम् आह **द्रष्टा** इत्यारभ्य **वीक्षणाद्** इत्यन्तम्. द्रष्टुः साक्षी इति. स्वयं द्रष्टा द्रष्टुः शारीरस्यापि साक्षी इति अर्थः. तथाच यदा अयम् आत्मा बाह्यं वीक्षते तदा तदात्मकं तमः स्वशक्तिरूपं ततः तिर(स्?)करोति सैव सृष्टिः यदा आन्तरं वीक्षते तदा तत्तमो बहिः आवृणुते. सएव साधयतीति निरात्मकत्वम् उपचर्यते न विचिकित्स्यम् इति भावः. जीववदेव कुतो न करोति? इत्यतः आह **सुविस्पष्टस्तमसः परस्ताद्** इति. एवं व्यक्तत्वात् तमो नियामकः इति अर्थः. तथाच जीवाविद्याकृतं निरात्मकम् अन्यद् इदम्

अन्यत्. अतः एतादृशपरमात्माभेदाद् अस्यापि मुख्यमेव अनुज्ञातृत्वं सिद्धम् इति भावः.

ब्रूत एष दृष्टो वा? इति, दृष्टो अव्यवहार्योऽपि अल्पो न अल्पः साक्ष्यविशेषो न अन्यः, असुखदुःखो अद्वयः परमात्मा सर्वज्ञो अनन्तो अभिन्नो अद्वयः; सर्वदा संवित्तिः मायया, न असंवित्तिः स्वप्रकाशः, यूयमेव, दृष्टः किम् अद्वयेन? न, द्वितीयमेव, न यूयमेव ब्रूह्येव, भगवन् इति ते देवा ऊचुः, यूयमेव.

दृश्यते चेद् न आत्मज्ञाः असङ्गो हि अयम् आत्मा; अतो यूयमेव स्वप्रकाशाः. इदं हि सत्–संविन्मयत्वात् यूयमेव न इति होचुः; हन्त असङ्गा वयम् इति होचुः.

एवम् उपदिश्य उद्यमसाफल्याय पृच्छति **ब्रूत** इत्यादि. तावतापि तेषाम् ईशात्मनो अणुत्वेन अन्तरेव ज्ञानं जातमिति ते ऊचुः **दृष्टो व्यवहार्यः** इत्यादि. तच्च अन्धहस्तिवद् एकदेश्यमेवेति तदनुवदन् प्रजापतिः आह **नाल्पः** इत्यारभ्य **अभिन्नः** इत्यन्तम्. अन्याभिन्नपदाभ्यां भेदाभेदः उक्तः. '**अद्वय**'पदेन ब्रह्मस्वरूपविचारेण भेदः उक्तः. एवम् उक्ते तेषां पुनः अधिकं ज्ञानं जातमिति ते पुनः आहुः '**अद्वयः**' इत्यादि दृष्टः इत्यन्तम्. मायया न असंवित्तिः इति. मायया असंवित्तिः न किन्तु स्वप्रकाशो भवदात्मकएव दृष्टः इति. तत्र पुनः आह **किम् अद्वयेन** इति. ततः **ते ऊचुः द्वितीयम्** इत्यादि. भेदापादकत्वात् तदपि निषेधन् पुनः आह **यूयम्** इत्यारभ्य **सत्संविन्मयत्वाद् यूयमेव** इत्यन्तम्.

पूर्वं हि अवहार्यत्वमात्रं तैः ज्ञातं ततः स्वप्नभिन्नत्वेन व्यापकत्वादिकं तेन तेषां हृदि स्वस्मिन् ब्रह्मभावो न अस्फुरद् इति स्फोरयितुम् **असङ्गः** इत्यारभ्य **सत्संविन्मयत्वाद् यूयम्** इत्यन्तं प्रजापतिना उक्तम्. तदा तेषां किञ्चिद् अधिकं ज्ञानं जातम् इति **तेन** इत्यारभ्य **होचुः** इत्यन्तम् ऊचुः.

एवम् असङ्गत्वे स्वस्मिन् स्फुरिते ब्रह्मात्मभावोऽपि स्फुरितप्रायः, परं सप्रतीको वा पूर्णोत्र परीक्षार्थं पृच्छति **कथं पश्यन्ति** इति.

कथं पश्यन्ति इति होवाच. न वयं विद्म इति होचुः.
ततो यूयमेव स्वप्रकाशा इति होवाच; नच सत्–संविन्मयाः.

सर्वात्मत्वेन असङ्गा वा सर्वमिथ्यात्वेन असङ्गा वा कथम् असङ्गाः इति प्रश्नार्थः. तत्र तैः स्वाज्ञाने उक्ते बोधनाय पुनः आह **ततः** इत्यादि. स्वात्मज्ञाएव यूयं जाताः नतु सच्चित्प्रचुराः पूर्णज्ञानाः इति अर्थः.

एतौ हि पुरस्तात् सुविभातम् अव्यवहार्यमेव अद्वयं ज्ञातो
वा एष विज्ञातो विदिताविदितात् पर इति होचुः.
स होवाच, तद्वा एतद् ब्रह्माद्वयम्.

इति तज्ज्ञानस्वरूपम् उक्त्वा पुनः उपदिशति **एतौ हि** इत्यादि. एतौ इदन्त्वेन भासमानौ सत्संविन्मयौ जीव–जडौ सत्संविदावेव वा पुरस्तात् सुविभातं सन् घटः सन् पटः सन् जीवः इत्येवं सर्वस्य पूर्वं सुतरां विशेषेण स्फुरितम् अव्यवहार्यमेव अद्वयं ब्रह्मैव इति अर्थः.

एवम् उपदिश्य पुनः पृच्छति **ज्ञातो वा एष** इति. ततः तैः विदिताविदिताद् व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चात् परो अस्माभिः विज्ञातः इति उक्ते पुनः उपदिशति **तद्वा एतद्** इत्यादि **पश्यत** इत्यन्तम्. भवद्भिः परत्वेनैव ज्ञातो नतु सर्वात्मत्वेनापि तेन आह तत् पूर्वोक्तं सत्संविन्मयं, **वै** निश्चयेन, एतदेव यद्भवद्भिः परत्वेन ज्ञातं तदेव नतु ततो अन्यत्. तत्र हेतुः **ब्रह्माद्वयम्** इति. यदि अन्यत् किञ्चिदपि स्याद् अद्वयत्वं भज्येतैव अतो न इदं भिन्नम् इति अर्थः.

सम्यग्बोधयितुं ब्रह्मस्वरूपविचारेण धर्मान्तरानपि आह **बृहत्वाद्** इत्यारभ्य **केनचन** इत्यन्तम्.

बृहत्वाद् नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णम् अद्वयं सदानन्दचिन्मात्रम् आत्मैव अव्यवहार्यं केनचन तदेतद् आत्मानम् ॐ इति अपश्यन्तः पश्यत; तदेतत् सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैव. अत्र ह्येव न विचिकित्स्यम् इति ॐ सत्यम्. तदेतत् पण्डिताएव पश्यन्ति.

'सूक्ष्म'पदम् अणुत्वबोधकं नतु दुर्ज्ञेयत्वस्य, 'अव्यवहार्य' पदवैयर्थ्यापातात्. सूक्ष्म-परिपूर्णपदाभ्यां विरुद्धधर्मसिद्ध्या द्वैतापत्तिरिति तद्वारणाय 'अद्वय'पदम्. तैः सर्वात्मकत्वे सति सर्वातिरिक्तरूपता न ज्ञातेति तदर्थं तव ज्ञानम् अनुवदन् आह **तदेतम् आत्मानम् ॐइति अपश्यन्तः पश्यत** इति. यद् भवद्भिः उपदेश्यत्वेन चोदितं तद् एतं विदितत्वेन भवद्भिः उक्तम् आत्मानम् ॐकारप्रतिपाद्य-चतुष्पात्त्वेन अपश्यन्तः इदानीं **पश्यत** इति उपदेशः. एवम् उपदिश्य अप्रतारकत्वाय आह **तदेतत् सत्वम्** इत्यारभ्य **अविचिकित्स्यम्** इत्यन्तम्. तथापि तेषाम् अज्ञाने अनिवृत्ते तेषां हीनाधिकारित्वं सूचयन् आह **इति ॐ सत्यम्** इत्यारभ्य **पश्यन्त** इत्यन्तम्. इति इदानीम् उक्तम् आत्मानम् ॐप्रणवप्रतिपाद्य-चतुष्पाद्रूपं सत्यं पण्डिताः उत्तमाधिकारिणएव पश्यन्ति नतु हीनाधिकारिणः.

एवं तादृश-दर्शनानधिकारं तेषां बोधयित्वा सत्स्वरूपं पुनः उपदिशन् अभेदबोधनाय पुनः उपदिशति **तद्धि** इत्यारभ्य **सोऽहम्** इत्यन्तम्.

एतद् हि अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अरसम् अगन्धम् अव्यक्तव्यम् अनादातव्यम् अगन्तव्यम् अविसर्जयितव्यम् अनानन्दयितव्यम् अमन्तव्यम् अबोद्धव्यम् अनहङ्कर्त्तव्यम् अचेतयितव्यम् अप्राणयितव्यम् अनपानयितव्यम् अव्यानयितव्यम् अनुदानयितव्यम् असमानयितव्यम् अनिन्द्रियम् अविषयम् अकरणम् अलक्षणम् असङ्गम् अगुणम्

अविक्रियम् अव्यपदेश्यम् असत्त्वम् अरजस्कम् अतमस्कम् अजम् अमायमपि औपनिषदमेव सुविभातं सकृद् विभातं पुरतो अस्मात् सर्वस्मात् सुविभातम् अद्वयं पश्यताहं सः सो अहम् इति.

तथाच यत् पण्डितैः ॐइति दृष्टं तदेव एतादृशम् अद्वयं तदभिन्नम् आत्मानं पश्यत इति अर्थः.

पूर्वम् उपदिश्य पुनः पृष्टे ततः ते ऊचुः **दृष्टः** इत्यादि.

स होवाच, किम् एष दृष्टो अदृष्टो वा इति; दृष्टो विदिताविदितात् पर इति होचुः; क्व एषा कथम् इति होचुः; किं तेन; न किञ्चन इति होचुः; यूयम् आश्चर्यरूपा इति न च इति आह. ओम् इति अनुजानीध्वं, ब्रूत एनम् इति ज्ञातो अज्ञातश्च इति होचुः. नच एवम् इति होचुः ब्रूतैवैनम् आत्मसिद्धम् इति होवाच.

पश्यामएव भगवन् नच वयं पश्यामो नैव वयं वक्तुं शक्नुम; नमस्ते भगवन् प्रसीद इति होचुः; न भेत्तव्यं पृच्छत इति होवाच; क एषा अनुज्ञा इति.

पूर्वं हि ज्ञानमात्रम् उक्तम् इदानीं दर्शनम् उक्तं तेन इदम् अपरोक्षम् इति ज्ञायते. तथा सति माया निवृत्ता. तदा ते पुनः ऊचुः **क्व एषा** इत्यादि. क्व एषा माया, क्व कथं स्थिता गता च कथम् इति. एतावता ओतत्वम् अनुज्ञातृत्वं च तैः ज्ञातम् अतः परम् अग्रिमं ज्ञापयितुं पुनः आह **किं तेन** इति. तज्ज्ञानेन तत्स्थिति-गत्यादिज्ञानेन भवतां किं प्रयोजनम्? तत्रापि तैः प्रयोजनाभावः उत्तरिते पुनः आह **यूयम् आश्चर्य...** इत्यादि. विलक्षणो भवदधिकारः न पूर्णज्ञाः मायया भगवदभिन्नत्वेन ज्ञानाभावात्. नाऽपि अज्ञा परमात्मनो दृष्टत्वात्. अतो

मध्यमाधिकारिणः इति. तदधिकारम् अनूद्य पूर्वापेक्षया उत्तमत्वाय आह **नच** इति. यद् न किञ्चन इति उक्तं मायास्थित्यादिज्ञानस्य निष्प्रयोजनकत्वं दतपि न इति उक्त्वा प्रणवविचारेणैव तेषां हीनत्वं गतम् इति मध्यमताऽपि ततएव गन्त्रीति आशयेन पुनः प्रणवोपासनामेव उपदिशति ॐइत्यनुजानीध्वम् इति. ॐकारात्मतायां यच्छिष्टं तद् अनुभवतेति मदुक्त्यनन्तरं जानीध्वम् इति अर्थः.

एवम् उक्त्वा तज्ज्ञानं परीक्षितुं पुनः पृच्छति **ब्रूतैव एनम्** इति. **ततः तैः पुनः स्वज्ञाने तदुक्ताज्ञाने च ज्ञातः** इत्यारभ्य **नच एवम् इति होचुः** इत्यन्तेन उक्ते पुनः तज्ज्ञानाकारं पृच्छति **ब्रूतैव एनम् आत्मसिद्धिम्** इति. **ततः तैः पश्यामः** इत्यारभ्य **होचुः** इत्यन्तेन दर्शनस्वकर्तृकादर्शनादिकथनात् प्रमेयबलाद् ज्ञापिते स्वमौढ्यदर्शनज–गुरुकोपनिवृत्तौ विज्ञापितायाम् अज्ञानशेषं मत्वा पुनः प्रश्नाय आह **न भेत्तव्यं पृच्छत** इति. ततः ते ऊचुः **क्व एषा** इति. सर्वं ब्रह्मात्मकं ब्रह्म च सर्वत्र आतम् अनुज्ञातृतदभेदाद् अयं शारीरोऽपि तथा इति अस्माभिः ज्ञातम्. परं या अन्यथाज्ञानजनयित्री माया सा अस्माभिः न ज्ञाता क्व कथं स्थिता, गता च कथम् इति तद्वक्तव्यम् इति शेषः. तदा प्रजापतिः आह **अनुज्ञा** इति. तथाच ब्रह्मणि प्रणवात्मके या तुरीयस्य तृतीया मात्रा सा इयम् इति तत्रैव विकल्पबुद्धिरूपेण स्थिता इति अर्थः.

एषएव आत्मा इति होवाच; ते होचुः; नमः तुभ्यं वयं तव; इति ह प्रजापतिः देवान् अनुशशासानुशशासा इति. तदेष श्लोकः।।

एवं सम्पूर्णम् उपदिश्य अविकल्पतायाः पूर्वं ज्ञातत्वाद् उपदेशं समापयति श्रुतिः **एष आत्मेति हो वाच** इति. परमा अभिन्नत्वेन उपदिश्यमानः आत्मा एषः पूर्णतया अभिरुक्तः इति अर्थः.

एवम् उपदेशे देवाः पूर्णज्ञानाः सन्तो गुरुं नत्वा आत्मसमर्पणं गुरौ चक्रुः

इति आह **ते होचुः** इत्यारभ्य **वयं ते** इत्यन्तेन समाप्तिं द्योतयति **इति ह** इत्यादिना.

एतदेव श्लोकेन सङ्गृह्णाति **ओतम्** इत्यादि.

ओतम् ओतेन जानीयाद् अनुज्ञातारमान्तरम् ।
अनुज्ञाम् अद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारम् आव्रजेदिति ।।

इति नवमः खण्डः।।९।।

ओतेन ब्रह्मणा आन्तरं शारीरं ओतम् अनुज्ञातारं जानीयात्. तादृशज्ञानेन अनुज्ञां मायाशक्तिम् अद्वयं ब्रह्मैव ज्ञात्वा उप समीपे द्रष्टारं तमेव प्राप्नुयाद् इति अर्थः. अतो अत्र अन्तरा सृष्टिरेव मायिकी सिद्धा नतु भगवद्रूपापि अस्तीति प्रपञ्चे न मायिकत्वलेशोऽपि इति दिक्.

इति श्रीवल्लभाचार्य-चरणाब्जनखेन्दुभिः।
स्वान्तःस्थेऽपहृते ध्वान्ते व्याचख्यौ पुरुषोत्तमः।।

इति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरपदानुगेन श्रीमत्प्रभुपदसरोजसर्वस्वेन पीताम्बरात्मज-पुरुषोत्तमेन रचिता नृसिंहोत्तरतापिनीदीपिका सम्पूर्णा।।

(आद्यसम्पादकीयम्)

अस्ति किञ्चिद्वक्तव्यम्.

लब्धो अयम् अवसरः कथंकथमपि प्रकाशयितुं दशदिगन्तविजयि-गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणविरचित-वृत्तिसमलङ्कृतायाः श्रीनृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषदः. एषा पुनः गोस्वामिकुलकौस्तुभ-श्री१०८श्रीगोकुलनाथमहाराज-सञ्चितात् सङ्घधनाद् लब्धावतारा. माण्डूक्यदीपिकायामिव अत्राऽपि विरलैव वृत्तिः दृश्यते. न हि वादिवेतण्ड-गण्डखण्डन-पण्डितनृकेसरी श्रीपुरुषोत्तमसदृक्षः सर्वशास्त्र-पारदृश्वोपनिषदुपर्यपि तथा विरलविरलां टिप्पणीमिव वृत्तिं विदध्यात्. ममतु एवं

प्रतिभाति यद् उपनिषद्विवरणम् एतदुद्देशएव न आसीत् किन्तु येषु येषु अक्षरेषु मायावादिभिः अर्थांशं परिवर्त्य मायावाद: प्रकाशितः तेषां तेषामेव अक्षराणां वास्तवम् अर्थं प्रकाश्य मायावाद: कथमपि एषु अक्षरेषु नास्ति इति प्रकाशनमेव अत्र एषाम् आशयः इति. उपनिषद्विवरणन्तु प्रतितन्त्रपण्डितैः विहितमेवेति च. ईशादि–दशोपनिषत्सु क्वचिदपि 'मायावाद:' पदं न लभते. ततश्च आपाततः क्वचित् परिदृश्यमानम् अर्थं शब्दं च अवलम्ब्य नृसिंहोत्तर–तापिन्युपनिषदा मायावादम् आक्रष्टुं प्रायतन्त तत्पण्डिता: सोऽपि भवतां प्रयासो निष्फलमेव इति प्रदर्शनमेव प्राधान्यतः उद्देशः एतद्वृत्तिनिर्माणे श्रीपुरुषोत्तमचरणानाम् इति मे सुदृढो विश्वासः. तत् च अत्र दृश्यते.

सा एषोपनिषत्प्रकाशिता मया श्रीपतेः परमानुग्रहेण. निगूढमेवातिवाहिता वयं दिवसानक्षरयोजकानुग्रहेण क्रियते किमपि घ्रियते किमपि. कतिवारं वा परिवर्त्यताम्. विषण्णा नितराम् एतेन. ततः च अनुसृतां रीतिं निखिलामपि विमुच्य कथं कथमपि प्रकाशं लभताम् एषा इत्येव मन: सन्तोष्य प्रकाशम् आपादिता. ततएव च स्खलितानि अवशिष्टानि स्युः इति निश्चीयते तन्मयि कृपालुभि: स्वसौजन्येन यथाशोधं समीकर्तव्यानि इति मे विज्ञप्तिः.

अत्र मुद्रापणे चत्वारि प्रतिपुस्तकानि लब्धानि. एकं श्रीमद्बालकृष्णपुस्तकालयस्थं, त्रीणि च बी.ए.त्यादिपदवी समलङ्कृतेन श्रीमता मुलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला गुप्तेन स्वायत्तात् श्रीगट्टूलालभारतमार्तण्डपुस्तकालयात् प्रदत्तानि. सो अयम् अस्मान् प्रतिपुस्तकमुद्रणं सहायम् आरचयतीति अस्मै धन्यवादाः.

संशोधक.

V

श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत्

अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमो अध्याय:

यन्नामस्मृतिमात्रेण निश्शेषक्लेशसंक्षय:।
जायते तत्क्षणादेव तं श्रीकृष्णं नमाम्यहम्।।१।।
यत्कृपादृष्टिसंसिक्ता: स्नेहपल्लविता: सदा।
रमयन्ति स्म गोपीशं तं श्रीवल्लभमाश्रये।।२।।
श्रीविट्ठलपदाम्भोज–कृपामधुसुपूरित:।
व्याख्यास्ये भगवद्गीतां भक्तिमार्गानुसारत:।।३।।

तत्र गीताशास्त्रं किम्परम् इति पूर्वं विचार्यते. तत्र शङ्कराचार्या: *भगवान् सृष्ट्वा इदं जगत् तस्य स्थित्यर्थं प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं तन्निःश्रेयसार्थं निवृत्तिलक्षणं धर्मं च[१] ग्राहयित्वा साम्प्रतं कलिधर्मेण धर्मे अभिभूयमाने तद्रक्षार्थं सः आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णु: देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन किल सम्बभूव. सच भगवान् ज्ञानैश्वर्य–शक्ति–बल–वीर्य–तेजोभि: सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां मायां प्रकृतिं वशीकृत्य अजो अव्ययो भूतानाम् ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् मायया देहवानिव जीववज्जातइव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते. सएव च स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयम् अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश. तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य सङ्क्षेपत: प्रयोजनं परं नि:श्रेयसं तत् च सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्. तत् च काम्यनिषिद्धत्यागपूर्वकात् परमेश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणाद् धर्माद् बहुजन्माभ्यस्तात् क्रमेण भवति. सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्मात् शीघ्रं भवति. इमं द्विप्रकारं धर्मसाधनं नि:श्रेयसप्रयोजनम्. परमार्थतत्त्वं वासुदेवाख्यं च परंब्रह्माभिधेयं साध्यभूतं विशेषतो अभिव्यञ्जयद् विशिष्ट–प्रयोजनसम्बन्धाभिधेयवत् गीताशास्त्रम्* इति ऊचुः. तेन तन्मते आत्मज्ञान–निष्ठारूपाद् विद्यात्मकाद्धर्माद् उक्तरूपो मोक्षो भवति इति सिध्यति. तत्र विद्या सात्त्विकी अविद्या राजस–तामसी, सत्त्वरजस्तमसां च परस्पराभिभावकत्वं

“**रजस्तमश्चाभिभूय**”(भग.गीता १४।१०) इति वक्ष्यमाणवाक्यात्. अतो रजस्तम:क्रियमाणाभिभवनिवृत्त्यर्थं गुणत्रयनिवारकं साधनान्तरम् अन्वेष्टव्यं भगवत्प्रपत्तिरूपम्[२]. तद् अत्र न उक्तम् अतो न्यूनम् एतद् अवगन्तव्यम्. न च अनुगीतायां[३] भगवता ज्ञानस्य सन्न्यासस्य च उपदेशात् तत्रैव गीतायाअपि तात्पर्यम् इति शङ्क्यं, पूर्वोक्तविस्मरणाद् अर्जुनं प्रति क्रुद्धेन भगवता तावन्मात्रोपदेशात्. “**न शक्यं तन्मया[४] भूयः तथा वक्तुम् अशेषत:, परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया**”(महाभा.आ.प.) इति अनुगीतारम्भस्थवाक्येन तथा अवसायात्. अत्रापि अन्ते शरणगमनस्यैव उपदेशाद् न ज्ञाने वा सन्न्यासे तात्पर्यम् इति दिक्.

मधुसूदनसरस्वतीतु नि:श्रेयसे विशेषम् आह “**सच्चिदानन्दरूपं तत् पूर्णं विष्णो: परं पदम्, यत्प्राप्तये समारब्धा वेदा: काण्डत्रयात्मका:**” इति. किञ्च, “**कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानम् इति काण्डत्रयं क्रमात्, तद्रूपाष्टादशाध्यायी गीता काण्डत्रयात्मिका, एकम् एकेन षट्केन काण्डमात्रोपलक्षयेत्**” इति उक्त्वा प्रथमे षट्के कर्मनिष्ठा, द्वितीये भक्तिनिष्ठा, तृतीये ज्ञाननिष्ठा च उक्ता. ज्ञान-कर्मणोः अत्यन्तं विरुद्धत्वेन तत्समुच्चयस्य अनङ्गीकारात् प्रथम-तृतीययो: काण्डयोः[५] विश्लेष:, उपासनारूपभगवद्भक्तिनिष्ठातु मध्यानुगतत्वाद् मध्यमेन उक्ता. किञ्च उपासनात्मिका भगवद्भक्तिः त्रिविधा कर्ममिश्रा, शुद्धा, ज्ञानमिश्रा च इति. तत्र आद्या प्रथमे षट्के कर्मत्यागमुखेन विशुद्ध‘त्वं’पदार्थो निरूप्यते, द्वितीये षट्के भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनमुखेन भगवान् परमानन्दः ‘तत्’पदार्थो निरूप्यते, तृतीयेतु तयोः ऐक्यं वाक्यार्थ: स्फुटं वर्ण्यते इति विशेषम् आह. तदपि च न रोचिष्णु, तादृशवाक्यस्य तत्र अदर्शनात्. “**सर्वधर्मान्**”(भग.गीता १८।६६) इति वाक्ये यत् ‘शरण’पदं तत्तु “**शरणं गृहरक्षित्रो:**”(अम.को.३।३।५२) इतिकोशात् तयोः अन्यतरवाचकं सत् तादृशे अर्थे लाक्षणिकताम् आपद्यते इति असङ्गतत्वात्.

श्रीधरस्तु सकललोकवन्दितचरण: परमकारुणिको भगवान् श्रीदेवकीनन्दन: तत्त्वज्ञानविजृम्भित-शोकमोहोविभ्रंशित-विवेकतया निजधर्म-परित्याग-परधर्माभिसन्धिपरम् अर्जुनं धर्मज्ञानरहस्योपदेशप्लवेन तस्मात् शोकमोह-सागराद् उद्दधार इति एतावद् उक्त्वा गीतायां च प्रायशो भगवदुक्ताएव श्लोका:, व्यासचरणैस्तु तत्सङ्गत्यर्थं मध्ये-मध्ये केचन श्लोकाः

उक्ताः इति बोधनाय गीतामाहात्म्यस्थं वाक्यम् उक्तवान्. ''**गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः, या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता**'' इति.

रामानुजाचार्यास्तु *निरतिशयानवधिककल्याणगुणैकतानानन्तज्ञानानन्दैकादिस्वरूपादि-निखिलजगदुदयविभवलयलीलान्त-निखिलविशेषणविशिष्टः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो नारायणो ब्रह्मादिस्थावरान्तं निखिलं जगत् सृष्ट्वा स्वेन रूपेण अवस्थितो भूभारावतारणोपदेशेन अस्मदादीनापि संसारदुःखप्रशमनाय सकलमनुष्यनयनविषयावगतः परापरनिखिलजनसन्तापहराणि चेष्टितानि कुर्वन् परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनभूतं वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगतं भक्तियोगम् अवतारयामास* इति वदन् ततः ज्ञानकर्मसमुच्चयाङ्गसहितो भक्तियोगो गीताशास्त्रार्थः इति. तदाविर्भावे प्रयोजनन्तु भक्तानाम् अस्मदादीनां संसारदुःखशमनम् इति च सूचयामासुः. इदं च सिद्धान्तस्य अनुगुणम्.

इह खलु भगवान् पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः सर्वमुक्त्यर्थम् अवतीर्णः स्वरूपेण भक्तिं दत्त्वा सात्त्विकादीन् त्रिविधान् भक्तान् उद्धरन् सर्वधर्मशून्यस्य कलेः प्रवृत्तिं वीक्ष्य अग्रिमाणाम् उद्धारार्थं भक्तिजननाय स्वस्वरूपम् अर्जुनाय प्रसङ्गाद् उपदिदेश ''**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन, आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च**'' (भग.गीता७।१६) इति वक्ष्यमाणवाक्ये वक्तव्येषु चतुर्धाधिकारिषु प्रथमाधिकारद्वयस्य अर्जुने विद्यमानत्वात्. सः उपदेशो भगवज्ज्ञानावतारैः व्यासचरणैः सप्तश्लोकशतेषु[६] उपनिबद्धः. तदर्थसङ्ग्रहस्तु एवं प्रभुचरणैः उक्तः

''**प्रवृत्तिधर्मं भगवान् ऋषिद्वारा निरूप्य तु।**
निवृत्तिमिष्टां सुदृढां निःसन्दिग्धां हरिर्जगौ।।
साङ्ख्यं योगो रहस्यं च रहस्यतममेव च।
अन्योन्याधिक्यनिर्द्धारो ज्ञानविज्ञानयोरपि।।
स्वस्वरूपविनिर्द्धारो भजनेतरनिर्णयः।
तद्धेतुर्गुणवैषम्यं सर्वशास्त्रविनिर्णयः।।
इति गीतार्थनिर्द्धारो यथाभागो वितन्यते।
साङ्ख्य-योगौ निरूप्यादौ मोहम् उत्सार्य फाल्गुनम्।।
भक्तिपीयूषपातारं कृतवान् इति सङ्ग्रहः'' इति

तत्र प्रथमे अध्याये धृतराष्ट्रवाक्येन कुतः उपक्रमः? इति आकाङ्क्षायां गीतातात्पर्यग्रन्थे प्रभुचरणैः विचारितम् : अत्र हि भगवान् स्वतत्त्वं पार्थाय उपदिशति. तत्र उपक्रमे धृतराष्ट्रस्य वचनं न उपयुज्यते, अभक्तत्वात्. नापि तत्पुत्रस्य दुर्योधनस्य, अत्यन्तबहिर्मुखत्वाद् राक्षसावतारत्वाच्च. किञ्च अत्र ब्रह्मविद्या उपदिश्यते, तत्रच शान्तो अधिकारी, सनत्कुमारनारदसंवादे **''सोऽहं भगवत: शोचामि''** इति नारदस्य शोकश्रवणाद् इति वाच्यम्, तत्र[७] शोकस्य आत्मज्ञानार्थत्वात्. अत्र पापभीत्यादिकथनेन तद्वैलक्षण्यात्, पार्थे आत्म-ज्ञानार्थित्वस्य अदर्शनाच्च. किञ्च, अत्र उपदेष्टा भगवान् सत्यसङ्कल्पः, सः चेद् अर्जुनोद्धाराय आत्मविद्याम् उपदिशेत् तदा अर्जुनोऽपि राज्यात् संसाराच्च उपरतो भवेत्. तत्तु न दृश्यते, अत: फलव्यभिचारादपि न उपदेशो युक्तः इति चेद्, अत्र वदाम: पार्थाः हि भगवता स्वीयत्वेन भक्तिमार्गे अङ्गीकृताः. **''पार्थास्तु देवो भगवान्मुकुन्दो गृहीतवान् स क्षितिदेवदेव:''**(भाग.पुरा.३।१।१२) इति तृतीयस्कन्धे विदुरवाक्यात्.

भगवांश्च भूभारहरणं चिकीर्षुः युधिष्ठिरेण राजसूयं कारितवान्, राजसूयोत्तरं महायुद्धस्य[८] दर्शनात्. तस्य च भगवदिच्छाविषयत्वं दशमस्कन्धे श्रीमदुद्धवैः उक्तम् **''प्राय: पाकविपाकेन तव चाभिमत: क्रतु:''** (भाग.पुरा. ७।१।१०) इति. किञ्च युधिष्ठिरादिद्वारा भगवता धर्मः उपस्थापनीय:, असुराश्च हन्तव्याः[९], **''यदा-यदा हि धर्मस्य''**(भग.गीता ४।७) इति वक्ष्यमाणवाक्येन तदर्थम् अवतारस्य स्वयमेव कथनात्. तच्च युधिष्ठिरस्य राज्ये सति भवति, राज्यान्ते नरकम् इति उत्सर्गः[१०]. एवं सति **''भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्''**(भाग. पुरा.१०।५४।४०) इतिन्यायेन लोकवद् रिपून् मारयित्वा स्वयं चेद् राज्यं कुर्युः तदा राज्ये भगवत्सम्बन्धाभावात् तद्भोगे भगवदीयत्वं न भवेत्, दुष्टं च फलं भवेत्; अतः तन्निवृत्त्यर्थं भगवान् पार्थस्य वक्ष्यमाणप्रकारकं विषादम् उत्पादितवान्. अतएव पार्थस्य स्वतो युद्धाद् निवृत्तिः उक्ता. तेन तेषु लौकिकारित्या अनुभावः उक्तो भवति. अन्यथा **''क्षत्रियाणाम् अयं धर्म:''** (भाग.पुरा.१०।५४।४०) इतिवचनात् शूराणां तेषां युद्धोपस्थितौ वस्तुस्वभावाद् वीररसएव उत्पद्येत धार्त्तराष्ट्रादिवद्, नतु वैराग्यम्. अत: पार्थे तदुत्पत्तौ

भगवदीयत्वमेव हेतुः इति निश्चयः, अतः तादृशे भक्तिमार्गस्यैव उपदेष्टव्यत्वाद् भक्तिमार्गः. निर्णयस्य च लोकवेदसाधारणरीत्या कर्तुम् अयुक्तत्वं बोधयितुम् आदौ धृतराष्ट्र–तत्पुत्रयोः कथा उक्ताः, तथा तदुत्साहः उक्तो भवति. किञ्च भगवदीयस्य भगवच्चिकीर्षित–कार्योन्मुखी मतिः सुमतिः तद्विरुद्धा मतिः कुमतिरेव. अन्यथा धर्मशास्त्रादिषु गुर्वादिहननस्य निषिद्धत्वात् तन्निवर्त्तिका मतिः कुमतित्वेन न उच्येत. नच अत्र मानाभावः. ''**व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद् विमुखस्य दोष बुद्ध्या, कुमतिमहरदात्मविद्यया यः**'' (भाग.पुरा. १।९।३६) इति प्रथमस्कन्धे भीष्मवाक्यात्. एतेन यद् ब्रह्मविद्योपदेशे विषण्णाधिकारबोधनार्थम् अर्जुनविषादग्रन्थः इति कैश्चिद् इष्यते तदपि फल्गूकृतं, तस्य मुख्यप्रयोजनाभावात्. अत्र भक्तिमार्गमर्यादायाः लोकवेदातीतत्व–ज्ञापनस्यैव प्रयोजनत्वाद् इति. अतएव समाप्तौ फाल्गुनेन ''**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात् मयाऽच्युत, स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव**''(भग.गीता १८।७३) इति उक्तम्. अतो अत्र मुख्यतया भक्तेरेव उपदेशः. यत् पुनः अन्यत् तत् सर्वं तस्यैव शेषभूतम् इति दिक्.

अतःपरं वाक्यानि व्याख्यायन्ते. तत्र पुष्टिमर्यादाभक्तिः अनुग्रहाद् विविधश्रेयोद्वारेण भवति इति बोधनाय पाण्डवानां धर्मिष्टत्वम् अर्जुनस्य तेभ्योऽपि उत्कर्षं वदद्भिः व्यासचरणैः अर्जुने भजनोपदेशाधिकारद्वयं वक्तुं प्रथमे अध्याये अर्जुनस्य आर्त्तत्वं प्रतिपाद्यते. भक्तिमार्गीयस्याऽपि लौकिकाभिनिविष्टचित्ततायां प्रवृत्तिधर्माभिनिविष्टचित्ततायां च भगवत्तत्वं भक्तिमार्गतत्वं च सहसा न उपदेष्टव्यम् इति च बोध्यते इति उपोद्घातसङ्गतिः.

धृतराष्ट्रः उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

वैशम्पायनस्तु जनमेजयाय कथासङ्गतिं वक्तुं प्रथमतो धृतराष्ट्र–संजयसंवादम्[1] आह. तत्र धृतराष्ट्रो बहुधा पाण्डवान् धर्मपरानेव अवगत्य बन्धलक्षणधर्मं कथं कृतवन्तः? इति अभिप्रेत्य पृच्छति. अत्र हि एवं कथाप्रकारः,

सञ्जयः आगत्य पूर्वं सेनापतिमरणं वक्ति, ततो धृतराष्ट्रेण तत्परिदेवने कृते पश्चात् तन्निवृत्तौ सर्वा कथां विस्तारेण वदति इति. तत्र पाण्डवानां स्वल्पं सैन्यं, स्वस्यतु महत्. स्वस्य शूराश्च भूयांसः, तेषां सर्वेषामेव पश्यतां तैः उपेक्षितो भीष्मो रणे पतितः उत पाण्डवैः प्रसह्य मारितः? पाण्डवाश्च तादृशे क्षेत्रे पितामहावज्ञालक्षणम् अधर्मं कथं कृतवन्तः? इति ज्ञातुं **हे सञ्जय धर्मक्षेत्रे** धर्मोत्पत्तिभूमौ **कुरुक्षेत्रे मामकाः** मत्पुत्राः **पाण्डवाः** पाण्डुपुत्राश्च **युयुत्सवो** योद्धुकामाः **समवेताः** मिलिताः **किम् अकुर्वत** किं कृतवन्तः? स्वपुत्राणाम् अधर्मपरायणत्वाद् धर्मक्षेत्रेऽपि अधर्ममेव कृतवन्तः किं वा धर्मम् इति स्वीयानां प्रश्नः, पाण्डवाश्च धर्मपरायणाः तत्र धर्मक्षेत्रे द्रोणादीन् गुरून् कथं मारितवन्तः? इति तेषां प्रश्नः. इदमेव चकारेण द्योतितम् यत् तेषां धर्मपरायणत्वम्. तथाच एकमरणेनैव अन्यस्य राज्यप्राप्तिः इति निश्चित्यापि किं कृतवन्तः इति अर्थः. सञ्जयस्य वरप्राप्तसर्वज्ञत्वम् आलक्ष्य सम्बोधनम्।।१।।

सञ्जयस्तु न अयम् अधर्मो भगवता कर्त्तव्यत्वेन बोधनाद् इति वक्तुं तदर्थं सङ्गतिम् आह **दृष्ट्वा** इत्याद्यष्टादशश्लोकैः.

सञ्जयः उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।

आचार्यम् उपसङ्गम्य राजा वचनम् अब्रवीत्।।२।।

तत्र एवं धृतराष्ट्रवाक्यं श्रुत्वा सञ्जयः पूर्वपृष्टत्वात् तत्पुत्रकथामेव आह पूर्वं **दृष्ट्वातु** इति. **राजा** दुर्योधनः **व्यूढं** व्यूहरचनया स्थितं पाण्डवसैन्यं दृष्ट्वा. द्रोणाचार्यम् **उपसङ्गम्य** निकटे गत्वा अग्रे वक्ष्यमाणं **वचनम् अब्रवीद्** उवाच. तदा धर्मयुद्धोपस्थितौ इति अर्थः. एतेन अपराधित्वेऽपि धार्तराष्ट्रएव युद्धे प्रथमं प्रवृत्तः इति दशभिः तत्कथाकथनेन बोधितम्।।२।।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम् आचार्य महतीं चमूम्।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

तद्वाक्यमेव आह **पश्य** इत्यादिनवभिः. तत्र भीष्मस्य अभिषिक्तत्वात् स्वतएव उत्साहः, द्रोणस्य औदासीन्यम् आलक्ष्य प्रोत्साहयति परोत्कर्षवर्णनैः

एतां निकटस्थाम्. युधिष्ठिरस्य राजत्वाभावाद् अविशेषेण **पाण्डुपुत्राणाम्** इति उक्तम्. **हे आचार्य** यद्यपि त्वम् उभयोः समः तथापि तेषां सेनायाः प्रबलत्वाद् अस्मत्पक्षपातं कुरु इत्यतः सम्बोधनम्. पाण्डुपुत्राणां **महतीं** स्वभयजनिकां **चमूं धीमता** व्यूहरचनाकृतिना **द्रुपदपुत्रेण** धृष्टद्युम्नेन **व्यूढां** व्यूहरचनया सम्मार्जितां पश्य. **तव शिष्येण** इति विशेषणेन स्वस्य भयजनकत्वसामर्थ्यं द्योतितम्. तस्य च भयाभावः।।३।।

एवं सेनां दर्शयित्वा तस्याः प्रबलत्वसूचनाय तत्स्थितान् शूरान् वर्णयति **अत्र** इति.

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

अत्र अस्यां सेनायां इषवो अस्यन्ते एभिः इति इष्वासाः चापाः. महान्तः इष्वासाः येषां ते महेष्वासाः. **'शूरा' 'महेष्वासाः'** इतिपदद्वयेन स्वतः शिक्षातश्च सामर्थ्यं दर्शितम्. **युधि** सङ्ग्रामे भीमार्जुनसमाः शूराः सन्ति. भीमार्जुनौ अतिरथौ[१२] अतिबलौ इति तत्समत्वेन वर्णिताः. 'युधि' इतिपदेन अन्यत्र न तत्समाः दानादिषु इति अर्थः. तानेव गणयति **युयुधानः** इत्यादिभिः. **युयुधानः** सात्यकिः. **विराट**-द्रुपदौ राजानौ, धृष्टकेतुप्रभृतयो राजानो असम्बद्धाः अस्मच्छत्रवश्च. **वीर्यवान्** इति प्रत्येकं सर्वेषां विशेषणम्।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्तः उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो दौपदेयाश्च सर्वएव महारथाः।।६।।

विक्रान्तः अतिपराक्रमी. **वीर्यवान्** इति सौभद्रविशेषणम्. **द्रौपदेयाः** पञ्च प्रतिविन्ध्यादयः. **सर्वएव महारथाः**. महारथलक्षणं च

''एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः।।

अमितान् योधयेद् यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः।
रथी चैकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्द्धरथः स्मृतः।।'' इत्यादि।।६।।

एवं तत्सैनिकान् उक्त्वा स्वीयान् आह प्रोत्साहनार्थम् **अस्माकम्** इत्यादिभिः.

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते।।७।।

अस्माकं ये विशिष्टाः महान्तः **तान् निबोध** बुध्यस्व. **द्विजोत्तम** इति विस्मृतिसम्भावनया सम्बोधनम्. **मम सैन्यस्य नायकाः** नेतारः, **तान् सञ्ज्ञानार्थं** मया विशेषेण स्वरूपतो ज्ञायन्ते न वा इति **ते ब्रवीमि**।।७।।

एवं विज्ञाप्य तन्नामानि आह **भवान्** इति द्वाभ्याम्.

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

भवान् द्रोणः सर्वेषाम् आचार्यो अस्माकं मुख्यः. त्वया कार्यार्थम् अन्ये प्रेर्याः. **''उभयोर्द्रोणसामर्थ्यम्''** इतिवाक्यात् परमबली इति पूर्वं गणितः. **भीष्मश्च** तथैव मुख्यः. **च**कारेण क्षत्रियत्वात् शापसामर्थ्याभावम् आशङ्क्य पितामहत्वात् शापसामर्थ्यं ज्ञाप्यते. कर्णस्यापि अग्रे अर्द्धरथिषु गणनात् सः दुःखितो भविष्यतीति सोऽपि मुख्यत्वेन गणितः. इदमेव **च**कारेण व्यज्यते[१३]. कृपाचार्योऽपि तथा. एते सर्वेऽपि **समितिञ्जयाः** सङ्ग्रामजेतारः, भिन्नतया सर्वेषां विशेषणम्. **अश्वत्थामा** त्वत्पुत्रः, **विकर्णश्च, सौमदत्तिः** भूरिश्रवाः. **तथा** इति यथा भवदादयः तुल्याअपि अस्मत्पक्षपातिनः तथैव सौमदत्तिः इति अर्थः. यदा तथैव इति उतरत्र योज्यम्।।८।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

अन्ये च एतादृशाः **बहवः शूराः मदर्थे** मत्कार्यार्थं त्यक्तं जीवितं यैः

तादृशाः जीविताशां परित्यज्य मत्कार्यं कर्तुं कृतनिश्चयाः इति अर्थः. यद्वा "**आदिकर्मणि क्तः**"(पाणि.सूत्र ३।४।७१). त्यक्ष्यमाणजीविताः इति अर्थः. नानाशस्त्राणि प्रहरणसाधनानि येषां ते युद्धे **विशारदाः** अतिनिपुणाः।।९।।

एवं सर्वान् अनूद्य एतद्रक्षितमपि अस्मद्बलं तद्बलयुद्धासमर्थं मम भाति इति आह **अपर्याप्तम्** इति.

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

भीष्माभिरक्षितमपि **अस्माकं बलम् अपर्याप्तम्**. तैः सह योद्धुम् असमर्थं भाति. द्रोणः कदाचित् कुप्येदिति भीष्माभिरक्षितमेव उक्तम्. पाण्डवानां च बलम् अस्माभिः योद्धुं समर्थं भाति इति आह **पर्याप्तम्** इति. **इदं** तेषां पाण्डवानां **बलं** भीमेन अभितः सर्वतो रक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं प्रतिभाति. '**तु**'शब्देन अपर्याप्तसपक्षो निराकृतः. यद्वा तत्प्रसिद्धम् अस्माकं बलं अपर्याप्तम् अत्यधिकम्. किञ्च भीष्मेण अभितो रक्षितम्. तेषान्तु बलं शूरभूयिष्ठमपि पर्याप्तम्, अक्षौहिणीसप्तकमितत्वात्. किञ्च भीमेन अभिरक्षितम्।।१०।।

एवं सति किं कर्त्तव्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **अयनेषु च** इति.

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागम् अवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्वएव हि।।११।।

व्यूहप्रवेशमार्गेषु सर्वेषु[१४] यथाभागं विभक्ताः स्व-स्वस्थाने स्थिताः **भवन्तः सर्वएव भीष्ममेव** अभितः सर्वतः रक्षन्तु. यतो अस्माकं बलं भीष्मरक्षितमेव. **च**कारेण [१५]व्यूहप्रवेशमार्गान्यतरस्थानेपि स्थेयम् इति ज्ञापितम्. **एव**कारेण अस्मदादिरक्षा कार्या इति ज्ञापितम्. '**हि**'इति युक्तत्वम्।।११।।

सेनापतिरेव रक्षणीयः इति एवं स्वबहुमानप्रतिपादकं राजवाक्यं श्रुत्वा राज्ञो हर्षम् उपजनयन् भीष्मः स्वबलख्यापकं शङ्खनादं कृतवान् इति आह **तस्य** इति.

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

तस्य राज्ञः **हर्षं** सम्यक् प्रकारेण योत्स्यामि[१६] इत्यादिरूपेण **जनयन्**. भीष्मस्य भक्तत्वात् स्वपराजयज्ञानेन स्वतो हर्षेण न शङ्खादिवादनं किन्तु दुर्योधनस्य वाक्यं श्रुत्वा भगवदिच्छां ज्ञात्वा तस्य राज्ञः हर्षजननार्थं तथा कृतवान् इति बोधयितुम् एवम् उक्तम्. **कुरुवृद्धः** कुरूणां कुरुषु वा वृद्धः. देशकालोचितज्ञानः **पितामहः** इति हर्षजनने हेतुः उक्तः. भीष्मः **उच्चैः** ऊर्ध्वमुखं यथा स्यात् तथा महान्तं वा सिंहनादं विनद्य स्वप्रौढिज्ञापकं गर्जनं कृत्वा प्रतिभटः[१७] कोऽपि नास्ति इति ज्ञापयन् शङ्खं **दध्मौ** वादितवान्. ननु राज्ञा बहुमाने कृतेऽपि राज्ञो अग्रे तथा विनदनं[१८] शङ्खादिवादनं च न कर्त्तव्यं तत्कथं कृतवान्? इति आशङ्क्य आह **प्रतापवान्** इति. नादेनैव शत्रुजयः सूच्यते।।१२।।

एवं सेनापतेः युद्धोत्सवप्रवर्त्तकं शङ्खध्वनिम् आकर्ण्य सर्ववीरसाव-धानकरणार्थं[१९] वादकाः दुन्दुभ्यादिवादनं कृतवन्तः इति आह **ततः** इति.

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

सहसा तच्छ्रवणक्षणएव[२०] **शङ्खाः भेर्यश्च पणवाः आनकाः गोमुखाः अभ्यहन्यन्त** वादिताः इति अर्थः. **एव**कारेण तच्छ्रवणादेव वादितवन्तः, नतु युद्धोपस्थित्या स्वशौर्याविर्भावेन इति व्यज्यते. **सः** शङ्खादि**शब्दः तुमुलो** महान् आसीत्।।१३।।

एवं युद्धोत्सवज्ञापक–शङ्खध्वनिश्रवणानन्तरं पाण्डवसैन्येऽपि युद्धोत्सवो अभूद् इति आह **ततः** इति पञ्चभिः.

ततः श्वेतैर् हयैर् युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

ततः कौरवप्रवृत्त्यनन्तरं **श्वेतैः हयैः** शुभसूचकैः अश्वैः **युक्ते**. परमेश्वरस्य सारथित्वप्रतिपादनाय भगवतो अश्वानां च वर्णनम्. न अयं भगवद्रथः

इति ज्ञापनाय च भगवतो अश्वानां चित्रवर्णत्वाद् अत्र **श्वेतै**ः इति हयविशेषणम्. युद्धप्रवृत्तिज्ञापनार्थं **हयैः युक्ते** इति. **महति** अग्निदत्ते भगवत्स्थितियोग्ये[२१] गरुडसमे **स्यन्दने** नन्दिघोषाख्ये **रथे स्थितौ** श्रीकृष्णार्जुनो **दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः** वादितवन्तौ. 'माधव'पदेन तेषां शीघ्रमेव लक्ष्मीप्राप्तिः भविष्यति इति व्यञ्जितम्. पाण्डवत्वोक्त्या तेषां न्यायत्वम् उक्तम्. भगवत: शङ्खध्वनि: सर्वेषां यथा दर्पघ्नः तथैव अर्जुनस्यापि इति चकारेण एवकारेणापि व्यज्यते।।१४।।

श्रीकृष्णादिशङ्खानां महत्त्वज्ञापनार्थं नामानि आह **पाञ्चजन्यम्** इत्यादिद्वयेन.

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो वादितवान्. पाञ्चजन्यादीनि तत्तद् शङ्खानां नामानि शङ्खमाहात्म्यज्ञापनार्थम् उक्तानि. पञ्चजनदैत्यप्रभवत्वात् पाञ्चजन्य:[२२]. **देवदत्तम्** अग्निदत्तम्. पौण्ड्रादयोऽपि तत्तद्गुणविशिष्टाः तत्तदुपाख्यानैः अवगन्तव्या:. सर्वेषाम् इन्द्रियप्रवर्त्तकस्य युद्धप्रवृत्तौ सर्वेन्द्रियाणि स्वतएव प्रवर्त्तेरन् इति **हृषीकेश**ः इति उक्तम्. धनञ्जय: देवदत्तं वादितवान्. धनं जयो अस्य[२३], जये यस्य इति वा. **पौण्ड्रं महाशङ्खं** स्वरूपतो गुरुतरं **भीमकर्मा** भयानक-कर्मकर्ता **वृकोदरो** भीमसेनो **दध्मौ** वादितवान्. ''**भक्तिः ज्ञानं सवैराग्यं प्रज्ञा मेधा धृतिः स्थितिः, योगः प्राणो बलं चैव वृकोदर इति स्मृतः, एतादृशात्मको वायुः तस्माद् भीमस्तदात्मकः**''(   ) इति।।१५।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

अनन्तानां विजयो येन तादृशं[२४] वादितवान्. **राजा** इति प्रवृत्तौ आवश्यकता. कीदृशो राजा? **कुन्तीपुत्रः**. कुन्तीपुत्रः इति तत्प्रेरितत्वं भगवत्कृ-पाधिकारित्वं च ज्ञापितम्. युधिष्ठिरः इति सार्थकनाम्ना सामर्थ्यम्. **नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ** वादयामासतु:।।१६।।

एवं मुख्यानां नामानि तच्छङ्खानां च उक्त्वा तत्सैनिकानां महतां सर्वेषां नामानि आह **काश्यश्च** इति द्वयेन.

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक्-पृथक्।।१८।।

काश्यः काशिराजः **परमेष्वासः** परमः श्रेष्ठः इष्वासो धनुः यस्य. **शिखण्डी च महारथः** शस्त्रशास्त्रप्रवीणः. चकारेण परमेष्वासोऽपि धृष्टद्युम्नादयो गणिताः सर्वे तथा **सौभद्रो** अभिमन्युः **महाबाहुः** परमयुद्धसमर्थः. **पृथक्-पृथक्** भिन्नस्थाने स्थिताः **शङ्खान् दध्मुः**. **पृथिवीपते** इति सम्बोधनं धृतराष्ट्रस्य सर्वेषां स्वरूपज्ञानार्थम्।।१७-१८।।

सः शङ्खध्वनिस्तावकानां भयम् उत्पादयामास इति आह **सः** इति.

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

सः पूर्वोक्तः पाञ्चजन्यादिजन्मा **घोषः** शब्दः **धार्तराष्ट्राणां हृदयानि** विशेषेण दारितवान्. **नभः** आकाशं **पृथिवीं** विशेषेण **अनुनादयन्** प्रतिध्वनयन् तथा कृतवान्. **च**कारद्वयेन नभः पृथिवीं व्यदारयद् इति ज्ञापितम्. नभोविदारणं[२५] लोकोक्तिः. पृथिवीविदारणन्तु स्पष्टं, विद्युन्महागुलीयन्त्रशब्देन कूपादिविदारणस्य[२६] दर्शनात्. कीदृशः सः? **तुमुलो** महान्. नभश्च पृथिवीं च अनुनादयन् तुमुलो भूत्वा सः घोषः **धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयद्** इति वा. उत्साहभङ्गेन हृदये भयं जनयामास इति अर्थः. एवं पाण्डवानां धर्मिष्ठत्व-भक्तत्वयोः बोधनार्थम् अष्टादशभिः सङ्गतिः उक्ता।।१९।।

एवं कृष्णार्जुनसमागमनार्थं सेनाद्वयेऽपि युद्धोत्सवम् उक्त्वा प्रेरितकृष्णार्जुनयन्त्रणेन युद्धमध्ये प्रवृत्तस्य बन्धुनाशदर्शनेन वैराग्यं वक्तुम् अर्जुनस्य सहेतुकं कृष्णप्रेरणम् आह **अथ** इति चतुर्भिः.

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यम् इदम् आह महीपते।

अर्जुनः उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

तत्र प्रेरणे प्रथमं हेतुदर्शनम् आह **अथ** भिन्नक्रमेण भयाभावेन **धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान्** विशेषेण अवगता स्थितिः येषां तादृशान् **दृष्ट्वा कपिध्वजो** अर्जुनः कपिध्वजः इति शस्त्रलाघवं सूचितम्. **शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते** सति **धनुरुद्यम्य पाण्डवः** पाण्डोः पुत्र स्वराज्याप्तिकाम्यया **हृषीकेशं** तथैव इन्द्रियप्रेरकं **तदा** तत्समये **इदं** वाक्यं वक्ष्यमाणम् **आह. महीपते** इति सम्बोधनं राज्ञां तथैव धर्मः इति ज्ञापनार्थम्. तद्वाक्यान्येव आह **सेनयोः** इत्यादिना. **हे अच्युत उभयोः सेनयोः मध्ये मे रथं स्थापय**।।२०–२१।।

यावद् एतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामान् अवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यम् अस्मिन् रणसमुद्यमे।२२।।

यावद् एतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् अवाङ्मुखस्थित्या स्थितान् पलायनपरांश्च **अहं निरीक्षे**. ननु निरीक्षणेन किं स्याद्? इति अतः आह **कैः मया** इति. **अस्मिन् रणसमुद्यमे** यत्र रणप्रवृत्तिं विनैव शङ्खध्वनिनैव विदारितहृदयाः शुष्कवदनाः प्रतिभटाः तत्र कैः सह मया योद्धव्यम्? इति आह।।२२।।

योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

अवेक्षे इति. किञ्च **दुर्बुद्धेः** स्वतः[२७] **धार्तराष्ट्रस्य** इति भगवत्प्रतिपक्षत्वेन स्वपराजयम् अननुसन्दधानस्य अन्धस्य पुत्रः तस्य प्रियं चिकीर्षवः तेऽपि अन्धाएव, तथाभूताः **ये अत्र समागताः** सम्यक्प्रकारेण युद्धार्थम् आगताः तान् **योत्स्यमानान्** युद्ध्यमानान् **अहं अवेक्षे** तावन् मे रथं सेनयोः मध्ये स्थापय इति पूर्वेणैव सम्बन्धः. तत्र मध्ये रथस्थापने मम भयन्तु न अस्त्येव यतः

त्वम् अच्युतो असि. एवं चतुर्भिः युद्धोद्यमोऽपि उक्त:।।२३।।

एवम् अर्जुनवाक्यं श्रुत्वा उभयो: सेनयोः मध्ये रथम् आस्थाप्य अर्जुनं प्रति उवाच भगवान् इति आह सञ्जयो द्वाभ्यां **एवम् उक्त**ः इति[२८].

सञ्जयः उवाच

एवम् उक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।

एवं गुडाकेशेन जितनिद्रेण अर्जुनेन **उक्तो हृषीकेश: उभयो: सेनयो**ः **मध्ये रथोत्तमं स्थापयित्वा** अर्जुनं प्रति उवाच. हृषीकेशत्वात् तत्प्रेरक: स्वयमेव इति न विमनस्कत्वम्[२९]।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखत: सर्वेषां च महीक्षिताम्।

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरून् इति।।२५।।

भीष्मद्रोणौ च परमयुद्धविशारदौ इति तत्प्रमुखत: रथं स्थापयित्वा **सर्वेषां महीक्षितां** राज्ञां च **हे पार्थ समवेतान्** मिलितान् **कुरून्** एतान् **पश्य** इति **उवाच**।।२५।।

एवं भगवदुक्तो अर्जुनः तान् दृष्टवान् इति आह सार्धेन **तत्र** इति.

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थ: पितॄन् अथ पितामहान्।

आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन्

पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।।२६।।

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोर् उभयोरपि।

तत्र सङ्ग्रामाजिरे उभयो: सेनयोरपि मध्ये **स्थितान्** एतान् **अपश्यत्**. **पितॄन्** पितृव्यादीन् इति अर्थ:. **सखीन्** बाल्ये क्रीडायां सम्मतान्, सुहृदो मित्राणि।।२६।।

तत्पार्श्वेऽपि स्थित्वा स्वश्रेयो विचारकान् तान् दृष्ट्वा किं कृतवान् इति

अतः आह **तान्** इति.

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः

सर्वान् बन्धून् अवस्थितान्।।२७।।

कृपया परयाविष्टो विषीदन् इदम् अब्रवीत्।

तान् समीक्ष्य कौन्तेयः विषीदन् इदम् अग्रे वक्ष्यमाणम् **अब्रवीत्.** ननु क्षत्रियाणां युद्धोत्सवं दृष्ट्वा उत्साहएव उचितः. अर्जुनस्य कथं विषादो जायते? इति अतः आह **कृपया परयाऽऽविष्टः** इति. **परया** भक्तिरूपया कृपया आविष्टः **''सर्वभूतेषु यः पश्येत्''**(भाग.पुरा.११।२।४५) इत्यादिरूपया.

ननु तथा सति राज्यापगमे लोकरक्षा न भविष्यतीति, तत्रापि सा मे कथम् आविरभूत? इति अतः आह **बन्धून्** इति. तेऽपि स्वबान्धवाः राज्यरक्षणसमर्थाः, स्वयन्तु भगवच्चरणैकतत्परः इति।।२७।।

तथाभूतो अर्जुनो वाक्यानि आह **दृष्ट्वा इमम्** इति.

अर्जुनः उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

हे कृष्ण **इमं युयुत्सुं** योद्धुकामं **समुपस्थितं** सम्यक्प्रकारेण उपस्थितम् अनिवर्तिनं **स्वजनं दृष्ट्वा मम गात्राणि** सर्वाङ्गानि **सीदन्ति** विशीर्यते, **मुखं च** परितः बाह्याभ्यन्तरभेदेन इति अर्थः. **वेपथुश्च** इति एतत् सर्वं भवति।।२९।।

नच शक्नोमि इति. **अवस्थातुं नच** समर्थो अस्मि इति भावः।।३०।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव!।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

किञ्च हे **केशव!** दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक **विपरीतानि निमित्तानि पश्यामि**. अयम् अर्थः युद्धं कृत्वा राज्यादिकरणरूपाणि तानि तथाभूतानि सर्वाणि पश्यामि. भगवदीयस्य तथात्वम् अनुचितम् इति भावः. तदेव आह **नच** इति. **स्वजनम् आहवे** सङ्ग्रामे **हत्वा** अनु पश्चात् **श्रेयो न पश्यामि**. **श्रेयो** भगवत्कृपात्मिकां भक्तिम् इति अर्थः. अतएव भगवता उक्तं **''तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह''**(भाग.पुरा.११।२।३१) इति।।३१।।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

तद्विना अहं **विजयं राज्यं च न काङ्क्षे**, तज्जनितानि सुखान्यपि. **च**कारेण भक्तावपि सुखानि न काङ्क्षे, यतो भगवत्तोषहेतुः तापएव इति भावः. पुनः विस्तरेण तदाकाङ्क्षित्वाभावः[३०] प्रपञ्चयति **किं नो राज्येन** इति. **नः राज्येन किं? भोगैः वा किं? जीवितेन वा किं?** हे **गोविन्द!** त्वां विना एतैः न किञ्चित् प्रयोजनम् अस्माकम् इति भावः. 'गोविन्द' इति सम्बोधनेन यथा व्रजवासिनां त्वम् इन्द्रो भूत्वा सुखभोगं कारितवान् तथैव भक्तानाम् उचितम् इति भावो ज्ञाप्यते।।३२।।

ननु तव एकस्य न आकाङ्क्षा, तथापि स्वकीयसम्बन्धिनां सर्वेषाम् अर्थे शत्रून् मारयित्वा राज्यं स्वकीयं कुरु इति आशङ्कायाम् आह **येषाम् अर्थे** इति.

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

येषाम् अर्थे नः राज्यम् आकाङ्क्षितं, **भोगाः सुखानि च** काङ्क्षितानि, **ते** सर्व **इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे** सङ्ग्रामे मरणार्थम् अवस्थिताः इति अर्थः. तस्माद् एतन्मारणेन लौकिकसिद्धिरपि न अस्माकम् इति भावः।।३३।।

तान् सर्वान् नामभिः गणयति **आचार्याः** इति.

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः

श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

एते राज्यभोगे नियुक्ताः तेतु अत्र मरणार्थम् उपस्थिताः तन्मारणानन्तरं स्वस्य अनपेक्षितत्वाद् राज्यभोगसुखादिभिः न किञ्चित् कार्यम् इति अर्थः।।३४।।

ननु त्वत्सम्बन्धिनोऽपि ये युद्धार्थम् उपस्थिताः तान् चेत् त्वं न मारयिष्यसि तदा तएव त्वां मारयिष्यन्ति इति चेत् तत्र आह **एतान्** इति.

एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं न महीकृते।।३५।।

हे **मधुसूदन!** मां **घ्नतोऽपि एतान्** अहं **हन्तुं न इच्छामि**. 'मधुसूदन'इति सम्बोधनेन त्वत्सहायवन्तं माम् एते मारयितुमेव न समर्थाः इति ज्ञाप्यते. **त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोः** तथाकर्तुं न इच्छामि. **किं** पुनः **महीकृते** तथा करिष्यामि!।।३५।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्यात् जनार्दन!।

पापमेवाश्रयेद् अस्मान् हत्वैतान् आततायिनः।।३६।।

हे **जनार्दन!** सर्वाविद्यानाशक **धार्तराष्ट्रान्** ज्ञानदृष्टिरहितान् **एतान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात्?** न काऽपि इति अर्थः. 'जनार्दन'इति सम्बोधनेन त्वदीयानाम् अस्माकं तथाकरणम् अनुचितम् इति भावो व्यञ्जितः. तेतु धृतराष्ट्रात्मजा इति त्वां न पश्यन्ति, तेन तेषां तथाकरणम् उचितम् इति 'धार्तराष्ट्र'इति पदेन व्यञ्जितम्. यद्वा अस्मदीयान् धार्त्तराष्ट्रान् निहत्य तव का प्रीतिः स्याद्? अत्र अयं भावः, लौकिकभावेन तेतु अस्मदीयाएव, तन्मारणे न अस्माकन्तु प्रीतिः स्यात् तदा त्वत्प्रीत्यर्थं हन्तव्याः, अस्माकं यथाकथञ्चित् त्वं प्रीणनीयः इति भावः. ननु ते आततायिनः इति ''**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः, क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः**'' (मनुस्मृ.८।३५० क्षे.२३) ''**आततायिनः मायान्तं हन्यादेवाविचारयन्, नाततायिवधे दोषो**

हन्तुर्भवति कश्चन'' (मनुस्मृ.८।३५०।५१) इत्यादिवाक्यैः प्रीतिः भवतु, मा वा; सर्वथा एते हि उक्तसर्वदोषसहिताः इति हन्तव्याएव. तेतु [३१]स्व-स्वपापेनैव हन्तव्याः, त्वं निमित्तमात्रं भव इति चेत् तत्र आह **पापमेवाश्रयेद् अस्मान्** इति. **आततायिनः एतान् हत्वा पापम् अस्मानेव आश्रयेत्**. किञ्च आततायिमारणे दोषाभावस्तु धर्मशास्त्रविचारेण अर्थशास्त्रविचारेण वा निरूपितः, नतु भक्तिविचारेण; भक्तिमार्गात्तु तयोः दुर्बलत्वात् तन्मारणेन अस्माकं पापमेव भवेत्, पापाश्च भगवत्सम्बन्धो न स्याद्; अतएव ''**नराणां क्षीणपापानाम्**'' (पाण्ड.गीता ४०) इति निरूपितम्।।३६।।

तस्मान् नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

तस्माद् वयं त्वदीयत्वाद् एतन्मारणानर्हाः इति आह **तस्माद्** इति. **तस्माद् वयं स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं न अर्हाः** न योग्याः इति अर्थः. हे **माधव! स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्याम** सुखिनो भविष्यामः इति अर्थः. **वयम्** इति उक्त्या भगवतः स्वमध्यपातित्वम् उक्तम्, तेन अस्माकं त्वत्सङ्गएव सुखरूपः, त्वमेव अस्माकं स्वजनः इति ज्ञापितम्. तस्मात् स्वजनापराधात्, स्वजननाशः स्याद् अस्माकं च त्वमेव स्वजनः इति त्वत्सम्बन्धाभावे वयं कथं सुखिनो भविष्यामः? इति व्यञ्जितम्. 'माधव' इति सम्बोधनेन अस्माकं न लक्ष्म्याद्यपेक्षिता इति ज्ञापितम्।।३७।।

ननु ये स्वजनत्वादिवधदोषम् अविचार्य प्रवृत्ताः ते निवृत्तमपि त्वां हनिष्यन्ति अतः त्वमपि अविचार्यैव एतान् मारय इति आशङ्क्य आह **यद्यपि एते** इति द्वाभ्याम्.

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

लोभेन उपहतं विभ्रंशितं चेतो मनो येषां ते **एते** धार्त्तराष्ट्राः **कुलक्षयकृतं** कुलक्षयकरणं **दोषं यद्यपि न पश्यन्ति, मित्रद्रोहे च** यत्पातकं तद् न पश्यन्ति,

तथापि पातकन्तु भविष्यत्येव इति अर्थः।।३८।।

कथं न ज्ञेयम् अस्माभिः पापाद् अस्मान् निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर् जनार्दन!।।३९।।

हे **जनार्दन!** अविद्यानाशक! त्वत्स्वरूपविद्भिः **कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः** अस्माभिः लोभानुपहतचित्तैः **अस्मात् पापाद् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम्**? ज्ञेयमेव इति अर्थः।।३९।।

एवम् उक्त्वा कदाचिद् लौकिकस्नेहवशादेव निवृत्तः, नतु पापस्वरूपज्ञानाद् अधर्मबुद्ध्या[३२], इति आशङ्क्य कुलक्षयकृतं दोषम् अनुवदति **कुलक्षये** इति पञ्चभिः.

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

सनातनाः प्राचीनाः परम्पराप्राप्ताः **कुलधर्माः कुलक्षये** कृते जाते वा **प्रणश्यन्ति** प्रकर्षेण नश्यन्ति. पुनः उदयाभावः प्रकर्षः. तस्माद् वयं पार्थाः पृथासम्बन्धेन त्वया अङ्गीकृत्वा इति अस्माकं परम्परागतो धर्मः त्वद्भक्तिः, तन्नाशकपापाद् अस्माकं विनिवृत्तिरेव उचितेति भावः. ननु इदानीं धर्मनाशेऽपि अग्रे प्रह्लादादिवत् कुले कोऽपि भक्तो भवेत् चेत् तदा धर्मः पुनः उद्भविष्यति, तस्मात् शौर्य–क्षात्रधर्मानाशकत्वेन युद्धकरणमेव उचितम् इति अतः आह **धर्मे नष्टे** इति. **उत कृत्स्नम्** अवशिष्टमपि कुलं धर्मे नष्टे सति **अधर्मो अभिभवति**, व्याप्नोति इति अर्थः।।४०।।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४१।।

तेन अग्रेऽपि कोऽपि तथा न भवति इति आह **अधर्माभिभवाद्** इति. **अधर्माभिभवाद्** अधर्मव्याप्ताः **कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति**, व्यभिचारादिदोषयुक्ताः भवन्ति इति अर्थः. **स्त्रीषु दुष्टासु** जातासु **वर्णसङ्करो जायते. वार्ष्णेय** इति सम्बोधनेन सत्कुलोत्पन्नानां तथात्वं कुले अनुचितम् इति ज्ञापितम्।।४१।।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

सङ्कराच्च नरकएव स्याद् इति आह **सङ्करः** इति. सङ्करः कुलस्य नरकायैव भवति. एवकारेण पापभोगानन्तरं नरकोद्धरणाद्यभावो ज्ञापितः. **कुलघ्नानाम् एषां पितरश्च पतन्ति** स्वधर्मोपार्जितादिलोकेभ्यः. **हि** इति युक्तश्च अयम् अर्थः. यतो **लुप्तपिण्डोदकक्रियाः** लुप्ताः पिण्डोदकः क्रियाः येषाम्।।४२।।

किञ्च कुलघ्नानान्तु नरको भवत्येव अत्र किं वाच्यम्? यतः तत्सम्बन्धात् सर्वत्रैव भूमौ धर्मनाशो भवति इति आह **दोषैः एतैः** इति.

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

दोषैः एतैः वर्णसङ्करकारकैः एतैः **कुलघ्नानां** दोषैः **जातिधर्माः शाश्वताः कुलधर्माश्च उत्साद्यन्ते** लुप्यन्ते इति अर्थः. चकारेण आश्रमादिधर्माश्च परिगृह्यन्ते।।४३।।

एवं सर्वधर्मलोपात् सर्वेषां नरकलोको भवति इति आह– **उत्सन्नकुलधर्माणाम्** इति.

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दन **उत्सन्नकुलधर्माणां** लुप्तकुलधर्माणां[३३] **मनुष्याणां नियतं नरके वासो भवति इति** वयम् **अनुशुश्रुम** श्रुतवन्तः इति अर्थः. **जनार्दन** इति सम्बोधनेन त्वत्सम्बन्धरहिताः तथा भवन्ति अविद्यासम्बन्धाद् इति ज्ञापितम्।।४४।।

ननु एतादृशी बुद्धिः चेत् तदा पूर्वं कथं युद्धव्यवसायः कृतः? इति आशङ्क्य पूर्वम् अज्ञानात् कृतम् इति पश्चात्तापं करोति **अहो बत** इति.

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।

यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

बत इति खेदे. **वयं महत्पापं कर्तुं व्यवसिता:** अध्यवसायं कृतवन्तः इति अर्थ:. पापस्वरूपमेव आह **यद् राज्य** इति. **यद्** यस्मात् कारणाद् राज्यसुख–लोभेन **स्वजनं हन्तुम् उद्यता:** उद्यमं कृतवन्तः इति अर्थ:. **अहो** इति आश्चर्यम्. यतो राज्यसुखन्तु स्वजनै: सहैव स्वजनार्थं वा; तानेव हन्तुम् उद्यताः इति आश्चर्यम्।।४५।।

ननु त्वं चेद् न हनिष्यसि तदा एते त्वां हनिष्यन्त्येव इति चेत् तत्र आह **यदि माम्** इति.

यदिमाम् अप्रतीकारम् अशस्त्रं शस्त्रपाणय:।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः तन् मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

धार्तराष्ट्राः अन्धापत्यानि **यदि** वा **अप्रतीकारम्** अकृतप्रतीकारम् **अशस्त्रं** शस्त्ररहितं **मां शस्त्रपाणय:** सन्तो **हन्यु:** हनिष्यन्ति **तद् मे क्षेमतरं भवेत्** कल्याणरूपं भवेद् इति अर्थ:. पूर्वकृतव्यवसायप्रायश्चित्तरूपं भवेद् इति अर्थ:. अजिघांसन्तं मां हनिष्यन्ति चेत् तदा क्षेमरूपं भवेत्, तव सन्निधौ मरणे च क्षेमतरं भवेद् इति भाव:।।४६।।

सञ्जयः उवाच

एवम् उक्त्वाऽर्जुन: सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानस:।।४७।।

ततः किं कृतवान् इति अपेक्षायां सञ्जयः आह **एवम् उक्त्वा अर्जुन: सङ्ख्ये** सङ्ग्रामे **रथोपस्थे** रथोपरि स्थित: भक्त्यन्तरायत्वेन युद्धोपक्रान्ति–राज्यानाकाङ्क्षणेऽपि भगवदनुत्तरे भक्तिज्ञानार्थं **शोकसंविग्नमानसो** भूत्वा **सशरं चापं विसृज्य** उप समीपे भगवतः **आविशत्** स्थितः इति अर्थ:।।४७।।

एवम् अस्मिन् अध्याये अर्जुनस्य विषादे लोकशास्त्रातिक्रमो हेतुत्वेन उक्त:. नच आर्त्ताधिकारस्य अग्रिमाध्यायारम्भएव सिद्धेः अस्य अध्यायस्य किं प्रयोजनम् इति शङ्क्यम्, कृपावेशबोधनार्थत्वेन सप्रयोजनत्वात्. अतएव पाद्मे गीतामाहात्म्ये ‘‘**तस्माद् अध्यायमाद्यं य: पठेद् य: संस्मरेत् तथा, अभ्यासेद् अस्य**

न भवेद् भवाम्भोधिः सुदुस्तरः''(श्लो.५३) इति फलम् उक्तं तस्माद् उपोद्घातसङ्गतिः.

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां प्रथमो अध्यायः।।१।।

पाठभेदाः

१. ''धर्मं च ऋर्षिं-ग्राहयित्वा'' इति मां. पाठः.
२. ''भगवत्प्रतिरूपम्'' इति मुद्रित पाठः.
३. ''न तु गीतायाम्'' इति मुद्रित पाठः.
४. ''न शक्यं-च तया-भूयः'' इति मां.पाठः.
५. ''काण्डत्रये'' इति मुद्रितपाठः.
६. ''सप्तसु श्लोकशतेषु'' इति मां.पाठः.
७. ''तस्य शोकस्य'' इति मां.पाठः.
८. ''महायुद्धभवनस्य'' इति मां.पाठः.
९. ''असुरा हन्तव्याः'' इति मुद्रित पाठः.
१०.''राज्यान्ते -च- नरकम्'' इति मां.पाठः.
११. ''धृतराष्ट्रसंवादम्'' इति मुद्रितपाठः.
१२.''भीमार्जुनौ अतिबलौ'' इति मुद्रितपाठः.
१३. 'गृह्यते' इति मुद्रितपाठः.
१४. 'सर्वेषु' इति मुद्रितपाठे नास्ति.
१५. ''व्यूहप्रवेशमार्गात् परस्थानेऽपि स्थितैः इदमपि ज्ञापितम्'' इति मुद्रितपाठः.
१६. 'जेस्यामि' इति मां.पाठः.
१७. ''कृत्वा प्रतिभटः सन् मुखम् पश्यन् मत्-प्रतिभटः''इति मां.पाठः.
१८. 'विनोदं' इति मुद्रितपाठः.
१९.'सर्वसावधानकरणार्थं' इति मुद्रितपाठः.
२०.'तच्छ्रवणएव' इति मुद्रितपाठः.
२१.''भगवत्स्थितियोग्यं'' इति मां.पाठः.
२२.'पाञ्चजन्यम्' इति मां.पाठः.
२३.''धनं जयो यस्य'' इति मां.पाठः.
२४. तादृशो' इति मां.पाठः.
२५.'नभोविदारिणं' इति मां.पाठः.
२६.'विद्युन्महाशब्देन' इति मुद्रितपाठः.

२७.‘‘दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य’’ इति मुद्रितपाठः.

२८. ‘इतिद्वयेन’ इति मां.पाठः.

२९. ‘विमनस्कता’ इति मां. पाठः.

३०. तदाकाङ्क्षित्वाभावम्’’ इति मां. पाठः.

३१.‘स्वपापेनैव’ इति मुद्रितपाठः.

३२.‘‘पापस्वरूप-ज्ञानेन अधर्मबुद्धे इति’’ इति मां.पाठः.

३३. ‘‘उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणाम्’’ इति मुद्रितपाठः.

V

साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयो अध्यायः

शोकसागरसम्मग्नं पार्थं स्वीयत्वभावतः।
कृष्णः स्वसाङ्ख्ययोगाभ्याम् उज्जहार दयापरः।।

पूर्वाध्याये शोकसंविग्नमानसो अर्जुनः सशरं चापम् उत्सृज्य उपाविशद् इति उक्तम्. ततः किं जातम् इति आकाङ्क्षायां सञ्जयः आह **तं तथा** इति.

सञ्जयः उवाच

तं तथा कृपयाऽऽविष्टम् अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तम् इदं वाक्यम् उवाच मधुसूदनः।।१।।

तम् अर्जुनम् आविष्टः स्वस्मिन् अश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे यस्य तं **तथा विषीदन्तं** पूर्वोक्तप्रकारेण खिद्यन्तं **मधुसूदनः** सर्वमारणसमर्थः **कृपया इदं वाक्यम्** अग्रे उच्यमानम् **उवाच**।।१।।

भगवद्वाक्यमेव आह **कुतस्त्वाम्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

कुतस्त्वां कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरमर्जुन।।२।।

विषमे असमये ''अयं युद्धोत्साहसमयः[१], नतु दयायाइति अस्मिन् समये हे **अर्जुन त्वाम् इदं कश्मलं कुतः समुपस्थितं** अयं तव मोहः कुतः प्राप्तः?'' स्वेच्छाज्ञानाद् अस्य कश्मलत्वम् उक्तः भगवता. कश्मलं विशिनष्टि विशेषणत्रयेण–अनार्यजुष्टं न विद्यते आर्यत्वं येषु तैः सेवितम्, अस्वर्ग्यं न विद्यते स्वर्गो यस्मात्, तेन धर्मप्रतिपक्षतोक्ता. अकीर्तिकरं कीर्तिनाशकं, तेन क्षात्रधर्मनाशकत्वेन कुलधर्मप्रतिपक्षकत्वम् उक्तम्।।२।।

अयं धर्मः तव न उचितः इति आह क्लैब्यम्[२] इति.

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।३।।

हे पार्थ क्षत्रियकुलोद्भव **क्लैब्यं** नपुंसकधर्मकातर्यं **मा स्म गमः** मा प्राप्नुहि. **एतत् त्वयि न उपपद्यते**. **क्षुद्रं** तुच्छम् अक्षुद्रे न स्यात्[३]. **हे परन्तप** शत्रुतापन हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा **उत्तिष्ठ** सावधानो भव, युद्धाय इति शेषः।।३।।

एवम् उत्तोलकभगवद्वाक्यं श्रुत्वा ''अहं कातर्येण युद्धाद् नापक्रान्तः, किन्तु धर्मबुद्ध्या'' इति अर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयामास **कथम्** इत्यादिषड्भिः.

अर्जुनः उवाच

कथं भीष्मम् अहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन!।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन!।।४।।

हे मधुसूदन! मधुदैत्यमारणेन मथुरास्थापनेन भक्तपरिपालक **अहं सङ्ख्ये** सङ्ग्रामे **भीष्मं द्रोणं च इषुभिः** शरैः[४] **कथं प्रतियोत्स्यामि**? प्रतिकूलतया योत्स्यामि इति अर्थः. भीष्मस्य भक्तत्वाद् मरणम् अनुचितं द्रोणस्यापि गुरुत्वात् तथेति द्रोणं च इत्यनेन ज्ञापितम्. भीष्मद्रोणौ च **पूजार्हौ** पूर्वोक्तप्रकारेण. **हे अरिसूदन!** शत्रुमारक! अनेन सम्बोधनेन एतौ भक्तद्विजौ, नतु शत्रू, ततः कथं मारणार्थं मां प्रवर्त्तयसि इति ज्ञापितम्।।४।।

गुरूणां मारणाद् भिक्षाटनं श्रेयः नतु तन्मारणेन राज्यभोगः इति आह **गुरून्** इति.

गुरून् अहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

गुरून् भीष्मद्रोणादीन् **अहत्वा इह लोके भैक्ष्यं** भिक्षान्नमपि **भोक्तुं श्रेयः** श्रेयोरूपम् इति अर्थः. यतः ते महानुभावाः, महतो भगवतो अनुभावकाः इति अर्थः. **इह लोके** तथा भोगेन परलोके सुखं स्यादिति 'इहलोक'पदेन ज्ञापितम्. एतेषां मारणेनतु परलोकएव दुःखं भविष्यति इति न, किन्तु इह लोकएव नरकादिसमं दुःखं भविष्यति इति आह **हत्वा** इति. अर्थकामान् अर्थात्मकान्

गुरून् हत्वातु इहैव **रुधिरप्रदिग्धान्** रुधिरावलिप्तान् (भोगान्) **भुञ्जीय** अश्नीयाम्।।५।।

किञ्च अधर्माङ्गीकारेणाऽपि तथा कर्त्तव्यं यदि अस्मज्जयएव इति अस्माकं हि तज्ज्ञानं निश्चितं स्याद् इति आह **नच एतद्** इति.

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

वयम् **एतत् च न विद्मः** यद् द्वयोः मध्ये **कतरद् नो** अस्माकं **गरीयः** श्रेष्ठम् अधिकं भवति, **यद्वा** वयं[५] तान् **जयेम यदि वा** एते **नो** अस्मान् **जयेयुः** जेष्यन्ति. अस्मद्विचारेणतु अस्माकं जयादपि तेषामेव जयो गरीयस्त्वेन भाति इति आह **यानेव** इति. यान् हत्वा वयं न **जिजीविषामो** नतु जीवितुम् इच्छामः तएव एते **धार्त्तराष्ट्राः** पितृव्यजा भ्रातरः सम्मुखे[६] युद्धार्थम् **अवस्थिताः**. अतः एतान् हत्वा किं करिष्यामः? इति अर्थः।।६।।

एवं स्वविचारम् उक्त्वा तस्य दोषरूपतां वदन् भगवदाज्ञां करिष्यमाणः आह **कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव**ः इति.

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान् निश्चितं ब्रूहि तन् मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

कार्पण्यं बन्धुमारणानुचितज्ञानरूपं तद्रूपो यो दोषः तेन **उपहतः** पराभूतः[७] **स्वभावः** क्षात्रः शौर्यादिरूपो यस्य तादृशः त्वां पृच्छामि. ननु उपहतस्वभावस्य विकलस्य किं प्रश्नेन इत्यतः आह **धर्मसम्मूढचेता**ः इति. धर्मे धर्मज्ञानार्थं सम्मूढं चेतो यस्य सः. एतन्मारणे त्वं प्रसन्नः? किं वा अमारणे? एतन्मध्ये अन्यद् वा **यत् श्रेयः** श्रेयोरूपं त्वत्प्रसादरूपं **स्यात् तन्मे निश्चितं ब्रूहि. अहं ते शिष्यः**,

नतु मित्रम्, अतः **त्वां प्रपन्नं** शरणागतं धर्मजिज्ञासया **मां** त्वं **शाधि** शिक्षय।।७।।

ननु मित्रत्वात् शरणागतत्वाच्च यथेच्छा तव भवति तथैव मया कर्त्तव्यम् इति चेत् तत्र आह **न हि** इति.

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

भूमौ असपत्नम् अद्वितीयं शुद्धं सर्वविभूतिमद्राज्यम् **अवाप्य** प्राप्य अपरत्र **सुराणाम् आधिपत्यम्** इन्द्रैश्वर्यमपि प्राप्य **इन्द्रियाणाम् उच्छोषणम्** अतिशोषणकरम् अभिलाषपूरकं किमपि नास्ति. अतो यद् मच्छोकम् **अपनुद्याद्** अपनयेत् तद् अहं **न प्रपश्यामि**. अत: किं विज्ञापयामि इति भाव:. **हि** इति युक्तः च अयम् अर्थ:. यतो दुरापूराणीन्द्रियाणि।।८।।

एवम् उक्त्वा अर्जुन: किं कृतवान्? इति अतः आह **एवम् उक्त्वा** इति.

सञ्जयः उवाच

एवम् उक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेश: परन्तप!।
न योत्स्य इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

गुडाकेशो अर्जुनः **हृषीकेशं** तथैव इन्द्रियप्रेरकम् **एवम् उक्त्वा** पूर्वोक्तप्रकारम् उक्त्वा **गोविन्दं** भक्तपरिपालकं **''न योत्स्ये'' इति उक्त्वा तूष्णीं बभूव**. **ह** इति आश्चर्ये. भगवदुक्तोऽपि न राज्यस्य स्पृहालुः जात:. **परन्तप** उत्कृष्टं तपो यस्य इति सम्बोधनम्, त्वदीया: श्रीकृष्णसम्मुखे जीवितं त्यक्त्वा कृतायां भविष्यन्ति इति अभिप्रायेण. अतएव **''पार्थास्त्रपूता: पदमापुरस्य''** (भाग.पुरा.३।२।२०) इति वचनं गीयते।।९।।

ततो भगवान् किम् उत्तरितवान् इति आकाङ्क्षायाम् आह **तम् उवाच** इति.

तम् उवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत!।

सेनयोर् उभयोर् मध्ये विषीदन्तम् इदं वचः।।१०।।

हृषीकेशः विषीदन्तम् अर्जुनं प्रहसन्निव मोहयन्निव[९] **उभयोः सेनयोः मध्ये इदं वचो** अग्रे वक्ष्यमाणम् उवाच. स्वोक्ताकारिष्वपि स्वीयेषु भगवान् पुनः वदति[१०]. विश्वासार्थं सम्बोधनं[११] **भारत** इति।।१०।।

पूर्वं शास्त्रार्थज्ञानेन स्थिरां बुद्धिं कृत्वा भक्त्युपदेशः कर्त्तव्यइति पूर्वं सर्वशास्त्रोक्तज्ञानम् उक्त्वा भक्तिम् उपदिशन् आत्मानात्मज्ञानार्थम् आत्मानात्मज्ञानम् आह भगवान् **अशोच्यान्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

अशोच्यान् अन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

त्वं अशोच्यान् शोकानर्हान् **अन्वशोचः** अनुशोचितवान् असि, यतः ते असुरावेशिनो भूभारहरणार्थं मे[१२] मारणीयाएव, नतु ते भक्ताः. किञ्च तेषां शोकं कृत्वा **प्रज्ञावादान्** प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान् **भाषसे** वदसि. तेषां वादानेव वदसि, नतु त्वं प्रज्ञावान्. यतः ते प्रज्ञावन्तः पण्डिताः मदिच्छयैव सर्वं भवति इति ज्ञानवन्तः, अतः **गतासून्** गतप्राणान् ''परलोके तेषां का गतिः भविष्यति!'', **अगतासून्** जीवतः[१३] ''जीवतां तेषां कथं योगक्षेमो भविष्यति!'' **इति न अनुशोचन्ति**. अतएव श्रुतिरपि आह **''एष एव तं साधु कर्म कारयति यम् उन्निनीषति एषएव तमसाधु कर्म कारयति यमधोनिनीषति**''(कौषि.उप.३।९) इति. अतो मत्कृते अर्थे कथं शोकः कर्त्तव्यः इति भावः।।११।।

अशोच्यत्वे अभक्तत्वं हेतुम् उक्त्वा पुनः अशोच्यत्वे हेत्वन्तरम् आह **न तु** इति.

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

अहम् एतादृशो यादृशं **त्वं** द्रक्ष्यसि तादृशो **जातु** कदाचिदपि **न आसम्**

इति न, किन्तु एवम्भूतः सर्वदैव आसम्; अस्मि इति अर्थः. एतेन स्वस्य नित्यत्वम् उक्तम्. ननु त्वन्नित्यत्वे कथम् एते शोकानर्हाः? इत्यतः आह **न त्वम्** आसीः. **नच इमे जनाधिपाः** आसन् इति न, किन्तु सर्वं मल्लीलारूपत्वाद् नित्यमेव इति अर्थः. तेन असुराणां मरणमपि नित्यमेव इति अर्थः. तस्माद् एते मार्याएव इति शोकानर्हाः इति भावः. ननु अहं युद्धे मरिष्ये चेत् तदा भवच्चरणवियोगो भविष्यति अधर्माचरणाद्वा तथा भविष्यतीति शोचामि इति चेत् तत्र आह **न चैव** इति. अतःपरं वर्तमानकालनन्तरं **सर्वे वयं न भविष्यामः** इति न, किन्तु भविष्यामएव. एवं सर्वस्य नित्यत्वात् सर्वे अशोच्याः इति त्वं शोकं कर्तुं न अर्हसि इति भावः।।१२।।

ननु वयम् एकत्रैव भविष्यामः इति सत्यं, परन्तु पुनः अलौकिको देहः एतादृशएव भविष्यति न वा इति सन्देहात् शोचामि इति आकाङ्क्षायाम् आह **देहिनः** इति.

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

देहिनो जीवस्य यथा **अस्मिन् देहे कौमारं यौवनं जरा** अवस्थात्रयं भवति कालेन तथा भवदिच्छया भगवदीयस्य **देहान्तरप्राप्तिः** अलौकिक-द्वितीयदेहप्राप्तिः भवति इति अर्थः. **धीरो** भक्तः **तत्र** देहप्राप्त्यर्थं **न मुह्यति** मोहं न प्राप्नोति इति अर्थः।।१३।।

ननु अग्रे देहाप्तिरपि भविष्यति, परं किञ्चित्कालं भवती भोगदुःखासहिष्णुत्वात् शोचामि इति चेत् तत्र आह **मात्रास्पर्शाः** इति.

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास् तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

हे कौन्तेय! परमस्निग्ध **मात्रास्पर्शाः** इन्द्रियवृत्तिविषयसम्बन्धाः **शीतोष्णसुखदुःखदाः** भवन्ति. अत्र अयम् अर्थः **:** इन्द्रियवृत्तिस्पृष्टा जलातपादयो शीतोष्णदाः भवन्ति. तथा मित्रसंयोगविप्रयोगादयश्च **सुखदुःखदाः**

भवन्ति. संयोगे स्वस्य सुखं भवति, विप्रयोगे च दु:खम्, तत्र स्वसुखदु:खादिकं[१४] न विचारणीयं किन्तु मित्रसुखविचारेण स्वस्य तत्सहनमेव उत्तमम् उचितं, यतः ते न स्थिराः इति आह **आगमापायिनः** इति. आगमापायिनः आगच्छन्ति अपयान्ति च, अतएव अनित्या:, अतः **तान् तितिक्षस्व** सहस्व. **भारत!** इति सम्बोधनात् तव एतद् उचितम् इति ज्ञापितम्।।१४।।

ननु एतेषां सहनं किम्फलकम् इति आकाङ्क्षायाम् आह **यं हि न व्यथयन्त्येते** इति.

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ!।
समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

हे पुरुषर्षभ! पुरुषश्रेष्ठ स्वतन्त्रमोक्षसाधनकारणसमर्थ **यं पुरुषं समदु:खसुखं** समे दु:खसुखे वियोगसंयोगौ यस्य[१५], एतादृशं **धीरं** तत्सहनसमर्थम् **एते** मात्रास्पर्शाः **न व्यथयन्ति** न पराभवन्ति, **सः** पुरुषः **अमृतत्वाय** मोक्षाय **कल्पते**. यद्वा मोक्षभावाय भक्त्यर्थं कल्पते योग्यो भवति, भक्तिप्राप्तियोग्यो भवति इति अर्थ:. समदु:खत्वेन तदिच्छया सर्वम् आनन्दरूपमेव आभाति इति व्यञ्जितम्।।१५।।

ननु दु:खादिसहनाद् एतद्देहनाशएव स्याद्, देहनाशेन मोक्षस्तु न अपेक्षितएव, ततः किं दु:खसहनेन इति आशङ्क्य आह **न असतः** इति.

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस् त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:।।१६।।

असतो लौकिकस्य **भावो** अलौकिको **न विद्यते सत:** अलौकिकस्य भगवत्सत्तात्मकस्य **न अभावो** नाशो न **विद्यते** इति अर्थ:. अत्र निदर्शनं गोपिका एकास्तु अन्तर्गृहगता:, द्वितीयास्तु भगवद्रासलीलागता:, तद् आहु: **उभयोरपि** इति. **तु** शब्द: त्वद्दर्शननिवारणार्थ:. **अनयोः** उभयोरपि **तत्त्वदर्शिभि:** भगवद्दर्शनयोग्यैः भगवदीयै: **अन्तो दृष्ट:**, तत्फलं[१६] दृष्टम् इति अर्थ:. त्वमपि तथा चेद् इच्छसि तदा सुखदु:खादि सहस्व, न एतावता भगवद्योग्यदेहादिनाशो

भविष्यति इति भावः।।१६।।

ननु अलौकिकत्वाद् देहनाशो मास्तु. परं तत्सम्बन्धिसमर्पितसेवाद्युपयुक्तपदार्थानां नाशः स्यात् तदर्थम् उत्कटपापभयं भवति इति शोचामि, इति चेत् तत्र आह **अविनाशितु** इति.

आविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशम् अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुम् अर्हति।।१७।।

येन भावात्मकभगवदीयदेहेन **इदं सर्वं ततं** व्याप्तं सेवादियोग्यं वस्तु, **तद्** अलौकिकं शरीरम् **अविनाशि** नाशरहितं **विद्धि** जानीहि. **'तु'**शब्दो नाशसम्भावनाव्यावृत्तिं ज्ञापयति. **अस्य अव्ययस्य** स्वरूपस्य **विनाशं कश्चित्** पापाद्युपाधिजन्यकालादिः **कर्तुं न अर्हति** समर्थो अस्ति इति अर्थः।।१७।।

ननु देहादिनाशः प्रत्यक्षम् अनुभूयमानः किं रूपः इति आशङ्कायाम् आह **अन्तवन्त**ः इति.

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत।।१८।।

नित्यस्य जन्ममरणशून्यस्य **शरीरिणो** जीवस्य जीवभावनाभिलाषप्राप्तमायासम्बन्धिनः **इमे देहाः** लौकिकाः परिदृश्यमानाः भीष्मादीनां सर्वेषां च **अन्तवन्तः** अन्तयुक्ताः उक्ताः इति अर्थः. **अनाशिनो** विनाशहीनस्य **अप्रमेयस्य** उपायसहस्रैरपि प्रमातुम् अयोग्यस्य भगवतः सम्बन्धिनः शरीरिणो जीवस्य भगवदीयस्य देहास्तु न अन्तवन्तः इति अर्थः. सर्वेषामेव अन्तवत्त्वकथनेतु पूर्वोक्तवचनैः विरोधः स्यात्. अतएव तेषु भिन्नत्वज्ञापनार्थमेव[१७] **इमे** इति उक्तवान् प्रभुः. **तस्माद्** एतेषां मारणेन पापसम्भावना नास्ति इति **युद्ध्यस्व** युद्धं कुरु इति अर्थः. **भारत!** इति सम्बोधनम् उक्तवचनविश्वासार्थं यतः सत्कुलोत्पन्नस्य एवम्भूतभगवद्वाक्ये विश्वासो भवति।।१८।।

ननु तथाऽपि जीवस्य [१८]भगवदंशत्वेन तस्य नाशो न स्यात् परं तस्य मारणे

स्वस्य तदतिक्रमकृतो अपराधस्तु स्यादेव इति आशङ्क्य आह **य एनम्** इति.

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

यः एनं हन्तारं वेत्ति, यश्च एनं हतं मन्यते, तौ उभावपि न [१९]**विजानीतः** यतो **अयं न हन्ति, न वा हन्यते**. मदिच्छयैव सर्वं भवति इति भावः।।१९।।

मारणादिसम्भावनातु जन्मादिभावे सति भवति, तदेव नास्ति इति आह **न जायते** इति.

न जायते म्रियते वा कदाचिद्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

जन्माभावो निरूपितः. **न वा कदाचिद् म्रियते** अनेन मरणनिषेधो निरूपितः. **अयं भूत्वा भूयः न भविता**. अत्र अयम् अर्थः : [२०]मत्क्रीडनार्थं सृष्टौ येन भावेन पूर्वं यथा विभावितः तथा तेनैव भावेन पुनः न भविष्यति. तस्माद् यदर्थं मया उत्पादितः तदेव मत्प्रीत्यर्थं कुर्याद् अन्यथा जन्मवैयर्थ्यं स्यात्. **भूत्वा** इति उक्तत्वाद् जन्मशङ्का स्यात् तदर्थम् आह **अजः** न जायते इति अर्थः, मदंशत्वात्. एवम्भूतएव अयम् इति आह **नित्यः** इति. किञ्च **शाश्वतः**. मयि स्थितएव निरन्तरम् एकभावात्मकः. किञ्च **पुराणः** सर्वदा एवमेव मत्सेवार्थं दासरूपः पुराणोऽपि नवएव इति अर्थः. यदर्थम् एतदुक्तं तद् आह **न हन्यते** इति. हन्यमाने शरीरे गतो अयं जीवः तस्मिन् हते न हन्यते इति अर्थः. अयम् अर्थः **हन्यमाने** अन्तयुक्ते लौकिके देहे प्रविष्टः इति अर्थः. 'हन्यमाने' इत्यनेन तदर्थसृष्टत्वं ज्ञापितम्. तस्माद् भगवदिच्छानुरूपकरणाद् [२१]नातिक्रमजन्योऽपि दोषः स्याद् इति भावः।।२०।।

किञ्च अस्य मारणादिदोषबुद्धौ अज्ञानमेव कारणम् इति आह

वेदाविनाशिनम् इति.

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनम् अजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

अविनाशिनं विशेषविकाररहितं, नित्यं सदैकरूपम्, **अजं** जन्मादिरहितं, मयैव लीलार्थं तथा कृतम्; **अव्ययं** नाशादिशून्यं, **यः एनं वेद सः पुरुषः कथं** केन साधनेन **कं** स्वयं प्रेरको भूत्वा अन्येन **घातयति**? न कमपि इति अर्थः. स्वयं च **कं हन्ति**? न कञ्चिद् इति अर्थः।।२१।।

ननु भगवत्क्रीडार्थं सृष्टदेहादीनां मारणमपि दोषरूपम्, अतः शोचामीति चेत् तत्र आह **वासांसि** इति.

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

यथा **जीर्णानि** कार्यानुपयुक्तानि **वासांसि विहाय नवानि** कार्योपयोगीनि **अपराणि** पूर्वविलक्षणानि **नरो गृह्णाति** तथा **जीर्णानि** मत्क्रीडानुपयुक्तानि शरीराणि विहाय नवानि अन्यानि मत्क्रीडार्थं विलक्षण-रसोत्पादकानि **देही संयाति** मदिच्छया प्राप्नोति इति अर्थः।।२२।।

तस्मात् त्याज्यदेहस्य दूरीकरणेऽपि एनम् अविनाशादिधर्मयुक्तत्वात् शस्त्रादयो न च्छिन्दन्ति इति आह **न एनं छिन्दन्ति** इति.

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

एनं शस्त्राणि न च्छिन्दन्ति, घनाभावात्. एनं **पावकः न दहति,** शुष्कादिधर्माभावात्[२२]. **आपः एनं न क्लेदयन्ति,** मृदुत्वाद् न शिथिलयन्ति, काठिन्यादिराहित्यात्. **मारुतः न शोषयति,** द्रवाभावाद् इति अर्थः. तस्मात् शस्त्रास्त्रादिप्रक्षेपेऽपि[२३] अस्य न किमपि भविष्यति. इदमपि मत्क्रीडारूपम् अतो

मत्सन्तोषार्थं युद्धादिकं कर्त्तव्यम् इति भावः. एतेषां सर्वेषां तथाकरणे मदिच्छैव हेतुः इति भावः. यतो भगवदिच्छैव सर्वेषां स्वधर्मकरणे शक्तिः. अतएव श्रीभागवते उक्तं ‘‘**मद्भयाद् वाति वातोऽयम्**’’(भाग.पुरा.३।२५।४२) इत्यादि।।२३।।

एते च्छेदनादिधर्मयुक्ताअपि मदिच्छां विना तद् न कुर्वन्ति, मदिच्छयैव च त्याज्यदेहादिषु तथा कुर्वन्ति अतः त्वमपि एतेषु अच्छेद्यादिधर्मान् ज्ञात्वा प्रवृत्तो भव इति उक्त्वा अच्छेद्यत्वादिधर्मान् आह **अच्छेद्यः** इति.

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

अच्छेद्यादिधर्मवान् अयम् इति अर्थः. अच्छेद्यादिधर्मवत्त्वे कारणम् आह **नित्यः** अविनाशी, **सर्वगतः** व्यापकः, **स्थाणुः** स्थिरस्वभावः, **अचलः** सर्वदैकरूपः, **सनातनः** अनादिः।।२४।।

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् अविकार्योऽयम् उच्यते।

तस्माद् एवं विदित्वैनं नानुशोचितुम् अर्हसि।।२५।।

अव्यक्तो लौकिकेन्द्रियाग्राह्यः. **अचिन्त्यो** मनसोऽपि अगम्यः. **अविकार्यो** विकाररहितः कर्मभिः वा अविकार्यः. **अयं** सर्वत्र व्यापकत्वेन प्रत्यक्षतया [२४]उक्त्वा **उच्यते** वेदैः तज्ज्ञैश्च[२५] इति अर्थः. यदर्थम् एतदुक्तं तद् आह **तस्माद्** इति. **तस्माद् एनं** पूर्वोक्तधर्मवन्तं **विदित्वा अनुशोचितुं न अर्हसि**।।२५।।

एवं विद्वत्सिद्धान्तम् उक्त्वा अविद्वत्सिद्धान्तेनापि शोकं कर्तुं न अर्हसि इति आह **अथच** इति.

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

अथ च पक्षान्तरेण. **एनं नित्यजातं** तत्तद्देहेन सह जातं तस्मिन् मृते **मृतं**

वा मन्यसे, तथापि त्वं एनं शोचितुं न अर्हसि. यतः त्वं महाबाहुः. अत्र अयम् अर्थः : नित्यस्य अस्य जन्ममरणज्ञानन्तु देहाध्यासेनैव भवति. [२६]तथा सति स्वबाहुबलादिविचारोपि घटते. तेन स्वबाहुबलविचारेणापि न शोकः कार्यः. यतः सः स्वबलादिनाशकः.।।२६।।

ननु स्वसमानाभावाद् निर्बलेतु शोकः कर्त्तव्यएव इति चेत् तत्र आह **जातस्य** इति.

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्माद् अपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

जातस्य देहस्य **मृत्युः ध्रुवः, मृतस्य ध्रुवं जन्म** भवति इति अर्थः. अत्र अयम् अर्थः : जातस्य गृहीतजन्मनो येन मृत्युः निर्मितः तस्य तेनैव **मृत्युः ध्रुवो** निश्चितः **तस्माद्** येषां मृत्युः त्वयैव निर्मितः सच तथैव भविष्यति. [२७]मृतस्य स्वकर्मणानिच्छतोपि जन्म भविष्यति. तस्माद् यद् यथा ईश्वरनिर्मितं तत् तथैव भविष्यति इति **अपरिहार्ये** सर्वथा भाव्ये **अर्थे त्वं न शोचितुं** योग्यो असि इति अर्थः. **हि** इति युक्तो अयम् अर्थः. ईश्वरकृतं को अन्यथा कर्तुं समर्थः?।।२७।।

ननु ईश्वरोत्पादितानां देहानां स्वस्य नाशकरणम् अनुचितम् इति आशङ्क्य देहानाम् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयविचारेणाऽपि शोकाभावम् आह **अव्यक्तादीनि** इति.

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

अव्यक्तम् अक्षरम् आदिः उत्पत्तिः येषां तानि **अव्यक्तादीनि भूतानि** शरीराणि. व्यक्तं जगत् तदेव मध्यं स्थितिरूपम् उत्पत्ति-लययोः मध्यं येषां तानि. अव्यक्ते अक्षरएव निधनं लयो येषां तानि तथा. **तत्र** तेषु **का परिदेवना** का चिन्ता इति अर्थः. अत्र अयम् अर्थः : यतः उत्पत्तिः तत्रैव नाशे शोकः स्वस्य अनुचितः इति अर्थः. स्वस्यापि तन्मारणानन्तरं न नरकादिसम्भावना, यतः उत्पत्तिस्थलएव स्वस्यापि नाशो भविष्यति।।२८।।

ननु एवं चेत् तदा विद्वांसः पापकर्मणा नरकसम्भावनया कथं शोचन्ति इति आशङ्क्य आह **आश्चर्यवद्** इति.

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिद् एनम्
आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवत् चैनम् अन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

एनं **कश्चिद् आश्चर्यवत् पश्यति,** शास्त्रार्थज्ञानाद् नित्यम् अव्ययादिरूपं[२८] जानन् जन्मादिभावदर्शनाद् आश्चर्यवद् मायाकृतैन्द्रजालवत् पश्यति इति अर्थः. एतेषां जन्मादिभावास्तु मदिच्छया मत्क्रीडार्थका इति 'आश्चर्यवद्' इति उक्तम्. तथैव च मन्मायया मोहितः **कश्चिद् आश्चर्यवद् वदति,** अन्यान् बोधयति इति अर्थः. अन्यश्च श्रोता स्वतो ज्ञानरहितः **आश्चर्यवत् शृणोति. श्रुत्वाऽपि एनं** यथार्थम् इदमित्थतया **न वेद.** वै निश्चयेन एतत्त्रितयेषु कोऽपि **न वेद,** न ज्ञातवान् अतो अज्ञानात् तेऽपि शोचन्ति इति भावः।।२९।।

पूर्वोक्तम् उपसंहरन् शोकाभावम् उपदिशति **देही** इति.

देही नित्यम् अवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुम् अर्हसि।।३०।।

देही सर्वस्य देहे अवध्यः. तस्मात् सर्वाणि भूतानि जातानि देहानि[२९] नतु देही जायतइति **त्वं शोचितुं न अर्हसि. भारत!** इति सम्बोधनात् तथाज्ञानभवत्वं बोध्यते।।३०।।

एवम् आत्मस्वरूपज्ञानेन शोको न कर्त्तव्यः इति उक्त्वा स्वधर्मादपि मा शुच इति आह **स्वधर्ममपि** इति.

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुम् अर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

स्वधर्मं क्षात्रम् **अवेक्ष्यापि**[३०] **विकम्पितुं न अर्हसि** यतः क्षत्रियाणाम्

अयमेव उत्तमो धर्मः इति आह **धर्म्याद्** इति. **धर्म्याद् हि युद्धाद् अन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयो न विद्यते**. क्षत्रियाणां परलोकादिकन्तु[३१] अनेनैव भवति।।३१।।

तस्माद् एतादृशं भाग्यवन्तएव लभन्ते इति आह **यदृच्छया** इति.

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारम् अपावृतम्।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धम् ईदृशम्।।३२।।

यदृच्छया भगवदिच्छया **उपपन्नम्**. **अपावृतम्** उद्घाटितकपाट–स्वर्गद्वारम्. **ईदृशं युद्धं क्षत्रियाः सुखिनो** भाग्यवन्तो **लभन्ते** प्राप्नुवन्ति एतादृशयुद्धाप्तौ भाग्यवत्त्वं भगवदिच्छया अनुरूपत्वाद् भगवत्सन्निधित्वाच्च इति भावः।।३२।।

एवं स्वधर्मावेक्षणेन मदुक्तसङ्ग्रामाकरणे तव बाधकं स्याद् इति आह **अथ चेद्** इति.

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि।।३३।।

अथ स्वधर्मावेक्षणानन्तरमपि **इमं** मदग्रे **धर्म्यं** मदाज्ञारूपं **सङ्ग्रामं चेद् न करिष्यसि** तदा **स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि** इति अर्थः।।३३।।

किञ्च पापात् परलोकनाशएव भविष्यति इति न, किन्तु इह लोकेऽपि अपकीर्तिः भविष्यति इति आह **अकीर्तिं चाऽपि** इति.

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

सम्भावितस्य चाकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते।।३४।।

भूतान्यपि ते अकीर्तिम् अव्ययां सदानुवर्त्तमानां **कथयिष्यन्ति**. 'भूतानि' इति नपुंसकलिङ्गकथनेन तथाकथनायोग्याअपि कथयिष्यन्ति इति व्यञ्जितम्. ननु अकीर्तिकथनेन किं स्याद्? इति अतः आह **सम्भावितस्य** इति. **सम्भावितस्य** युद्धादौ **अकीर्तिः मरणाद् अतिरिच्यते,** अधिका भवति इति अर्थः।।३४।।

ननु पूर्वं ये दृष्टमत्पौरुषाः तेतु न तथा कथयिष्यन्ति किन्तु अज्ञाएव, तेषां कथनेऽपि किं स्याद् इति अतः आह **भयाद्** इति.

भयाद् रणाद् उपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

ये **महारथाः** ते **त्वां रणाद् भयाद् उपरतं** निवृत्ते **मंस्यन्ते**. ननु मम भयाभावात् तेषां माननेऽपि किं भविष्यति इति अतः आह **येषां च त्वम्** इति सार्द्धेन. **त्वं येषां बहुमतः** सम्भावितगुणः आसीः तादृशो **भूत्वा लाघवं यास्यसि**।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।

निन्दन्तस् तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्?।।३६।।

किञ्च, **तव सामर्थ्यं निन्दन्तः** तव अहिताः शत्रवः बहून् **अवाच्यवादान्** कथनायोग्यान् वाक्यान्[३२] **वदिष्यन्ति**. **नु** इति निश्चयेन. **ततो दुःखतरं किम्?** न किमपि इति अर्थः।।३६।।

ननु यद्धे मरणसम्भावनायां दुःखसम्भावनायां च किम् अपकीर्त्यादिनेति चेत् तत्र आह **हतो वा** इति.

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय! युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

वा विकल्पेन हननसम्भावनाभावात्. कदाचिद् हतः चेत् तदा **स्वर्गं प्राप्स्यसि**. **जित्वा वा** दुःखादिसम्भवेऽपि **महीं भोक्ष्यसे**. तदा दुःखनिवृत्तिः भविष्यति इति भावः. **तस्माद् युद्धाय कृतनिश्चयः** सन् **उत्तिष्ठ** उपस्थितो भव इति अर्थः।।३७।।

मया पूर्वं पापसम्भावना कृता तत्र का गतिः इति आशङ्क्य आह **सुखदुःखे** इति.

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि।।३८।।

सुखदुःखे देहस्य, **लाभालाभौ** राजस्य, **जयाजयौ** यशसः समौ **कृत्वा** हर्षविषाद-रहितः सन् **ततः** तदनन्तरं मदाज्ञाविचारेण **युद्धाय युज्यस्व** युक्तो भव. एवंकृते **पापं न अवाप्स्यसि** इति अर्थः।।३८।।

एवं साङ्ख्यम् आत्मज्ञानात्मकम् उपदिश्य उपसंहरति **एषा** इति.

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

एषा पूर्वोक्ता **ते** तव **साङ्ख्ये** आत्मानात्मप्रकाशके **बुद्धिः** करणार्थम् **अभिहिता**. साङ्ख्यस्य भगवतो विप्रयोगरसात्मककुण्डलरूपत्वात् तत्र भगवदात्मकात्मज्ञानेन न स्वास्थ्यं भवति तस्माद् आत्मज्ञानबुद्धिः **अभिहिता** उक्ता इति अर्थः. तज्ज्ञानार्थमेव एतच्छ्रवणेऽपि चेत् तव ज्ञानं[३३] न जातं, तदा कर्मयोगेन मोहो निवर्तिष्यते इति कर्मयोगं शृणु इति आह **योगे** इति. **योगेतु इमां** बुद्धिं **शृणु, यया** बुद्ध्या युक्तः सन् **पार्थ!** मद्भक्तवर **कर्मबन्धं** कृतकर्मपापं **प्रहास्यसि** त्यक्ष्यसि इति अर्थः. त्यागे प्रकर्षः पुनः तद्भावानुदयः।।३९।।

ननु कर्मणां बाहुल्यात् कालादिसाध्यत्वाच्च कृतानां पूर्णत्वाभावाद् वैकल्यं[३४] प्रत्युत अङ्गवैगुण्यादिना प्रत्यवायादिसम्भावना भवेद् इति कथं बन्धो न भविष्यति इति चेद्, इति आशङ्क्य अर्जुनस्य भगवत्कुण्डलात्मक-संयोगरूप-योगस्वरूपाज्ञानात् तज्ज्ञानार्थं तत्स्वरूपम् आह **न इह अभिक्रमनाशः** इति.

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

भगवन्मार्गे भगवदर्थं भगवदाज्ञारूपेण कर्तव्यत्वं कर्मणां, नतु फलसाधकत्वेन, तस्माद् न पूर्वोक्तदोषसम्भावना अत्र. तदेव आह **इह** मदाज्ञात्वेन क्रियमाणस्य कर्मणो **अभिक्रमनाशः** प्रारब्धकर्मनाशो **नास्ति** निष्फलत्वं न भवति इति अर्थः. **प्रत्यवायः च न विद्यते** यतो **अस्य धर्मस्य स्वल्पमपि** कृतं **महतो भयात् त्रायते** रक्षति. अत्रायं भावः : अन्यत्र कृतकर्मसाफल्यार्थं साङ्गत्वाय च

भगवत्स्मरणं बोध्यते **''यस्य स्मृत्या''**(   ) इत्यादिना, तत्र साक्षाद्भगवदर्थं कृतानां कर्मणां कथं वैफल्यं भवेत्?।।४०।।

किञ्च. फलार्थं कर्मकर्तृणाम् अनेकत्र बुद्धिः भवति मदाज्ञात्वेन कर्तृणां मन्निष्ठत्वेन एकैव बुद्धिः इति भ्रमाद् न वैपरीत्यशङ्का इति आह **व्यवसायात्मिका** इति.

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

हे कुरुनन्दन सत्कुलोत्पन्न **इह** भक्तिमार्गे **व्यवसायात्मिका** भगवदाज्ञयैव करिष्यामीति रूपा एकैव भवति. **अव्यवसायिनां** बहिर्मुखानाम् अनिश्चितहृदयानां **बुद्धयो** अनन्ताश्च भवन्ति, फलार्थं बहुशाखाश्च भवन्ति. तत्र साङ्गत्वाभावात् प्रत्यवायादिसम्भावना स्यादेव; भक्तानान्तु साङ्गत्वाद् नैव वैफल्यप्रत्यवायादिसम्भावना अतएव भगवद्वाक्यं **''मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काल–लोपो भवेद् यदि, तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः''**(   ) इति।।४१।।

ननु एवं फलोत्तमतां ज्ञात्वा सवएव[३५] व्यवसायात्मिकां बुद्धिं कथं न कुर्वन्ति इति आशङ्क्य आह **याम् इमाम्** इति त्रयेण.

याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यद् अस्तीति वादिनः।।४२।।

ये **इमां पुष्पितां यां वाचं** फलादिरहितां कुत्सितपुष्पयुक्त–लतावद् अदूरदृष्टरम्यां **प्रवदन्ति** प्रकर्षेण फलरूपतया वन्दति तेषां **व्यवसायात्मिका बुद्धिः न विधीयते** न उत्पद्यते इति अर्थः. ननु तेऽपि शास्त्रोक्तज्ञानवन्तः कथं तथा वदन्ति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **अविपश्चितः** इति. मूर्खाः अज्ञानाः इति अर्थः. तेषां मूढत्वं विशेषणैः प्रकटयति **वेदवादरताः** इति वेदोक्तफलक–कर्मकरणमेव उचितं, नतु निष्कामतया, ते तथा अतएव **''न अन्यद् अस्ति'' इति वादिनः** वेदोक्तफलव्यतिरिक्तं[३६] कर्मफलं नास्तीति वदनशीलाः।।४२।।

कामात्मान: स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

ननु तेषां तथा कथनं किम्प्रयोजनकम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **कामात्मानः** इति कामनाव्याप्तरूपा:. ननु कथं कामनायां तुच्छफले प्रवर्त्तन्ते इति आशङ्क्य आह **स्वर्गपराः** इति. स्वर्गएव परो मोक्षरूपो[३७] येषां तेषाम्. स्वर्गस्य तथा ज्ञानार्थं पूर्ववाचं विशिनष्टि **जन्मकर्मफलप्रदाम्**. जन्म उत्तमयोनौ तत्र उत्तमं कर्म, तथा उत्तमफलं च तानि प्रकर्षेण ददाति तां तथा, **भोगैश्वर्यगतिं** भोगैश्वर्यप्राप्तिं **प्रति** क्रियाविशेषा बहुला यस्यां तां तथा फलरूपां वदन्ति।।४३।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

ततो **भोगैश्वर्यप्रसक्तानां** तेषां **तया** वाचा अपहृतचित्तानां **समाधौ** वैयग्र्यभावेन[३८] भगवच्चिन्तने तथा **बुद्धिः न** भवति इति अर्थ:।।४४।।

ननु तेतु अज्ञा: वेदोक्तविषये प्रवर्तन्ते, परं स्वर्गादीनां फलत्वाभावे[३९] वेद: कथं बोधयति? इति आशङ्क्य आह **त्रैगुण्यविषयाः वेदाः** इति.

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

त्रैगुण्या: त्रिगुणसृष्टौ सृष्टाः ये जीवाः तद्विषयाः तदर्थं स्वर्गादिफलक-कर्मबोधकाः वेदा:. नतु गुणातीतसाक्षाद्भगवत्क्रीडौपयिकभगवदीय-सृष्ट्यन्तर्गतभगवद्भक्तविषयाः इति अर्थ:. भगवल्लीलासृष्टिस्तु निर्गुणा अतएव **''अन्यैव काचित् सा सृष्टिः विधातुर्व्यतिरेकिणी''**( )इत्यादि श्रीवराहवचनम्. गुणातीत-पुरुषोत्तमस्वरूपन्तु वेदाद्यविषयमेव. अतएव श्रुतिः आह **''नेति नेति''**(बृहदा.उप.२।३।६) **''यतो वाचो निवर्त्तन्ते''**(तैत्ति.उप. २।४।१) इत्यादि. यस्माद् वेदाः त्रिगुणविषयाः तस्मात् त्वं **निस्त्रैगुण्यो** भक्तो **भव** इति अर्थ:. निस्त्रिगुणस्य भावुको भव इति भाव:. यद्वा **वेदाः त्रैगुण्यविषया:** त्रिगुणात्मकस्वरूपफलप्रतिपादका:, नतु साक्षाद्-

भगवत्सम्बन्धप्रतिपादकाः अतः तथा बोधयन्ति इति अर्थः. ननु वेदाः त्रिगुणविषयाः चेत् तदा अस्माकम् अज्ञानानां का गतिः? इति आशङ्क्य आह **निस्त्रैगुण्यः** इति. गुणातीतमद्धर्मैकपरो भव इति भावः. केन साधनेन तथात्वं भवेद्? इति आशङ्कायाम् आह **निर्द्वन्द्वः** इति. निर्गतानि द्वन्द्वानि[४०] सुखदुःखाहंममेत्यादीनि तद्रहितो भव. सर्वं त्यक्त्वा भक्तिपरो भव. तथा त्वमपि कथम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **नित्यसत्त्वस्थः** इति. नित्यं सत्त्वं यस्मात् तस्मिन् गुणातीते स्थितो भव. किञ्च **निर्योगक्षेमः** इति साधनासाध्य-परमाप्तवस्त्वभिलाषो **योगः**, स्वेच्छाप्राप्तवस्तुनि आप्तज्ञानेन स्वीकारो **क्षेमः** तद्रहितः **आत्मवान्** आत्मज्ञानवान् भव इति अर्थः।।४५।।

ननु एवं वेदोक्ताकरणे कथं फलसिद्धिः स्याद्? इति आशङ्कायाम् आह **यावान्** इति.

यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

उदपाने उदकं पीयते अस्मिन् इति **उदपानं** जलपात्रं, तस्मिन् **यावान् अर्थः**. **सर्वतः सम्प्लुतोदके** तडागे च भवति, परं तत्र जलाहरणपात्र-रक्षणादिक्लेशो अधिकः. तथा यावान् **अर्थो** वेदोक्तकर्मफलं **वेदेषु** भवति, **तावान् विजानतो** ब्रह्मस्वरूपविदुषो **ब्राह्मणस्य** ब्रह्मैकनिष्ठस्य भवति इति अर्थः. न एवं च श्रुतिविरोधः. अतएव श्रुतिः आह ‘‘**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्**’’(तैत्ति.उप.२।४।१) ‘‘**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति**’’(श्वेता.उप.३।८) ।।४६।।

ननु एवं चेत् तर्हि किमिति कर्मकरणोपदेशः? इति आशङ्क्य आह **कर्मण्येव अधिकारः ते** इति.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

ते तव स्वपराहम्ममज्ञानयुक्तस्य **कर्मण्येव अधिकारः** अस्ति इति

शेषः. अत्र अयं भावः यावत्पर्यन्तं स्वपरेति ज्ञानं तावद् न कर्मत्यागः. अतएव "**तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता**"(भाग.पुरा.११।२०।९) इत्याद्युक्तं श्रीभागवते. ननु तर्हि पूर्वोक्तबाधः इति चेत् तत्र आह **मा फलेषु** इति. फलेषु तदुक्तेषु अधिकारो मनसि कामो **मास्तु**. **कदाचन** इति साधनदशायामपि. ननु कृतं कर्म कामाभावे स्वफलं करिष्यत्येव, अज्ञानादपि भक्षणे विषवद् मृत्युम् इति अतः **मा कर्मफलहेतुः** इति. त्वं **कर्मफलहेतुः** कर्मभोगभोग्यदेहयुक्तो **मा भूः** न भविष्यसि इति अर्थः. मदाज्ञया इति भावः. किञ्च, **ते अकर्मणि** सकामकर्तरि **सङ्गः** सम्बन्धो **मास्तु**. एवं वरमेव ददामि इति भावः.

ननु एवमेव चेत् तर्हि किं कर्मकरणेन इति आशङ्क्य इति आह **योगस्थः** इति.

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

योगस्थः भगवदेकपरचित्तो भूत्वा **सङ्गं त्यक्त्वा** पूर्वोक्तानां **कर्माणि कुरु** मदाज्ञारूपाणि कुरु इति अर्थः. **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**. सिद्धिः तत्फलाप्तिः, असिद्धिः फलविपरीतफलं, तत्र समो भूत्वा. ननु समत्वे सति किं स्यात्? अतः आह **समत्वं योगः उच्यते** इति. तत्र समत्वमेव योगः. भगवदाज्ञया कर्त्तव्यत्वेन तत्फलाफले समता स्यात्. साच भगवत्परत्वज्ञापिका इति योगरूपत्वम्. यद्वा योगस्थः भगवत्संयोगे स्थितः **कर्माणि** तत्र उपयुक्तानि कुरु; **सङ्गं त्यक्त्वा** सर्वत्यागं कृत्वा इति भावः. **धनञ्जय!** इति सम्बोधनेन स्वविभूतिरूपत्वात् स्वसंयोगयोग्यता बोधिता; किञ्च सिद्ध्यसिद्ध्योः, सिद्धिः सर्वदा संयोगः[४१], असिद्धिः विप्रयोगः तत्र **समो भूत्वा** संयोगानन्तरभावि-विप्रयोगानन्तरभावि-परमसुखज्ञानेच्छाजनितानन्दभर-भगवद्दत्तविप्रयोगे वैमनस्यम् अविचार्य तथा कुरु. तत्र समत्वमेव योगः इति उच्यते[४२]. तद्रसज्ञैः इति शेषः. मया वा भगवद्दत्तविप्रयोगस्यापि परमानन्दरूपत्वात् तद्दत्तत्वेन योगरूपता इति भावः. संयोगानन्तरजत्वात् तन्मध्यपातित्वादपि तथा तत्साधकत्वेनापि तथा।।४८।।

ननु एवं चेत् तदा कथं न तत्र सर्वः प्रवृत्तिः? इति आशङ्क्य आह **दूरेण** इति.

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय!।
बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

धनञ्जय! मद्विभूतिरूप तथा कर्मायोग्य**बुद्धियोगाद् दूरेण** कृतं **कर्म** फलाद्यर्थकृतं; नतु मदाज्ञारूपत्वेन तद् **अपरम्** अपकृष्टम् इति अर्थः **: हि** इति युक्तो अयम् अर्थः. भगवदाज्ञाव्यतिरिक्तत्वेन फलेच्छया कृतकर्मणो नीचत्वमेव. तस्मात् तदपकृष्टानां प्राकृतानामेव योग्यं, न उत्कृष्टानां मदंशानाम् इति 'धनञ्जय'सम्बोधनेन ज्ञापितम्. तेन अत्र अधिकाराभावाद् न सर्वेषां प्रवृत्तिः इति भावः. यस्मात् ते नीचाः, सात्त्विकाधिकार-रहितानां च अप्रवृत्तिरतः[४३], त्वं च मदंशत्वाद् बुद्धियोगयोग्यः इति बुद्धियोगाय यतस्व इति आह **बुद्धौ** इति. **बुद्धौ** बुद्धियोगनिमित्तम् ईश्वरं **शरणम् अन्विच्छ** अनुतिष्ठ. ननु सकामकर्त्तारोऽपि ईश्वरशरणम् इच्छन्ति इत्यत्र को विशेषः? इति आशङ्क्य आह **कृपणाः** इति. **फलहेतवः** सकामाः. **कृपणा** लुब्धा दीना इति अर्थः. नहि लुब्धैः अहं प्राप्तः. अतएव श्रुतौ ब्रह्मभूतस्यैव ब्रह्मप्राप्तिः निरूपिता "**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति**" (बृहदा.उप.४।४।६)।।४९।।

ननु एवं बुद्धौ किं स्याद्? इति आशङ्क्य आह **बुद्धियुक्तः** इति.

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

बुद्ध्या युक्तः इहैव **उभे सुकृत-दुष्कृते जहाति**. अयम् अर्थः मयि बुद्ध्या युक्तः **इह** अस्मिन्नेव जन्मनि सुकृतफलं स्वर्गादि दुष्कृतफलं नरकं तत्साधने सुकृतदुष्कृतं त्यजति. सुकृतम् उत्तमफलार्थं करोमि; दुष्कृतं भ्रमाद् जातं तत्फलभोगो मम भविष्यति इति न विचारयति किन्तु "यथा ईश्वरः प्रेरयति तथा करोमि"इति करोति. तेन भक्तसाधनत्वं भवति इति अर्थः. यस्माद् बुद्ध्या अहं प्रसन्नः सन् भक्तिं ददामि तस्मात् त्वं योगाय म(?) इति शेषः. **युज्यस्व** यत्नं कुरु. ननु योगोऽपि कृतिसाध्यत्वात् कर्मएवइति पूर्वोक्तमध्यपातित्वात् किं योगेन?

इति अतः आह **योगः** इति. [४४]**कर्मसु कौशलं** चातुर्यम् **योगः** इति अर्थः. मन्निष्ठत्वाद् मद्दर्शनार्थं मनःस्थिरीकरणसाधकत्वात् चातुर्यम्. साक्षाद्-भक्त्यधिकारफलानि वा. मदाज्ञया कर्मकरणं योगः. एतदेव कर्मसु चातुर्यं, यत्कृत्वाऽपि भक्तिसाधने प्रवेशनीयं तादृशो योगः उत्तमः इति[४४]. इदानीं तदधिकाराभावात् तथोपदिशति. अन्यथा 'कर्मसु' इति पदं व्यर्थं स्यात्।।५०।।

ननु कर्मणां स्वतन्त्रफलत्वं भक्तेः कथं साधनता? इति आशङ्क्य आह **कर्मजम्** इति.

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

मनीषिणः शास्त्रार्थज्ञातारः. **बुद्धियुक्ता** बुद्धिः युक्ता येषां तादृशत्वं च भक्तिप्रयत्नवत्त्वेन; ते हि निश्चयेन **कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः** सन्तो **अनामयं पदं** भक्तिरूपं **गच्छन्ति** इति अर्थः. अन्यत्र रोगादिकं भवति, नतु भक्तौ भगवच्चरणरूपायाम्. अतएव श्रीभागवते मृत्युभयाभावत्वं भगवच्चरणे निरूपितम्. '**मर्त्यः**' इत्यारभ्य ''**मृत्युरस्माद् अपैति**'' (भाग.पुरा. १०।३।२७) इत्यन्तेन श्लोकेन देवकीस्तुतौ।।५१।।

ननु तत्प्राप्तिः कदा स्याद्? इत्यतः आह **यदा ते** इति.

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

ते बुद्धिः यदा मोहकलिलं मोहगहनं लौकिकेषु देहादिषु विशेषेण **अतितरिष्यति तदा निर्वेदं** मोक्षं गमिष्यसि. **श्रोतव्यस्य** अग्रे प्रोच्यमानस्य शास्त्रतो [४५]वा **श्रुतस्य** च निर्वेदं तदैव **गन्तासि**. यद्वा **च** पुनः. **श्रुतस्य** पूर्वोक्तसाङ्ख्यादेः. **यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं** विशेषेण **अतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य** भक्तिमार्गस्य **निर्वेदं** गन्तासि. अत्र अयं भावः : यावत्पर्यन्तं कर्मादिमार्गेषु मोहः तावद्भक्तिमार्गफलं न भवति, तस्य अनन्यसाध्यत्वात्. अतएव अग्रे तथैव उपदेष्टव्यः. अधुना अधिकाराभावाद् न उपदिश्यते

अधिकारसम्पत्त्यर्थं च सूचितः।।५२।।

एतदेव द्रढयति **श्रुतिविप्रतिपन्ना** इति.

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।

सामधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना नानाविधधर्मश्रवणेच्छारहिता **निश्चला** श्रुतैरपि तैः धर्मैः चालनायोग्या **यदा ते बुद्धिः भविष्यति समाधौ** मच्चिन्तनसमये अचला स्वतो दृढा **स्थास्यति तदा योगं** मत्सान्निध्यरूपम् **अवाप्स्यसि** प्राप्स्यसि इति अर्थः।।५३।।

एतद् उक्त्वा भगवान् तूष्णीं स्थितः तदा अर्जुनः तादृग्बुद्धिज्ञानार्थं पृच्छति **स्थितप्रज्ञस्य** इति.

अर्जुनः उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव!।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम?।।५४।।

स्थितप्रज्ञस्य निश्चलबुद्धेः **का भाषा?** का परिभाषा इति अर्थः. कया परिभाषया सः ज्ञेयः? **हे केशव!** दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक मम मोक्षार्थं याथातथ्येन कथय इति भावः. **समाधिस्थस्य च का भाषा?** तदपि कथय. **स्थितधीः किं प्रभाषेत?** श्रोत्तव्यं चेद् न किञ्चित् तदा किं ब्रूयाद् इति अर्थः. [४६]स्वोच्चरितवाक्यस्यापि श्रवणसम्भवात्. **किम् आसीत?** कथम् उपतिष्ठेत्? **किं व्रजेत?** कथं गच्छेद्? इति अर्थः।।५४।।

भगवान् [४७]पृष्टानां मध्ये पूर्वपृष्टां स्थितप्रज्ञस्य परिभाषाम् आह **प्रजहाति** इति.

श्रीभगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ! मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस् तदोच्यते।।५५।।

हे पार्थ! मद्वाक्यश्रवणयोग्य पृथायाः स्वभक्तायाः पुत्रत्वात् स्ववाक्यश्रवणयोग्यत्वे तथा सम्बोधितवान्. **यदा मनोगतान्** स्वमनसि स्थितान्, नतु भगवदिच्छया कृपया च प्राप्तव्यान् भक्त्यादिरूपान् **सर्वान् कामान् प्रजहाति** प्रकर्षेण त्यजति. स्मरणाभावः प्रकर्षः. ननु कामत्यागे किं फलम्? इति आशङ्क्य आह **आत्मन्येव** इति. **आत्मन्येव** स्वात्मस्वरूपभूते भवगति[२] आत्मनः स्वस्यैव जीवात्मस्वरूपेण स्वयमेव तदैक्यस्फूर्त्या **तुष्टः** इति अर्थः. अयं भावः : कामाः स्वसन्तोषदा भवन्ति इति तदर्थयत्नेन[४८] तत्पूर्त्या तोषः, सच लौकिकएव अतः तत्त्यागे च आत्मस्फूर्त्या लौकिकसन्तोषो भवति आत्मगामीति फलम्. यदा एतादृशः स्यात् **तदा स्थितप्रज्ञो** निश्चलबुद्धिः **सः उच्यते** कथ्यते इति।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्रमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

किञ्च. **दुःखेषु अनुद्विग्नं** मनो यस्य, **सुखेषु** च विगता **स्पृहा** इच्छा यस्य, तादृशो **मुनिः** मननधर्मयुक्तः **स्थितधीः** स्थितप्रज्ञः **उच्यते**. ननु दुःखानुद्वेगे सुखस्पृहाभावे च किं स्याद्? अतः आह **वीतरागभयक्रोधः** इति. विगता रागभयक्रोधा यस्मात् तादृशः स्याद्, एतदेव फलम्. इयं परिभाषा स्थितप्रज्ञस्य इति भावः।।५६।।

''कथं भाषेत?'' इत्यस्य उत्तरम् आह **यः सर्वत्र** इति.

यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

यः सर्वत्र संसारे **अनभिस्नेहः** स्नेहरहितः **तत्तत् शुभम् अशुभं** च **प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि** शुभं लौकिकानुकूलं प्राप्य न प्रशंसति, अशुभं तत्प्रतिकूलम् अवाप्य न द्वेष्टि न विपरीतं वदति, **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** सर्वोत्तमा इति अर्थः. अयम् अर्थः : यः सुहृदाम् अनुकूलतया अभिनन्दनं करोति तस्य सर्वत्र भगवदात्मत्वे[४९] वैषम्यं स्यात्. प्रतिकूलकर्तृषु तद्धर्मस्फूर्त्या तं निन्दने[५०] भगवत्कृतिः विस्मृता स्यात्. अतः सर्वत्र भगवन्मयत्वं ज्ञात्वा शुभाशुभविवेकरहितः शुभमेव

भाषते सः उत्तमः इति अर्थः।।५७।।

"कथं तिष्ठेत्?" इत्यत्र उत्तरम् आह **यदा संहरते** इति.

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

यदा अयं सर्वशः सर्वत्र **इन्द्रियार्थेभ्यः** इन्द्रियभोग्येभ्यः **इन्द्रियाणि** संहरते **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** भवति इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आह **कूर्मो अङ्गानीव** इति. यथा कूर्मः करचरणाद्यङ्गानि स्वभावाद् अपकर्षति. कूर्मदृष्टान्तेन भोग्यदर्शनात्[५१] स्वतएव इन्द्रियनिवृत्तिः स्वभावतः स्यात्, तथा संहरणं कर्त्तव्यं, नित्यम् इन्द्रियनियमं कुर्वन् तिष्ठेद् इति अर्थः.

ननु इन्द्रियाणाम् अन्नाद्यभावेन इन्द्रियविषयेषु[५२] प्रवृत्तिः कथं? कथं न तेषामपि स्थितप्रज्ञता? इति आशङ्क्य आह **विषयाः** इति.

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

निराहारस्य देहिनो विषयाः विनिवर्तन्ते, तत्सत्यम् इति अर्थः. परन्तु **रसवर्जं,** रसो नाम तदनुभवार्थाभिलाषः तद्वर्जं तद्रहितम्[५३] इति अर्थः. 'देहिनः' इति पदेन तेषां देहाध्यासोऽपि न निवर्त्तते इति ज्ञापितम्. अस्य स्थितप्रज्ञस्य रसोऽपि तदभिलाषोऽपि परम् उत्कृष्टं भगवदीयरसं **दृष्ट्वा निवर्त्तते**. एतावद्वैलक्षण्यम् इति भावः।।५९।।

ननु इन्द्रियसंयमनं सर्वेषां कर्तुम् उचितं, स्थितप्रज्ञे को विशेषः? इति चेत् तत्र आह **यततः** इति द्वाभ्याम्.

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

हे कौन्तेय विपश्चित: शास्त्रार्थविदः **पुरुषस्य यततोऽपि** यत्नं कुर्वाणस्यापि **प्रमाथीनि** प्रकर्षेण मथनशीलानि **इन्द्रियाणि प्रसभं** बलात्कारेण **मनो हरन्ति**।।६०।।

अतः **तानि सर्वाणि संयम्य** स्ववशगानि कृत्वा **मत्पर:** अहमेव परो यस्य तादृशो युक्त: मयि **युक्त: आसीत**. एवं यो मत्परः **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**. यस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता तस्य इन्द्रियाणि वशे भवन्ति; न अन्यस्य इति अर्थ:. प्रमाथित्वाद् इति भाव:. अतएव पूर्वार्द्धे विपश्चितामपि तदसामर्थ्यम् उक्तम्।।६१।।

अथ ''कथं व्रजेत?'' इति अत्र उत्तरम् आह **ध्यायत**ः इति.

ध्यायतो विषयान् पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते काम: कामात् क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

विषयान् ध्यायत: पुंसः तेषु **सङ्ग**ः आसक्ति: स्यात्. आसक्त्या किं स्याद्? इत्यतः आह **सङ्गाद्** इति. **सङ्गात् काम: सञ्जायते, कामाच्च क्रोधो अभिजायते**. अभित: सर्वत: तदयोग्येष्वपि इति अर्थ:।।६२।।

क्रोधाद् भवति सम्मोह: सम्मोहात् स्मृतिविभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।६३।।

क्रोधाच्च सम्मोह: सम्यक्प्रकारेण मोहो विवेकराहित्यम्. **सम्मोहात्** स्मृतेः भगवत्स्मरणस्य **विभ्रम:** विशेषेण भ्रम:. भगवत्स्मरणानन्तरम् अनुस्मरण–भ्रमे[५४] विशेष:. **स्मृतिभ्रंशात्** पूर्वोक्त**बुद्धिनाश: स्यात्. बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**. पुनः तत्साधनप्रवृत्तिराहित्यं नाशे प्रकर्ष:. विषयध्यानसङ्गरहितो व्रज[५५] इति भाव:(?)।।६३।।

समाधिस्थस्य उत्तरम् आह **रागद्वेषवियुक्तै**ः इति.

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति।।६४।।

'तु'शब्दः पूर्वनिरूपणं व्यावर्त्तयति. **विधेयात्मा** विधेयो वशवर्त्ती आत्मा भगवान् यस्य तादृशो **रागद्वेषवियुक्तैः**[५६] **आत्मवश्यैः** स्ववशैः भगवद्वश्यैः वा **इन्द्रियैः विषयान्** भोगान् भगवदिच्छया प्राप्तान् उपयोगं कुर्वन् **प्रसादं** भगवत्प्रसादम् **अधिगच्छति**[५७]. अत्र अयं भावः भगवदिच्छया रसज्ञानार्थं स्वस्वरूप-रसदानेच्छया प्राप्तान् भोगान् आत्मवश्यैः भगवद्रसाभिलाषिभिः तद्रसदानार्थं तद्दत्तान् ज्ञात्वा यावत् कार्यसिद्धिं भुञ्जतो भगवान् प्रसादं करोति. अतएव श्रीभागवते **''बाध्यमानोऽपि''** इति आरभ्य **''विषयैर्नाभिभूयते''** (भाग.पुरा.११।१४।१८) इत्यन्तेन तथैव उक्तम्।।६४।।

प्रसादे किं स्याद्? इति आशङ्क्य आह **प्रसादे** इति.

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

प्रसादे जाते सति अस्य तदनुगृहीतस्य **सर्वदुःखानां हानिः** नाशः स्यात्. 'सर्व'पदेन अलौकिकविप्रयोगादीनामपि नाशो ज्ञापितः तेन संयुक्तएव नित्यं तिष्ठेद् इति भावो व्यञ्जितः. सर्वदुःखहानौ सत्यां किं स्याद्? अतः आह **प्रसन्नचेतसः** इति. दुःखहानौ प्रसन्नं चेतो यस्य तादृशो भवति. ततः तस्य **आशु**[५८] शीघ्रमेव **बुद्धिः पर्यवतिष्ठते**. मयि इति शेषः।।६५।।

ननु समाधिस्थस्यापि स्थितप्रज्ञतैव उक्ता तदा को विशेषः? इति अतः आह **नास्ति बुद्धिः** इति.

नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।

न चाभावयतः शान्तिः अशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

अयुक्तस्य मयि योगरहितस्य **बुद्धिरेव नास्ति**. अयम् अर्थः : बुद्ध्यनन्तरं चेद् मयि योगो न जातः तदा सा स्थितप्रज्ञैव न. तस्मात् समाधिस्थ-भगवत्संयोगाभावे स्थितप्रज्ञापि अकिञ्चित्करीति अर्थः. ननु समाधिस्थयोगेनापि किं फलम्? इति आशङ्क्य आह **नच** इति. **अयुक्तस्य** भगवत्सम्बन्धरहितस्य **भावना** भगवद्रसौपयिकदेहाभिलाषो नच भवति. ननु भावनामात्रेणाऽपि किम्?

अतः आह **नच** इति. **अभावयतः** भावनामकुर्वतः **शान्तिः** भगवद्रसौपयिक-देहावाप्तिः नच भवति. तादृग्देहंविना[५९] साक्षाद् आनन्दानुभवो न भवति इति आह **अशान्तस्य** इति. अशान्तस्य तादृग्देहाप्त्या तापरहितस्य **सुखं** साक्षात्सम्बन्धात्मकभजनानन्दानुभवः **कुतः** स्याद्? इति अर्थः।।६६।।

ननु भावनायाम् आस्थितचेतसोऽपि इन्द्रियनिग्रहः किमर्थं? सतु साधनदशापन्नस्यैव सम्भवति; भावनायुक्तस्यतु सिद्धत्वादेव न प्रयोजनं ज्ञानिनइव इति आशङ्क्य आह **इन्द्रियाणाम्** इति.

इन्द्रियाणां हि चरतां यद् मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावम् इवाम्भसि।।६७।।

चरतां लौकिकेषु स्वेच्छया विहरताम् **इन्द्रियाणां** यस्य इन्द्रियस्य सङ्गे **मनः अनुविधीयते** तत्सङ्गे गच्छति **तत्** तदेव इन्द्रियस्य पुरुषस्य **प्रज्ञां** भावनात्मिकां **हरति**. तत्र दृष्टान्तम् आह **वायुः नावम्** इति. **अम्भसि** जले **नावं** तारणसाधिकां वायुरिव. यथा प्रबलो वायुः अनवस्थितकर्णधारयुक्तां नावं मज्जयति तथा इति भावः।।६७।।

तस्मात् सर्वथा इन्द्रियनिग्रहकर्तुरेव प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति इति आह **तस्माद्** इति.

तस्माद् यस्य महाबाहो! निगृहीतानि सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

यस्माद् इन्द्रियनिग्रहाभावे प्रज्ञा नश्यति **तस्माद् यस्य इन्द्रियार्थेभ्यो** विषयेभ्यः **इन्द्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** भवति इति अर्थः. **'महाबाहो'** इति सम्बोधनेन तथाकरणसामर्थ्यं ज्ञापितम्।।६८।।

ननु एतादृशेन्द्रियनिग्रहकृत् किंलक्षणः? इति अपेक्षायाम् आह **या निशा** इति.

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

सर्वभूतानां या निशा रात्रौ निद्रायामिव विषयसुखेषु सर्वेषां या निशा सुखावाप्तिः. नितरां [६०]शं सुखावाप्तिः. नितरां शं सुखं यस्याम् इति निशा. **तस्यां संयमी** इन्द्रियनिग्रहकर्त्ता **जागर्ति** न सुखम् अवाप्नोति इति अर्थः. **यस्यां** निशायाः **भूतानि जाग्रति** न सुखं प्राप्नुवन्ति **सा** भगवत्सुखं **पश्यतो मुनेः**[६१] मननशीलस्य निशा सुखाप्तिः. तत्सुखस्य कथनायोग्यत्वाद् 'मुनेः' इति विशेषणम् उक्तम्।।६९।।

ननु [६२]अलौकिकविषयाणां दर्शनाद्यभावात् कथं प्राप्तिः? इत्यतः आह **आपूर्यमाणम्** इति.

आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी।।७०।।

नानानदीभिः **आपूर्यमाणम**पि **अचलप्रतिष्ठं** वर्द्धनादिविकाररहितं **समुद्रं यद्वद् आपः प्रविशन्ति तद्वद्** अनेकस्त्रीभिः कामरसे प्रवर्त्यमानं यं भगवन्तं कामाः[६३] **सर्वे** स्वमनोरथाः स्वार्थं **प्रविशन्ति तं**[३] यो जानाति सः **शान्तिं** कामानां शान्तिं परमसुखम् **आप्नोति**. अतएव श्रीभागवते **''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः''**(भाग.पुरा.१०।३२।१३) इति उक्तम्. **न कामकामी,** यस्तु लौकिककामभोगशीलः सः न प्राप्नोति इति अर्थः. यद्वा **यं सर्वे कामाः** पूर्वोक्तप्रकारेण **प्रविशन्ति** तम् यो अदृष्ट्वापि कामयते तदर्थं वा **सः शान्तिं** परमानन्दम् **आप्नोति,** नतु स्वार्थं कामाभिलाषी इति भावः।।७०।।

यतो लौकिककामाभिलाषी न शान्तिं प्राप्नोति अतः तां त्यजेद् इति आह[६४] **विहाय** इति.

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिम् अधिगच्छति।।७१।।

यो दुर्लभः **पुमान्** भगवद्भावनैकयोग्यः **सर्वान् कामान् विहाय निःस्पृहः** भगवदेकपरः **चरति** सर्वत्र वैकल्येन परिभ्रमति **निर्ममो** देहादिषु **निरहङ्कारो** भवति, **सः शान्तिम् अधिगच्छति** प्राप्नोति।।७१।।

उपसंहरति **एषा** इति.

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।

स्थित्वाऽस्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

एषा ब्राह्मी ब्रह्मनिष्ठस्य **स्थितिः**. **एनां प्राप्य न विमुह्यति** मोहं न प्राप्नोति. **अन्तकाले** क्षणमपि **अस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं** पुरुषोत्तममुक्तिं प्राप्नोति. गीतायाश्च उपनिषद्रूपत्वाद् अत्र 'ब्रह्म'पदं पुरुषोत्तमवाचकमेव. आजन्मस्थितौतु किं वक्तव्यम्? इति भावः।।७२।।

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां द्वितीयो अध्यायः।।२।।

पाठभेदाः

१.''युद्धोत्साहसमसमयो'' इति मां.पाठः.
२.''इति आह हे पार्थ'' इति मुद्रितपाठः.
३.''अक्षुद्रे तस्मात् हे परन्तप'' इति मां.पाठः.
४.''इषुभिः बाणैः'' इति मां.पाठः.
५.''यद् वयं तान्'' इति मुद्रितपाठः.
६. 'प्रमुखे' इति मुद्रितपाठः.
७.''उपहतः स्वभावः'' इति मुद्रितपाठः.
८.''तथा इन्द्रियप्रेरकम्'' इति मुद्रितपाठः.
९.''प्रहसन्निव उभयोः'' इति मुद्रितपाठः.
१०.''वदतीति वि...'' इति मां.पाठः.
११.'सम्बोधने' इति मुद्रितपाठः.
१२-१३. 'मम' ''जीवितः जीवितां तेषां'' इति मां.पाठौ. ३.''एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत, एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते'' इति प्रसिद्धपाठः.
१४. ''तत्रस्थसुखदुःखादिकम्''इति मुद्रितपाठः.

१५.‘यस्मै’ इति मां.पाठः.

१६.‘‘दृष्टः, आन्तं फलं’’इति मां.पाठः.

१७.‘भिन्नत्वज्ञानार्थमेव’इति मुद्रितपाठः.

१८.‘‘भगवदंशत्वे कथं हननम् अतः आह **यः एनम्**’’ इति मुद्रितपाठः.

१९.‘‘विजानीतो. अयं न हन्ति’’ इति मुद्रितपाठः.

२०-२१.‘मत्क्रीडार्थसृष्टौ’, ‘नातिभ्रमजन्योपि’ इति मुद्रितपाठौ.

२२-२३. ‘शुष्कधर्माभावात्’, ‘शस्त्रादिप्रक्षेपेऽपि’ इति मुद्रितपाठौ.

२४-२५. ‘‘उक्तः उच्यते वेदैः तद्रूपश्च’’ इति मुद्रितपाठः.

२६. ‘‘तथा सति स्वबाहुबलादिनाशः क्व?’’ इति मुद्रितपाठः.

२७.‘‘भविष्यति. तस्माद्...’’ इति मुद्रितपाठः.

२८.‘अव्यक्तादिरूपम्’ इति मुद्रितपाठः.

२९. ‘जातदेहानि’ इति मुद्रितपाठः.

३०-३१. ‘अवेक्ष्य’ ‘परलोकादिकं च’ इति मुद्रितपाठः.

३२.‘कथनायायोग्यानि वाक्यानि’ इति मुद्रितपाठः.

३३.‘‘तव न ज्ञानं जातम्’’ इति मुद्रितपाठः.

३४.‘वैफल्यम्’ इति मां.पाठः.

३५-३६.‘सर्वे एवमेव’ ‘वेदोक्तव्यतिरिक्तम्’ इति मुद्रितपाठौ.

३७.‘मोक्षरूपम्’ इति मुद्रितपाठः.

३८.‘वैयग्र्याभावाभावेन’ इति मां. पाठः.

३९-४०.‘फलाभावे’ ‘‘निर्गतानि द्वन्द्वानि’’ इति मुद्रितपाठौ.

४१-४२.‘योगः’, ‘‘समत्वे योगः उच्यते’’ इति मुद्रितपाठः.

४३.‘अप्रवृत्तिः’ इति मुद्रितपाठः.

४४.‘‘**कर्मसु कौशलं**. फलानिव मदाज्ञया कर्मकरणं योगः. एतदेव कर्मसु चातुर्यं यत् कृत्वापि भक्तिसाधने प्रवेशनीयं तादृशो अत्र चातुर्यं योगः इति अर्थः. सन्निकृष्टत्वात् मद्दर्शनार्थं मनःस्थिरकरणसाधकत्वात् चातुर्यम्. साक्षाद्भक्त्यनधिकारे साक्षाद् योग उत्तम इति. इदानीं...’’ इति मां.पाठः.

४५. ‘‘वा-यद्वा-श्रुतस्य ...गन्तासि. च पुनः’’ इति मां.पाठः.

४६.‘स्वोच्चारित’ इति मां.पाठः.

४७-४८.‘‘भगवान् पृष्टस्य’’, ‘भवति’ इति मुद्रितपाठौ. ३.‘तदर्थवत्त्वेन’ इति मां पाठः.

४९-५०. ‘भगवदीयत्वे’, ‘निन्दति’ इति मुद्रितपाठौ.

५१.‘भोग्यदर्शने’ इति मां.पाठः.

५२.‘‘ननु दरिद्राणाम् अन्नाद्यभावाद् न इन्द्रियविषयेषु’’ इति मां.पाठः.

५३.‘तद्गृहीतम्’ इति मुद्रितपाठः.

५४–५५.‘‘अनुस्मरणभ्रमो भ्रमे विशेषः’’, ‘व्रजेतेति’ इति मां.पाठौ.
५६–५७.‘रागद्वेषादियुक्तैः’, ‘‘अधिगच्छति. अत्र...’’ इति मुद्रितपाठौ.
५८. ‘अनु’ इति मुद्रितपाठः.
५९.‘तादृग्देहिनः’ इति मुद्रितपाठः.
६०–६१.‘‘नितरां शं सुखं यस्याम्’’, ‘‘पश्यतो मननशीलस्य निशा’’ इति मुद्रितपाठौ.
६२–६३.‘लौकिक’, ‘भगवत्कामाः’, ‘प्रविशन्ति इति यो’’ इति मुद्रितपाठाः.
६४.‘‘अतः तत्त्याजयेद्’’ इति मां.पाठः.

V

कर्मयोगो नाम तृतीयो अध्यायः

योगसाङ्ख्यब्रह्मभावकर्माद्याः मिश्रवाक्यतः[१]।
ससंशयोऽब्रवीत् कृष्णं भक्तिप्राप्तीच्छुरर्जुनः।।

एवं पूर्वाध्याये भगवता बुद्धियोगस्य कर्मणः उत्तमत्वम् उक्तम् इति कर्मोपदेशः किमाशयः? इति संशयाविष्टो अर्जुनः उवाच ज्यायसी चेद् इति.

अर्जुनः उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक **ते कर्मणः** सकाशाद् **बुद्धिः चेद् ज्यायसी** श्रेष्ठा **मता** सम्मता तदा **मां घोरे** अकरणे प्रत्यवाये[२] किञ्चिदपि कर्मलोपादिविफले **कर्मणि किमिति नियोजयसि** प्रवर्त्तयसि? **केशव!** इति सम्बोधनेन दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदातृत्वात् तथा कर्म कारयित्वापि चेद् मोक्षं दातुम् इच्छसि तदा कर्त्तव्यमेव इति भावो व्यञ्जितः।।१।।

किञ्च स्पष्टतया बोधाभावाद् मे बुद्धिः मोहम् अवाप्नोतीति यथा अहं त्वां प्राप्नोमि तत्तथा स्पष्टम् मे ज्ञापय[३] इति आह **व्यामिश्रेणेव** इति.

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन क्वचित् कर्म प्रशंससि क्वचिद् ज्ञानम् इत्यादिरूपसन्देहोत्पादकेन[४] वाक्येन **मे बुद्धिं मोहयसीव**. भगवद्वाक्यन्तु व्यामिश्रं न भवति परन्तु जीवैः न बुध्यते[५] इति 'इव' इत्यनेन ज्ञापितम्. **मोहयसि** इति अत्रापि **'इव'** इति पदेन भगवत्सन्निधौ मोहो अनुचितः इति ज्ञापितम्, तस्मात्[६] कारणाद् यथा मम बुद्धिमोहो अपगच्छति तथा **एकं** श्रेयोरूपं कल्याणरूपं भक्तिप्रतिपादकं वाक्यं **निश्चित्य** मयि दानेच्छां कृत्वा **वद येन अहं** त्वाम् आप्नुयां प्राप्नोमि इति अर्थः. पूर्वोक्तव्यामिश्रवाक्यमध्ये न एकस्यापि श्रेयोरूपत्वं, मोहकत्वात्. सर्वथा भगवत्प्रापक-श्रेयोरूपत्वं भक्तेरेव. अतएव श्रीभागवते

''तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य'' इत्यारभ्य **''श्रेयो भवेदिह''** (भाग.पुरा.११।२०।३१) इत्यन्तं सर्वेषां न श्रेयोरूपत्वम् उक्तम्. अत: पूर्वोक्तमध्ये **एकं निश्चित्य वद** इति व्याख्यानं न साधु।।२।।

एवम् अर्जुनस्य मोहापगमार्थं प्रश्नोत्तरम् आह कृष्ण: **लोके अस्मिन्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ!।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

हे अनघ! निष्पाप मद्वाक्यश्रवणयोग्य **मया अस्मिन् लोके** प्रवृत्तिनिष्ठे **द्विविधा निष्ठा पुरा** पूर्वं तव अग्रे भक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थं **प्रोक्ता,** नतु त्वदर्थम् इति भाव:. द्विविधत्वमेव स्पष्टयति **ज्ञानयोगेन** इति. **साङ्ख्यानां ज्ञानयोगेन** साङ्ख्यानां सर्वत्र भगवदात्मत्वज्ञानवतां[७] ज्ञानयोगेन ब्रह्मनिष्ठा उक्ता. **योगिनां** योगेन भगवदुपासकानां **कर्मयोगेन** ब्रह्मनिष्ठा उक्ता. तयो: स्वरूपज्ञानार्थं निष्ठाद्वयम् उक्तं, नतु त्वदर्थम् इति अर्थ:।।३।।

ननु एवं चेत् तदा मां प्रति कर्मकरणं किम् आशयेन आज्ञप्तम्? इति अतः आह **न कर्मणाम्** इति.

न कर्मणाम् अनारम्भाद् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

कर्मणाम् अनारम्भाद् अकरणाद् **नैष्कर्म्यं** कर्मादिरहितभावं भक्तिरूपं **न अश्नुते** न प्राप्नोति इति अर्थ:. अत्र अयं भाव: **:** कर्मस्वरूपज्ञानाभावे त्यागे न कोऽपि पुरुषार्थ: सिद्ध्येत्, तस्माद् हेयत्वज्ञानार्थं तत्करणम्[८]. अतएव आरम्भएव उक्त:, नतु आद्यं तत्करणम् उक्तम्. स्वरूपाज्ञाने केवलं त्यागादेव फलं न[९] भवति इति आह **नच** इति. **सन्न्यसनादेव** स्वरूपाज्ञानात् केवलत्यागेन **सिद्धिं** त्यागफलं **नच समधिगच्छति** सम्यक् न प्राप्नोति इति अर्थ:।।४।।

अज्ञात्वा कर्मकरणे तत्त्यागोऽपि न भवति, ज्ञात्वा अज्ञात्वा वा कर्मतु

करोत्येव इति आह **न हि** इति.

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कश्चिद् जातु कदाचित् **क्षणमपि अकर्मकृत्** कर्माणि अकुर्वन् **न तिष्ठति**. कुतः? इति अतः आह **सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः** सात्त्विकादिभिः **कर्म कार्यते** कर्मणि प्रवर्त्यते[१०]. तत्र कारणम् आह **ह्यवशः** इति. **हि** इति निश्चयेन. **अवशः** न मद्वशो भक्तः इति अर्थः. अतः तदारम्भात् स्वरूपज्ञानानन्तरं प्राकृतकार्यतां तेषु ज्ञात्वा मद्वशो भूत्वा त्यजेद् इति भावः।।५।।

अज्ञानात् कर्मत्यागी दाम्भिको न त्यागफलम्[११] आप्नोति इति आह **कर्मेन्द्रियाणि** इति.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

कर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि **संयम्य** निरुध्य, **मनसा इन्द्रियार्थान्** विषयान् **स्मरन् यः आस्ते** तिष्ठति भगवद्ध्यानदशापन्नइव लोकज्ञापनार्थं, **सः विमूढात्मा मिथ्याचारः** मिथ्या आचरति इति दाम्भिकः **उच्यते** इति अर्थः।।६।।

स्वरूपज्ञानेन त्यागी उत्तमः, तत्त्यागस्वरूपं तस्य उत्तमत्वम् आह **यस्तु** इति.

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन!।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् असक्तः स विशिष्यते।।७।।

‘**तु**’शब्दो लौकिकार्थनिग्रहपक्षं व्यावर्तयति. **यः इन्द्रियाणि मनसा नियम्य** मनसा मदर्थं नियमे स्थापयित्वा **कर्मेन्द्रियैः** वाक्चक्षुः हस्तादिभिः कर्मणां कृतीनां योगं मया सह योगम् यः **असक्तः**[१२] स्वसुखाभिलाषाभावेन मत्सुखार्थमेव **आरभते सः विशिष्यते** विशिष्टो भवति, उत्तमो भवति इति अर्थः।।७।।

यस्माद् लौकिकफलाद्यर्थकर्मकर्त्तुः[१३] न फलम् अलौकिकं मदर्थं कर्मकर्तुः

उत्तमं फलम् अतः त्वं मदर्थं नियतं कर्म कुरु इति आह **नियतम्** इति.

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

त्वं नियतं नित्यं मत्सेवादिरूपं **कर्म कुरु**. पूर्वोक्तन्यायेन मदर्थं वा. यतो **अकर्मणः** [१४]केवलकर्मत्यागकर्तुः ज्ञानवतः सकाशात् **कर्म** मत्सेवादिरूपं **ज्यायः** अधिकतरम्. किञ्च **ते** मदर्थं मत्क्रीडार्थं [१५]गृहीतशरीरस्य **शरीरयात्रा** गृहीत-शरीरकार्यम्. **अकर्मणः** सेवादिरहितज्ञानमार्गे प्रपन्नस्य प्रकर्षेण **न सिद्ध्येद्** न सेत्स्यति इति अर्थः. ज्ञानमार्गेऽपि ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तं शरीरापेक्षा अस्ति, तदनन्तरन्तु न अपेक्षा भक्तिमार्गवद् "**अक्षण्वतां फलमिदम्**"(भाग.पुरा.१०।२१।७) इतिन्यायेन. तस्मात् सर्वात्मना सेन्द्रियशरीरकार्यसिद्धौ प्रकर्षः इति भावः. अतएव वियोगक्लेशादि-रससिद्ध्यर्थं '**शरीर**'पदम् उक्तम्।।८।।

ननु एवं चेत् तदा कर्माकरणं पूर्वं कथम् उक्तम्? इति आशङ्क्य आह **यज्ञार्थाद्** इति.

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

अन्यत्र मत्सेवातो अन्यत्र कर्ममार्गे **कर्मबन्धनः** कर्मनिबन्धनो **अयं** लोकः. "**कर्मणो यज्ञार्थाद्**" इति उक्त्वा "कर्म कार्यम्" इति आहुः ततः तत्कर्म न मत्फलकम् इति मया बन्धकत्वात् तत्यागः उक्तः, यतः तत्कर्म बन्धकम् अतः तत् त्यक्त्वा कर्म कुरु इति आह **तदर्थम्** इति. **तदर्थं** यज्ञार्थं **मुक्तसङ्गः** सन् **कर्म** मत्सेवारूपं **समाचर** सम्यक्प्रकारेण कुरु।।९।।

ननु तादृशं कर्म त्याज्यमेव चेत् त्वन्मतं तदा केन उक्तम्? कथम् आचरति लोकः? इति आशङ्क्य एतत्कर्म प्रवृत्तिपरं मदाज्ञया प्रवृत्तिप्रवर्त्तक-ब्रह्मणा उक्तं लोकः समाचरति इति आह **सहयज्ञाः** इति.

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

प्रजापतिः ब्रह्मा **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा** प्रवृत्तिधर्मसहिताः प्रजाः सृष्ट्वा **पुरा** मदवतारात् पूर्वम् **उवाच**. मत्प्रादुर्भावानन्तरन्तु[१६] मया भक्तिरेव उक्ता इति ज्ञापनाय 'पुरा' इति उक्तम्. तद्वाक्यमेव आह **अनेन** इति. **अनेन** यज्ञेन **प्रसविष्यध्वं** प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्स्यथ. किञ्च **एषः** यज्ञः **वो** युष्माकं **इष्टकामधुग्** अभीष्टफलदो **अस्तु** भवतु[१७], भगवदाज्ञया ब्रह्मवाक्यं न मृषा भवति इति वरमेव दत्तवान्।।१०।।

ननु कर्मणो जडत्वात् [१८]कथम् अभीष्टदत्वम्? इति आशङ्क्य आह **देवान्** इति.

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ।।११।।

अनेन यज्ञेन **देवान्** तत्तत्कर्माधिष्ठातॄन् **भावयत** संवर्द्धयत. **ते देवाः वो** युष्मान् **भावयन्तु** संवर्द्धयन्तु. अत्र अयम् अर्थः हविर्भागैः तेषु यूयं देवत्वं वर्द्धयन्तु ते च भवत्सु तत्कर्मसाधनानि वर्द्धयन्तु. एवं **परस्परं भावयन्तः** संवर्धयन्तो यूयं देवाश्च **श्रेयः** स्वाभीष्टम् **अवाप्स्यथ** [१९]प्राप्स्यथ **परम्** उत्कृष्टम्।।११।।

ननु श्रेयसो अनेकरूपत्वात् किंल्लक्षणा श्रेयाप्तिः[२०] भविष्यति? इति आह **इष्टान्** इति

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

वो युष्मभ्यं **यज्ञभाविताः देवाः इष्टान् भोगान्** वृष्ट्यादिकरणेन अन्नादीन्[२१] **दास्यन्ते**. यद्वा **वो** युष्मभ्यं **इष्टान्** यदेव इष्टं भवताम्. भगवत्सेवौपयिकबलाद्यर्थकान्नादिसम्पत्त्यर्थं वृष्ट्यादिकं करिष्यन्ति इति अर्थः. ननु तैरेव अन्नं देयं चेत् तदा तेभ्यः किम् [२२]अस्य यागकरणेन? इति अतः आह **तैः** इति. **तैः दत्तान्** अन्नादीन् **एभ्यः** तद्दातृभ्यो **अप्रदाय** अदत्त्वा **यो भुङ्क्ते** भोगं करोति **सः स्तेनएव** चोरएव इति अर्थः।।१२।।

ननु पूर्वं यजनव्यतिरेकेण यथा दत्तं तथैव अग्रेऽपि दास्यन्तएव[२३], अतः किं यजनेन? इत्यतः आह **यज्ञशिष्टाशिनः** इति.

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

सन्तः पूर्वदत्तस्वरूपाभिज्ञाः **यज्ञशिष्टाशिनो** भूत्वा **सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते**. अत्र अयं भावः **:** वृष्ट्यादिना पूर्वम् अन्नादिरसोत्पत्तिस्तु भगवद्भोगार्थं तेन स्वभोगकरणं पापरूपम्. अतो ये **सन्तो** भक्ताः तदुत्पत्तिप्रयोजनज्ञातारो भगवदर्थं पाकादिकं कृत्वा भगवते तत्सर्वं समर्प्य तदुपभुक्तावशिष्टभोजिनः ते सर्वपापैः सेवाप्रतिबन्धरूपैः मुच्यन्ते. **ये तु पापाः** पापरूपाः **आत्मकारणात् पचन्ति** पाकादिक्रियां कुर्वन्ति **तेतु अघं** पापमेव **भुञ्जते**।।१३।।

ननु रसरूपस्य भगवतो अन्नादेव केवलात् कथं भोगः सेत्स्यति? इत्यतः आह **अन्नाद्** इति.

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवः।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

अन्नाद् भूतानि सजीवशरीराणि **भवन्ति,** तैः भगवद्भोगः सम्यक् सिद्ध्यति. ननु अन्नादेव भूतोत्पत्तिः चेत् तदा वृष्ट्यादेः किं प्रयोजनम्? इत्यतः आह **पर्जन्याद्** इति. **पर्जन्याद् अन्नस्य सम्भवः** उत्पत्तिः भवति इति अर्थः. ननु पर्जन्यः चेद् अन्नोत्पादकः तदा किं यज्ञेन? इत्यतः आह **यज्ञाद्** इति. **यज्ञाद्** भगवदर्थात् **पर्जन्यो भवति**. ननु भगवदात्मकत्वमेव यज्ञस्य चेत् तदा अन्यदेवाद्यर्थं कर्मकरणोपदेशः कथम्? इत्यतः आह **यज्ञः** इति. यज्ञात्मक-भगवद्रूपं कर्मणा सम्यग् उपपद्यते. अयम् अर्थः **:** भगवदंशत्वेन भगवद्विभूतित्वेन कर्मकरणाद् यज्ञात्मकभगवत्प्राकट्यम् इति अर्थः।।१४।।

ननु देवानां विभूतिरूपत्वेऽपि साक्षात्पुरुषोत्तमभजनाभावाद् अनुचितमेव इति आशङ्क्य आह **कर्म** इति.

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं ब्रह्मणः सकाशाद् उद्भवं प्रकटं जानीहि. अत्र अयं भावः **:** वेदात् कर्मोत्पत्तिः, सच ब्रह्मनिश्वासः तेन तथा. ब्रह्मणः पुरुषोत्तमत्वज्ञापनार्थं विशिनष्टि **अक्षरसमुद्भवम्** इति. तद् ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्; अक्षरस्य(रात्!) समुद्भवो यस्मात्(यस्य!) तादृशम्. अक्षरस्य पुरुषोत्तमचरणात्मकत्वात् तथा. **तस्मात्** कारणात् **सर्वगतं** सर्वव्यापकं सर्वरूपं **नित्यं** यद् **ब्रह्म** तदेव **यज्ञे प्रतिष्ठितम्**. तेन न पूर्वोक्तदोषसम्भावना इति भावः।।१५।।

एवं भगवदात्मकं कर्म यो न करोति तस्य व्यर्थं जीवनम् इति आह **एवम्** इति.

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

एवं प्रकारेण **प्रवर्तितं चक्रं** स्वतः प्रवृत्तं मदिच्छया मत्क्रीडार्थं प्रवृत्तं यो **न अनुवर्तयति** न अनुतिष्ठति **सः अघायुः** पापायुः पापमेव आयुः यस्य तादृशः. **इन्द्रियारामः** इन्द्रियेष्वेव इन्द्रियार्थं वा आरमति, नतु मदर्थं मयि वा, अतो **मोघं** व्यर्थं **सः जीवति**. **पार्थ!** इति सम्बोधनात् स्वभक्तत्वात् तव तथा ज्ञानम् अनुचितम् इति ज्ञापितम्।।१६।।

ननु एवं चेत् तदा सर्वएव त्वद्भक्ताः कथं न कुर्वन्ति? इत्यतः आह द्वयेन **यस्तु आत्मरतिरेव** इति.

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

यस्तु आत्मरतिरेव आत्मनि मय्येव रतिः यस्य तादृशः स्यात्, यश्च **आत्मतृप्तश्च** भगवदानन्देन तृप्तः सुखितः[२४], आत्मन्येव भगवत्येव सन्तुष्टः,

स्वभोगापेक्षारहितः, **तस्य कार्यं** कर्त्तव्यं **न विद्यते** नास्ति इति अर्थः।।१७।।

तस्य तादृशस्य भक्तस्य **कृतेना**पि कर्मणा **अर्थः** प्रयोजनं पुण्यादिरूपं नास्ति इति अर्थः. **अकृतेन च कश्चन** प्रत्यवायः पापादिकं[२५] च नास्ति इति अर्थः. **अस्य** भक्तस्य सर्वभूतेषु देवादिषु अर्थार्थं मोक्षभक्त्याद्यर्थं च **व्यपाश्रयः** आश्रयो नास्ति इति अर्थः।।१८।।

यतो भक्तानां कर्मादिकरणे अकरणे वा न कोऽपि पुरुषार्थो हानिः वा अस्ति अतः त्वमपि मदाज्ञारूपत्वेन अवश्यकर्त्तव्यात्वात् कर्म कुरु इति आह **तस्माद्** इति.

तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

यस्माद् भगवद्भक्तानां कर्मकरणे न फलम्, अकरणे च न प्रत्यवायः, **तस्मात्** तेषु **असक्तो** अनासक्तः सन् **सततं कार्यं** नित्यकर्म **समाचर** कुरु. ननु अनासक्तेनापि कृतं कर्म बाधकं भवत्येव इति चेद् अतः आह **असक्त**ः इति. पुरुषः पुरुषांशो मोक्षाधिकारी[२६]. **हि** इति निश्चयेन. असक्तः नतु कापट्येन, **कर्म आचरन् परं** मोक्षं प्राप्नोति इति अर्थः।।१९।।

एवम् अनासक्ताः कर्मकर्तारो मोक्षं प्राप्ताः इति आह **कर्मणैव** इति.

कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।।२०।।

हि इति निश्चयेन **कर्मणा** अनासक्तकर्मणा **जनकादयः संसिद्धिं** मुक्तिम् **आस्थिताः** प्राप्तवन्तः. जनकादयस्तु न साक्षात् त्वां प्रपन्नाः इति अनासक्त्यापि तेषां करणं युक्तम्. नतु मम त्वां प्रपन्नस्य उचितम् इति आशङ्क्य आह **लोकसङ्ग्रहम्** इति. लोकसङ्ग्रहमपि **सम्पश्यन् कर्तुमेव अर्हसि**. अत्र अयं भावः **:** यद्यपि मद्भक्तस्य न आवश्यकं तथापि मदाज्ञया लोकसङ्ग्रहार्थं कर्तुमेव अर्हसि; नतु तज्जनितसिद्ध्यर्थम्. अयमेव अर्थः '**एव**'कारेण विविच्यते।।२०।।

ननु लोकसङ्ग्रहोऽपि भक्तानाम् अनुचितएव इत्यतः आह **यद् यद्** इति.

यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस् तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठो मद्भक्तो **यद् यद् आदाचरति तदेव इतरो जनः आचरति**. सः मद्भक्तो **यदेव प्रमाणं कुरुते, लोकः तदेव अनुवर्तते** प्रमाणत्वेन अङ्गीकुरुते. अयं भावः **:** भक्तानां लोकसङ्ग्रहो मदाज्ञया कर्त्तव्यः, यतः तदाचरणं दृष्ट्वा लोकोऽपि तथैव कुर्यात्, तत्स्वरूपाज्ञानेऽपि तदा अनधिकारित्वात्; फलन्तु न स्यादेव; फलदाने च मदिच्छा न. यतो भक्तिः परमकृपया कस्मैचिदेव दीयते, न सर्वेभ्यः. सर्वेभ्यो दाने सृष्टिरेव उच्छिद्येत. अतः एतद्गोपनेन[२७] सृष्टिप्रवृत्त्यर्थं बाह्यतः कापट्येन कर्म कर्तव्यम् इति भावः।।२१।।

मयापि तथैव क्रियते इति आह न **मे पार्थ!** इति.

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।

नानवाप्तम् अवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

हे पार्थ परमानुगृहीत **मे त्रिषु लोकेषु किञ्चन कर्त्तव्यं नास्ति, न वा अनवाप्तं अवाप्तव्यं**; तथापि लोकसङ्ग्रहार्थम् अहं कर्मणि **वर्त्ते** कर्म करोमि इति अर्थः।।२२।।

ननु त्वदकरणे किं स्याद्? इत्यतः आह **यदि** इति.

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

अहं जातु कदाचिदपि **कर्मणि अतन्द्रितो** निरालस्यः सन् **न वर्तेयं** न प्रवृत्तो भवामि तदा **मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म** भक्तिमार्गम् **अनुवर्त्तन्ते** [२८]प्रवर्तन्ते इति अर्थः. अतः तेषां ततो निवृत्त्यर्थं कर्ममार्गप्रवृत्त्यर्थं कर्म करोमि इति भावः।।२३।।

ननु तथा तत्करणं किम्प्रयोजनकम्? इत्यतः आह **उत्सीदेयुः** इति.

उत्सीदेयुर् इमे लोका न कुर्यां कर्म चेद् अहम्।

सङ्करस्य च कर्ता स्याम् उपहन्याम् इमाः प्रजाः।।२४।।

अहं **चेत् कर्म न कुर्यां** तदा **इमे लोकाः उत्सीदेयुः**. अत्र अयं भावः, सर्वेषां भक्तिप्रवृत्तौ सत्यां भगवत्साक्षात्कारो मुक्तिः वा स्यात् तदा इमे भ्वादयो[२९] लोकाः सृष्ट्यभावाद् उच्छिन्ना भवेयुः. अतएव भगवता वृषभध्वजे आज्ञप्तं पाद्मे **''त्वं च रुद्र महाबाहो''**(पद्मपुरा.६।२६३।२४) इत्यारभ्य **''सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा''** (पद्मपुरा.६।२६३।१०७) इत्यन्तम्. च पुनः **इमाः प्रजाः उपहन्यां** तदा अहमेव **सङ्करस्य** नरकसाधनस्य **कर्त्ता स्यां** भवामि. अयम् अर्थः **:** मदाज्ञया ब्रह्मादयः प्रजाः सृजन्ति, ताः चेद् अहम् **उपहन्यां** तदननुकूलो भवामि, तदा **सङ्करस्य** क्लिष्टस्य **कर्त्ता स्यां**; प्रजानां च[३०] मदिच्छाव्यतिरेकेण भक्तिस्वरूपाज्ञाने सति तत्र[३१] प्रवृत्तौ सङ्करत्त्वं स्यात्; फलाभावे भक्तफलव्यभिचारोऽपि स्यात्, तदापि तत्कर्त्ता अहमेव स्याम्।।२४।।

अतः तत्स्वरूपज्ञानेन लोकसङ्ग्रहार्थं कर्मसु अनासक्तं[३२] कर्म कुर्याद् इति आह **सक्ताः** इति.

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत!।

कुर्याद् विद्विद्वांस्तथाऽसक्तः

चिश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्।।२५।।

यथा अविद्वांसो मूर्खाः **कर्मणि सक्ताः** तत्फलाभिलाषिणो विषयादीन् न त्यक्तुं समर्थाः **कर्म कुर्वन्ति तथा विद्वान्** पण्डितो मत्स्वरूपज्ञः **लोकसङ्ग्रहं चिर्कीषुः** कर्तुम् इच्छुः **असक्तः** तत्र आसक्तिरहितो मदाज्ञया कुर्याद् इति अर्थः।।२५।।

ननु लोकसङ्ग्रहार्थमेव चेत् कर्म कर्त्तव्यं, तदा यथाकथञ्चित् कर्त्तव्यम्. यथा ते अज्ञानेन कुर्वन्ति तथा करणं किम्प्रयोजनकम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **न बुद्धिभेदं जनयेद्** इति.

न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।।२६।।

कर्मसङ्गिनां बुद्धिभेदं न जनयेत्. तथाकरणे तेषां भ्रमो भवेद्; भ्रमे सति कर्म न कुर्युरेव. ननु कर्मणा चित्तशुद्धौ सत्यां कथं भ्रमः इत्यतः आह **अज्ञानाम्** इति. न हि अज्ञाः चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म कुर्वन्ति[33], किन्तु कर्मैव ईश्वरं मन्यमानाः फलरूपेण अन्यं पण्डितं कर्म कुर्वाणं वीक्ष्य कुर्वन्ति, अतएव **कर्मसङ्गिनाम्** इति उक्तं; नतु कर्मिणाम्. **विद्वान् युक्तो** मां हृदि स्थाप्य मद्युक्तः स्वयं **समाचरन्** सम्यग् आचरन् मत्सेवादि कुर्वन् अन्येषां प्रवृत्त्यर्थं **सर्वकर्माणि**[34] अन्यान् अज्ञान् **जोषयेत्** कर्म कारयेद् इति अर्थः।।२६।।

ननु विद्वानपि चेत् तथा कुर्यात् तदा अविदुषः सकाशात् को भेदः? तज्ज्ञानस्य च क्व उपयोगः? सम्पूर्णे काले कर्मव्यावृत्त्या सेवाद्यनवसराद् इत्यतो अविदुषो विदुषश्च भेदम् आह **प्रकृते**ः इति.

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहम् इति मन्यते।।२७।।

अहङ्कारेण **विमूढात्मा** अविद्वान् **सर्वशः** सर्वत्र[35] **प्रकृते**ः **गुणै**ः इन्द्रियैः **क्रियमाणानि कर्माणि ''अहमेव कर्ता'' इति मन्यते**; नतु भगवदिच्छाम्. तानि च भगवान् लोकव्यामोहार्थं कारयति।।२७।।

एवम् अविदुषः स्वरूपम् उक्त्वा विद्वत्स्वरूपम् आह **तत्त्वविद्** इति.

तत्त्ववित्तु महाबाहो! गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

हे महाबाहो! ज्ञात्वा क्रियाकरणसमर्थ क्रियावान् **गुणकर्मविभागयो**ः **तत्त्ववित् गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा कर्मसु न सज्जते**. अत्र अयं भावः गुणास्तु भगवता सात्त्विकादिभावभिन्न-विचित्रस्वरसभोगार्थं प्रकटीकृताः. अतएव व्रजविलासिनीषु सात्त्विकादिगुणाः निरूपिताः श्रीभागवते. कर्मतु लोकसङ्ग्रहार्थं कार्यते. तथाच एतद्विभागतत्त्वविद् गुणाः जीवस्थाः गुणेषु भगवद्गुणेषु वर्त्तन्ते प्रभुः स्वरसभोगार्थं गुणभावैः तदुपयोगिकर्माणि कारयति. अन्यानि कर्माणितु

लोकार्थं कारयति **इति मत्वा** मूढवदेव अहमेव कर्ता तत्फलं मम भविष्यति इति **न सज्जते** इति भावः।।२८।।

ननु ते अज्ञात्वा तथा कुर्वन्ति इति तान् शिक्षयेत्, नतु पुनः तथैव प्रेरयेद् इति अतः आह **प्रकृते**ः इति.

प्रकृतेर् गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।

तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन् न विचालयेत्।।२९।।

प्रकृतेः गुणैः **सम्मूढाः** कर्मफलाभिलाषिणो **गुणकर्मसु** देहधर्मेषु फलार्थं **सज्जन्ते** आसक्ताः भवन्ति. यतो **अकृत्स्नविदः** भगवत्प्राप्तिरूपम् अशेषं[३६] फलरूपं न जानन्ति. कर्मफलं लौकिकसुखं फलरूपं जानन्ति इति अर्थः. यतः ते तत्र आसक्ताः तेन ततो न मनो भगवति संविशेद् अतः **तान् मन्दान्** मूर्खान् [३७]दुष्टफलासक्तचित्तान् **कृत्स्नविद्** भगवत्प्राप्तिरूपाशेषानन्दविद् **न विचालयेद्** भगवन्मार्गे न प्रेरयेत्. ततोऽपि वा न चालयेत्. दुष्टसङ्गात् स्वस्य [३८]अन्यथाभावं नयेद् इति भावः।।२९।।

ननु तेषां कर्मकारणार्थं स्वस्य कर्मकरणे यावत्कालो गच्छति तावत्कालव्यर्थीभावापराधः स्वस्य स्याद् इति अतः आह **मयि सर्वाणि** इति.

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्नस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर् निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः।।३०।।

मयि सन्न्यस्य आधिदैविकभावेन सर्वं त्यक्त्वा **अध्यात्मचेतसा** अध्यात्मभावेन मदाज्ञारूपेण **सर्वाणि कर्माणि** कुरु इति अर्थः. मदाज्ञया करणे कालव्यर्थता न भविष्यति इति भावः. ‘सर्व’पदेन लौकिककार्याण्यपि कुरु इति अर्थः. लौकिककर्मकरणमेव आह **निराशी**ः इति. **निराशी**ः युद्धजस्वर्गादि-फलानभीप्सुः **निर्ममः** राज्यादिप्राप्तिभावरहितः[३९], स्वीयेषु परेषु च भ्रातृगुर्वा-दिबुद्धिरहितो **विगतज्वरो** लौकिकतापरहितो मदाज्ञया **युद्ध्यस्व** युद्धं कुरु इति अर्थः. त्वाम् उद्दिश्यतु क्षात्रं कर्म युद्धरूपं मया उच्यते, नतु पूर्वोक्तम् अन्यत् कर्म. अतो युद्धमेव कुरु इति अर्थः।।३०।।

अर्जुनार्थं चेद् भगवता उक्तं स्यात् तदा अर्जुनस्य तत्रैव आसक्तिः स्यात् तदा अग्रे पुष्टिरूपसर्वत्यागोपदेशो अनुपपन्नः स्यात्, अर्जुनस्याऽपि अन्यत्र अनधिकाराद् भगवदुक्तेषु धर्मेष्वपि न प्रवृत्तिः स्वयोग्योपदेशार्थं पुनः पुनः प्रश्नानेव कृतवान्. ननु तदर्थं न उक्तं चेत् किमर्थं तद् अर्जुनद्वारा[४०] सकलसन्मार्गप्रवृत्त्यर्थम् उक्तम्. तदेव आह परं यो अन्योऽपि एवं कुर्यात् तस्यापि कर्मजो बन्धो न स्याद् इति आहुः **ये मे मतम्** इति.

ये मे मतम् इदं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति मानवाः।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

ये मानवाः सद्धर्मोत्पन्नाः **मे मतम् इदं** पूर्वोक्तं **श्रद्धावन्तो** मदुक्तत्वाद् **अनसूयन्तो** असहिष्णुताहीना **अनुतिष्ठन्ति तेऽपि कर्मभिः** तज्जन्यफलभोगैः **मुच्यन्ते.** मदाज्ञया कृतत्वाद्[४१] मदुक्तिविश्वासतो अन्यकर्माण्यपि मोक्षसाधकान्येव भवन्ति इति अर्थः।।३१।।

ये मदाज्ञारूपत्वं विहाय कर्मैव फलसाधकं फलरूपम् इति ज्ञात्वा कुर्वन्ति ते नश्यन्ति इति आहुः **ये त्वेतद्** इति.

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टान् अचेतसः।।३२।।

येतु एतद् मम **मतम् अभ्यसूयन्तः** कौटिल्येन जानन्तो **न अनुतिष्ठन्ति तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः** शून्यहृदयान् **नष्टान्** नाशं प्राप्तान् **विद्धि** जानीहि. मदाज्ञातिरेकं कर्मकर्त्तारो नश्यन्ति इति भावः।।३२।।

ननु त्वन्मतं विहाय नाशसाधने कथम् अनुवर्त्तन्ते? इति आशङ्क्य आहुः **सदृशम्** इति.

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

ज्ञानवानपि नरः **स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते** करोति. अत्र अयं भावः प्रकृत्यंशो जीवो न भगवदुक्ते प्रवर्तते, तदंशत्वात्. अतएव स्मर्यते **''यो यदंशः स**

तं भजेत्''(   ). मायातु भगवद्दत्तसामर्थ्येन ज्ञानवतोऽपि मोहयति. अतएव मार्कण्डेयपुराणे **''ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलाद् आकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति**''(दुर्गासप्तशत्यां १।५५) इति उक्तम्. ननु सत्सङ्गेन श्रीमद्वाक्येन वा कथं न ते यजन्ति तत्र आहुः **भूतानि प्रकृतिं** स्वाधिष्ठानमेव **यान्ति**. एतदर्थमेव नपुंसकत्वम् उक्तम्. **निग्रहः** सत्सङ्गादीनां **किं करिष्यति?** अकिञ्चित्करेषु इति अर्थः।।३३।।

ननु प्रकृतेः भगवद्दत्तसामर्थ्याद् निग्रहादीनाम् असाधकत्वे पुरुषांश–जीवानाम्[४२] कथं फलसिद्धिः? इति अतः आहुः **इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे** इति.

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

इन्द्रियस्य इन्द्रियाणां जात्यभिप्रायेण एकवचनम्. **इन्द्रियस्यार्थे** रूपादौ **रागद्वेषौ व्यवस्थितौ** नियतभाव्यौ. इष्टे रागो अनिष्टे द्वेषः. अवश्यम् एतौ भाविनौ. **तयोः** इष्टानिष्टयोः रागद्वेषयोः वा **वशं न आगच्छेत्**. यतः **तौ अस्य परिपन्थिनौ** द्वेषिणौ मार्गविच्छेदकौ. अत्र अयम् अर्थः **:** मायायाः स्वीयांशानां[४३] तत्सम्बन्धिनां च मोहनसामर्थ्यं भगवता दत्तम् अतः पुरुषांशो जीवः इन्द्रियादिवशं न आगच्छेत् तदा मोहो न भवेत्. मायायाः स्वसम्बन्धिमोहसामर्थ्यज्ञापनायैव पूर्वं भूतानीति नपुंसकलिङ्गम् उक्तम्. अत्र उपदेशे च **'अस्य'**[४४] इत्यनेन पुल्लिङ्गम् उक्तं विषयादिसङ्गस्य मोहरूपत्वादेव श्रीभागवते **''न तथाऽस्य भवेन् मोहो बन्धश्चात्मप्रसङ्गतः, योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः''** (भाग.पुरा.३।३१।३५) इति उक्तम्।।३४।।

ननु सर्वप्रकारेण भवदुक्तधर्मस्य कठिनत्वेन कथं सिद्धिः? इति आशङ्क्य आहुः **श्रेयान्** इति.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

स्वधर्मो भगवद्धर्मः **विगुणः** अङ्गादिभावरहितः **परधर्माद्** मोहकधर्मात्

स्वनुष्ठितात् सुष्ठुप्रकारेण अनुष्ठितात् सम्पादितात् **श्रेयान्** उत्तमः. यतः पूर्वं विगुणोऽपि भवगद्धर्मो मरणसमये भगवत्स्मारकत्वेन उपयुक्तो भवति, तस्मात् **स्वधर्मे** सति **निधनं** मरणं **श्रेयः**, मोक्षप्रापकम् इति अर्थः. **परधर्मो** मरणसमये पूर्वानुष्ठितः स्वविषयस्मारको भवत्येव, सः तत्क्षणे यमदूतादिदर्शकत्वेन अग्रे च नरकादियातनायां तत्साधकत्वेन च **भयावहः** भयकर्ता इति अर्थः।।३५।।

अथ पुरुषांशानाम् अधिष्ठातातु भगवान् सच एवम् उपदिशति. माया केचन मोहयितुं शक्ता तदा केन विनियुक्तः[४५] सन् अयं पापाचरणे प्रवर्तते इति अर्जुनो जिज्ञासुः विज्ञापयति अर्जुनः उवाच **अथ केन** इति.

अर्जुनः उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

अयं पुरुषः पुरुषसम्बन्धित्वाद् **अनिच्छन्नपि हे वार्ष्णेय** भक्तिधर्म-प्रवृत्त्यर्थं सत्कुलाविर्भूत **बलाद् नियोजितइव** अधिष्ठात्रा प्रेरितइव **केन प्रयुक्तः पापं चरति** पापगतियुक्तो भवति? तत्फलभोगं च करोति?।।३६।।

एतत्प्रश्नोत्तरम् आह भगवान्.

श्रीभगवान् उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनम् इह वैरिणम्।।३७।।

प्रपञ्चवैचित्र्यार्थप्रकटित-त्रिगुणमध्यस्थ-विक्षिप्तकरणैकस्वभाव-रजोगुणात्मक-भगवदंशमोहितः तत्र प्रवर्त्तते तस्मात् तद्गुणकृतविक्षेपकर्माणि तत्स्वरूपज्ञानपूर्वकं त्यजेद् इति आह **काम एष** इति. लौकिकः **कामः रजोगुणसमुद्भवः** रजोगुणाद् उत्पत्तिः यस्य सः. सर्वेषां द्वेषी शत्रुः. एषएव कामो अवस्थान्तरापन्नः क्रोधो भवति, सोऽपि रजोगुणसमुद्भवः. सः **महाशनो** दुरापूरः. अतएव श्रीभागवते उक्तं ''**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते**''(भाग.पुरा.९।१९।१४). किं पुनः **महापाप्मा**

महापापरूपो भगवद्भजनप्रतिबन्धकः! इह संसारे देहग्रहणानन्तरम् **एनं वैरिणं विद्धि**. **'इह'** इतिपदाद् एतद्देहावसाने सति अलौकिके अयमेव कार्याय भविष्यति इति भावः।।३७।।

यतो अयं वैरी ततो अस्य ज्ञानम् आवर्त्तयति तेन मोहो भवति इति आह **धूमेन** इति त्रयेण.

धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर् यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भः तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

यथा धूमेन वह्निः आव्रियते, मलेन आदर्शः आव्रियते, उल्बेन गर्भाविष्टनेन **गर्भः आवृत्तः, तथा तेन** कामेन **इदं** ज्ञानम् **आवृतम्.** अत्र दृष्टान्तेषु वह्न्यादित्रयनिरूपणस्य अयं भावः **:** पूर्वदृष्टान्तेन भगवत्तापात्मकं ज्ञानं व्यज्यते, द्वितीयेन सेवायोग्य-स्वस्वरूपप्राप्तिरूपं ज्ञानं व्यज्यते, तृतीयेन बीजभावोत्पत्त्यात्मकज्ञानं[४६] व्यज्यते।।३८।।

आवृतं ज्ञानम् एतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय! दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

हे कौन्तेय मूलतो भक्तः मदुपदेशयोग्य **ज्ञानिनो** मदंशत्वेन स्वस्वरूपज्ञानवतो **नित्यवैरिणा** तेन कामेन **ज्ञानम् आवृतं**, च पुनः **अनलेन** रसपाचकेन उदरस्थेन तेनापि कामवृद्धिः भवति इति कामरूपेण ज्ञानम् आवृतम्. कीदृशेन अनलेन? **दुष्पूरेण** दुःखेन पूरणं यस्य सः. अतएव **''जितं सर्वं जिते रसे''** इतिवचनम्. कामस्यैव वा विशेषणम्।।३९।।

सः कामः कुत्र तिष्ठति इति जिज्ञासार्थम् आहुः **इन्द्रियाणि** इति.

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानम् आवृत्य देहिनम्।।४०।।

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि **मनो** अन्तःकरणं **बुद्धिः** ज्ञानम् **अस्य** कामस्य **अधिष्ठानं** स्थानम् **उच्यते** कथ्यते. **एतैः** करणभूतैः **ज्ञानम् आवृत्य एषः** कामो

देहिनं विशेषेण **मोहयति**. स्वयन्तु मोहयत्येव, पुनः एतैः स्वाश्रयभूतैः सहितो अधिकं मोहयति इति उपसर्गेण व्यज्यते।।४०।।

एतैः अङ्गभूतैः सः मोहयति शत्रुः तम् एतन्निरोधेन जहि इति आह **तस्माद्** इति.

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

यस्माद् इन्द्रियैः अयं मोहयति **तस्माद् आदौ त्वम् इन्द्रियाणि** तद्विषयेभ्यो **नियम्य** स्ववशे स्थापयित्वा **हे भरतर्षभ!** एतन्नियमनसमर्थ **ज्ञानविज्ञाननाशनं,** शास्त्रीयं भक्तिरूपं ज्ञानं, विज्ञानं स्वरूपानुभवः तयोः नाशकर्त्तारं पाप्मानं पापरूपम् **एनम्** इदानीमपि मत्स्वरूपानुभवे विघ्नकर्त्तारं **प्रजहि** प्रकर्षेण **जहि** त्यज।।४१।।

ननु इन्द्रियादीनां भगवत्स्वरूपादिविषयानुभावकानां नियमने किं फलम्? इति अतः आह **इन्द्रियाणि** इति.

इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

इन्द्रियाणि ''अक्षण्वतां फलमिदं'' (भाग.पुरा.१०।२१।७) इतिन्यायेन भगवत्स्वरूपदर्शनादिविषयानुभावकत्वेन **पराणि** उत्कृष्टानि आहुः. भक्ताः इति शेषः. मनसो अन्यत्र स्थितेन्द्रियैः संयुक्तं भगवत्स्वरूपं न फलरूपं मारणीयदैत्यादिभिरिवेति **इन्द्रियेभ्यः परम्** उत्कृष्टं **मनः** आहुः, मनोऽपि कामनाद्यशुद्ध्या बुद्ध्या हतं सन् न फलं साधयति अतः आहुः **मनसस्तु** सकाशाद् **बुद्धिः परा** उत्कृष्टा इति अर्थः. अत्र अयं भावः **:** भगवान् लौकिक–देहेन्द्रियादिभिः न अनुभाव्यः किन्तु अविकृतालौकिकभावात्मकात्मस्वरूपेण; अतः सः आत्मैव उत्तमः इति भावः।।४२।।

यतः आत्मा उत्तमः तस्मात् तम् उत्तमं ज्ञात्वा लौकिकं कामं त्यजेत् तेन

फलसिद्धिः इति आहुः **एवम्** इति.

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

एवं मदुक्तप्रकारेण **बुद्धेः परम्** आत्मानं परम् उत्कृष्टं **बुद्ध्वा आत्मना** अविकृतस्वरूपेण **आत्मानम्** अविकृतस्वरूपं मनः **संस्तभ्य** समाधाय स्ववशीकृत्य. **हे महाबाहो** तन्निराकरणसमर्थ **कामरूपं शत्रुं** एवम्भावनाशकं **दुरासदं** एवम्भूतात्मस्वरूपज्ञानातिरिक्तानाश्यं **जहि** त्यज इति अर्थः।।४३।।

कृतानां कर्मणां योगो यथा सम्भवतीश्वरे।
श्रीकृष्णेन तथा चायं कर्मयोगो निरूपितः।।३।।

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां तृतीयो अध्यायः।।३।।

पाठभेदाः

१. ''कर्मद्या प्रश्नवाक्यतः'' इति मुद्रितपाठः.
२. 'अकरणप्रत्यवाये' इति मुद्रितपाठः.
३. ''स्पष्टं आज्ञापय'' इति मुद्रितपाठः.
४. ''इतिरूप'' इति मुद्रितपाठः.
५. ''जीवबुद्ध्या न बुद्ध्यते'' इति मां.पाठः.
६. ''तत्तस्मात्'' इति मां.पाठः.
७. 'भगवदात्मज्ञानवताम्' इति मुद्रितपाठः.
८. 'तच्चरणम्' इति मुद्रितपाठः.
९. ''केवलं न भवति'' इति मुद्रितपाठः.
१०. ''कर्मणि प्रवृत्तः क्षयते'' इति मां.पाठः.
११. 'यागफलम्' इति मुद्रितपाठः.
१२. ''योगम् असक्तः''इति मुद्रितपाठः.
१३. ''लौकिकफलोत्पत्त्यर्थं कर्तुः'' इति मुद्रितपाठः.
१४. ''अकर्मणः कर्मत्याग'' इति मुद्रितपाठः.
१५. ''मत्क्रीडार्थं गृहीतशरीरकार्यम्'' इति मुद्रितपाठः.
१६. 'मत्प्राकट्यानन्तरम्' इति मां.पाठः.

१७. ‘भवतु’ इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.
१८.‘‘ननु कर्मणा जगतः कथम् अभीष्टदम्’’ इति मुद्रितपाठः.
१९.‘‘प्राप्स्यथ परं उत्कृष्टम्’’ इति मुद्रितपुस्तके नोपलभ्यते.
२०.‘‘किं लक्षणः श्रेयः प्राप्तिः’’ इति मुद्रितपाठः.
२१. ‘इष्ट्यादि’ इति मां.पाठः.
२२.‘अस्मद्यागकरणेन’ इति मां.पाठः.
२३.‘दास्यन्त्येव’ इति मां.पाठः.
२४.‘सुखिनः’ इति मां.पाठः.
२५.‘प्रत्यवायपापादिकम्’ इति मुद्रितपाठः.
२६.‘भोक्ताधिकारी’ इति मुद्रितपाठः.
२७. ‘तद्गोपनेन’ इति मुद्रितपाठः.
२८.‘‘अनुवर्त्तते इत्यर्थः’’ इति मुद्रितपाठः.
२९.‘मन्वादयो’ इति मुद्रितपाठः.
३०.‘‘क्लिष्टकर्त्ता स्यां; प्रजानां वा’’ इति मां.पाठः.
३१. ‘‘सति प्रवृत्तौ’’ इति मुद्रितपाठः.
३२.‘अनासक्तः’ इति मां.पाठः.
३३.‘‘अज्ञानाम् इति. ते हि अज्ञाः चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म न कुर्वन्ति’’ इति मां.पाठः.
३४. ‘‘अन्येषां वृत्यर्थं सदा कर्माणि’’ इति मुद्रितपाठः.
३५.‘‘सर्वशः प्रकृतेः’’ इति मुद्रितपाठः.
३६.‘‘अशेषफलरूपम्’’ इति मुद्रितपाठः.
३७.‘फलासक्तचित्तान्’ इति मुद्रितपाठः.
३८.‘‘अन्यथाभावभावनयेति भावः’’ इति मां.पाठः.
३९.‘राज्यादिप्राप्त...’ इति मुद्रितपाठः.
४०.‘‘किमर्थं तदुक्तं चेत् तत्त्वर्जुनद्वारा’’ इति मां.पाठः.
४१.‘‘मदाज्ञया प्रवृत्तत्वाद्’’ इति मां.पाठः.
४२. ‘पुरुषसज्जीवानां’ इति मुद्रितपाठः.
४३. ‘स्वीयान्तानां’इति मुद्रितपाठः.
४४. ‘ह्यस्य’ इति मां.पाठः.
४५.‘‘माया केषाञ्चन मोहयितुं प्रोक्ता तदा केनचिद् नियुक्तः’’ इति मुद्रितपाठः.
४६.‘‘बीजाबीजभावोत्प...’’ इति मां.पाठः.

V

ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थो अध्यायः

कर्मसन्न्यासयोगस्य स्वस्मिन् योगो यथा भवेत्।
तदर्थं कृपया कृष्णः कौन्तेयं प्रत्युवाच ह।।१।।

कर्मसन्न्यासनिरूपणप्रश्नोद्गमार्थं पूर्वानुवादम् आह **इमम्** इति त्रयेण.

श्रीभगवान् उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अहम् इमं योगं पूर्वोक्तम् **अव्ययं** सफलं मत्सम्बन्धजनकत्वाद् **विवस्वते प्रोक्तवान्**. लोकानुग्रहार्थं सोऽपि लोके एतत्प्राकट्यार्थं **मनवे प्राह, मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्** उक्तवान्[१]।।१।।

एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयोऽविदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप!।।२।।

एवं परम्पराप्राप्तं मत्परम्परया आप्तम् **इमं योगं राजर्षयः** राज्यादिकं परित्यज्य मदर्थैकप्रयोजनवन्तो **अविदुः**. ननु परम्परागतं चेद् इदानीं केनापि कथं न ज्ञायते इति आशङ्क्य आहुः **सः कालेन** इति. **सः योगो महता कालेन** प्रमाणादिनिरासकेन **महता** मदिच्छारूपेण [२]मद्व्यवधानाद् अनवतारदशायां दर्शकाभावाद् **नष्टः**. 'परन्तप!' इति सम्बोधनेन तव उत्कृष्टतापसङ्क्लेशेन अहं दर्शयामि इति ज्ञापितम्।।२।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतद् उत्तमम्।।३।।

सः एवं **पुरातनो योगो अयम्** इति प्रत्यक्षं मत्सम्बन्धजनकः **ते** तुभ्यं **प्रोक्तः** प्रकर्षेण मत्प्रीत्यात्मकफलयुक्तः उक्तः. ननु योगएव फलसाधकः चेद् भक्तिः अस्मदादिभिः किमर्थं कर्तव्या? इति आशङ्क्य आह **भक्तो असि** इति. त्वं **भक्तो असि सखा च असि** इति **मे** मदीयं **रहस्यम्. एतद् उत्तमं** कर्मयोगाद्

उत्तमम्. '**हि**'इति निश्चयेन।।३।।

एवं श्रुत्वा अर्जुनो भगवतो अलौकिकस्वरूपत्वाद् विवस्वतो लौकिकत्वात् किमर्थं भक्तिं विहाय कर्मयोगं भगवान् उक्तवान् इति जिज्ञासया पृच्छति **अपरम्** इति.

अर्जुनः उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथम् एतद् विजानीयां त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति।।४।।

भवतो जन्म प्राकट्यम् **अपरं** न विद्यते परम् उत्कृष्टं पूर्वं वा यस्मात् तादृशं; **विवस्वतो जन्म परम्** उत्कृष्टं पश्चाज्जातं वा **इति** हेतोः **त्वम् आदौ** तस्मै योगं **कथं** किम् अभिप्रायेण **प्रोक्तवान्** एतद् **अहं विजानीयां** जानामि तथा वद इति भावः।।४।।

अत्र उत्तरम् आह भगवान् **बहूनि** इति.

श्रीभगवान् उवाच

बहूनि मे<u>ऽ</u>व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।५।।

मे जन्मानि बहूनि सन्ति. कीदृशानि? **<u>अ</u>व्यतीतानि** नित्यानि इति अर्थः. **हे अर्जुन तव च जन्मानि बहूनि व्यतीतानि, तानि सर्वाणि** तव जन्मानि **अहं वेद** जानामि यतो यदर्थं यत्र यत्र उत्पादितो असि. **हे परन्तप!** उत्कृष्टतपोबलयुक्त **तानि** मदीयानि **त्वं न वेत्थ** न जानासि. 'परन्तप'इति सम्बोधनेन तपोबलेन न भगवान् ज्ञायते, किन्तु तत्कृपयैव इति भावः।।५।।

ज्ञानार्थमेव आह **अजोऽपि** इति.

अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६।।

अहं **भूतानाम् अव्ययात्माऽपि सन्** विनाशरहितात्मरूपः सन्नपि

ईश्वरोऽपि सन् सर्वकरणसमर्थोऽपि सन् **स्वां प्रकृतिं** त्रिगुणात्मिकाम् **अधिष्ठाय अजः** जीवरूपेण **सम्भवामि आत्ममायया** अन्तरङ्गया अजीवरूपेण अव्ययात्मा लीलायोग्यदेहेन सम्भवामि. अत्र अयं भाव**:** यत्र धर्मरक्षार्थम् आविर्भवामि तत्सामयिकजीवेषु कर्मयोगादिजीवेषु लीलार्थप्रकटीकृतस्वरूपेण रसात्मक-भक्तिमेव कथयामि।।६।।

एतदेव प्रकटयति **यदा यदा** इति.

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे भारत! यदा यदा धर्मस्य मद्भक्त्यादिरूपस्य **ग्लानिः** सङ्कोचो **भवति. अधर्मस्य** ज्ञानादिनाशकस्य **अभ्युत्थानम्** उत्पत्तिः भवति. **'हि'**इति निश्चयेन. **तदा आत्मानं** लीलोपयोग्यान् जीवान् ज्ञानोपयोग्यांश्च **अहं सृजामि. भारत!** इति सम्बोधनाद् यथा इदानीं धर्मरक्षार्थं त्वं सृष्टो असि इति ज्ञाप्यते. **'आत्मानम्'** इत्यत्र एकवचनं मुख्यात्माभिप्रायेण वा।।७।।

एवं धर्मार्थं जीवान् सृष्ट्वा तेषां रक्षाणार्थं च अहं प्रकटो भवामि इति आहुः **परित्राणाय** इति.

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।८।।

साधूनां भक्तानां **परित्राणाय, दुष्कृतां** धर्मप्रतिपक्षिणां **नाशाय, धर्मसंस्थापनाय** ज्ञानकर्माश्रमादिरूपस्य सम्यक्प्रकारेण स्थापनाय **युगे युगे सम्भवामि** इति. सम्यक्प्रकारेण भवामि प्रकटो भवामि; न जीववद् भवामि।।८।।

तदेव विवृण्वन्ति **जन्म कर्म च** इति.

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

मे जन्म प्राकट्यं **कर्म** क्रिया **दिव्यं** क्रीडात्मकम्. अहं लीलार्थं प्रकटो

भवामि इति अर्थ:. लीलायां क्रीयमाणायां कालीयदमनादिरूपकर्मभिः **साधूनां** भक्तानां रक्षा भवति इति भाव:. यतो मत्प्राकट्यं क्रीडार्थं ततः **एवं यो वेत्ति** सः **तत्त्वतो देहं त्यक्त्वा** लीलायां सेवार्थसृष्टदेहेन सेवां कृत्वा तदसामर्थ्ये देहं त्यक्त्वा **हे अर्जुन! पुनर्जन्म** लौकिकं पूर्ववद् **न एति** न प्राप्नोति. **माम् एति** मां प्राप्नोति. प्रकर्षेण आप्नोति अलौलिकदेहेन लीलायाम् इति भाव:. अतएव 'माम्' इति उक्तं नतु 'मत्पदं' 'मद्भावं' वा. एतादृशस्य दुर्लभत्वात् '**स**ः' इति एकवचनम् उक्तम्।।९।।

एवं भक्तानां स्वप्राप्तिं स्वप्राकट्यस्वरूपज्ञानेन उक्त्वा ज्ञानेन द्वितीयायां स्वप्राप्तिस्वरूपम् आहु: **वीतराग** इति.

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता:।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता:।।१०।।

बहवो ज्ञानतपसा ज्ञानयुक्तेन तपसा **पूता:** सन्तो **माम् उपाश्रिता:** उप समीपे आगता:. आश्रयणमात्रमेव कृतवन्तः नतु सेवादिकं तादृशाः **मन्मया** मद्रूपं सर्वत्र ज्ञानरूपेण पश्यन्तः तत्रैव लीना भूत्वा **आगता:** प्राप्तजन्मानो **मद्भावं** मोक्षं प्राप्नुवन्ति. कीदृशा:? **वीतरागभयक्रोधा**ः ज्ञानप्रतिपक्षरहिता:।।१०।।

ननु त्वत्सङ्गताएव एके लीलायां सम्बन्धं प्राप्नुवन्ति, एके मुक्तिं तत्र किं कारणम्? इति आशङ्क्य आहु: **ये यथा माम्** इति.

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:।।११।।

हे पार्थ ये मां यथा येन प्रकारेण यदिच्छया वा **प्रपद्यन्ते** प्रपन्नाः भवन्ति, **अहं तान् तथैव भजामि** तत्फलरूपेण वशे भवामि. अत्र अयम् अर्थ:, मया तु साक्षात् मत्प्राप्त्यर्थं मोक्षार्थं च[3] भक्तिज्ञानमार्गौ उक्तौ तत्र यस्य उत्तमत्वज्ञानेन यत्र रुचि: स्यात् तस्य तददाने तन्मनोरथो न स्यात्, दु:खं स्यात्, तदा मम आत्मत्वं भज्येत अतः तथा करोमि. 'ये' इति उक्त्या मर्यादामार्गीय-ज्ञानोपयोग्यजीवानामपि स्नेहभजने पुष्टिमर्यादायां मत्प्राप्तिरूपं फलं ददामि इति

व्यज्यते. पार्थेति सम्बोधनेन मूलतो भक्तेऽपि त्वयि एवं प्रश्नयोग्ये त्वत्प्रश्नानुसारेण उत्तरं प्रयच्छामि इति त्वयैव अनुभूयते इति ध्वन्यते. किञ्च ये **मनुष्याः मम वर्त्म** मदुक्तमार्गं पुष्टिमार्गम् **अनुवर्तन्ते** मदुक्तप्रकारेण अनु पश्चाद् वर्तन्ते **तान् सर्वशः** सर्वप्रकारैः अहं **भजामि** व्रजरीत्या इति भावः।।११।।

ननु एवं चेत् तदा कथं न सर्वे त्वामेव सेवन्ते? इति आशङ्क्य आहुः **काङ्क्षन्तः** इति.

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

इह अस्मिन्नेव जन्मनि **सिद्धिं कांक्षन्तो** ये वाञ्छन्ति तादृशाः सन्तः **कर्मणां देवताः** कर्माधिष्ठातारः इन्द्रादयः तान् **यजन्ते**. यतः **क्षिप्रं** शीघ्रं **मानुषे लोके** अस्मिन्नेव जन्मनि **कर्मजा सिद्धिः भवति,** न मत्प्राप्तिः. 'हि'इति युक्तत्वाय. तथाच अयम् अर्थः पुरुषोत्तमसम्बन्धो न लौकिकदेहप्राप्यः किन्तु अलौकिकस्वरूपप्राप्यः. तत्स्वरूपं च लौकिकदेहेन सेवायां क्रियमाणायां प्रेमोत्पत्त्या परीक्षासिद्ध्यनन्तरं तापे जाते तदनुभवार्थत्यागानन्तरम् एतद्देहनिवृत्त्यनन्तरं भवति. तत्रापि परीक्षासिद्धौ परमतापे सति तदनुभवः स्यात्. सोऽपि क्लेशानन्दानुभवात्मकः. एतत्सर्वं व्रजे प्रसिद्धं कालीयः अन्तर्गत–भगवदन्तर्धानपुनःप्राकट्यरमणवनगमन श्रीमदुद्धवप्रसङ्गादिभिः. अन्यदेवानान्तु जीववद् अंशरूपत्वाद् अत्रैव मनुष्यलोके शीघ्रं तदर्थकृतकर्मसिद्धिः भवति. अतो अत्रैव शीघ्रं फलाभिलाषिणः तत्र, प्रवर्तन्ते न मद्भजने; तत्र प्रवृत्तौ तेषां तत्सिद्धिः भवति. देवानां मत्स्वरूपत्वाद् अत्रैव लौकिकदेहेन लौकिकफलसिद्धिः युक्तैव इति ज्ञापनाय 'ही'ति।।१२।।

ननु कर्मसिद्धिरपि त्वां विना कथं भवति? इति आशङ्क्य आह **चातुर्वर्ण्यम्** इति.

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

चातुर्वर्ण्यं वर्णचतुष्टयं **गुणकर्मविभागशः** गुणकर्मविभागैः

सत्त्वरजस्तमसां यानि कर्माणि तेषां विभागैः मया सृष्टम्, अतः **तस्य** चातुर्वर्ण्यस्य **कर्तारम् अव्ययम्** अविनाशिनं ब्रह्मरूपम् **अकर्तारं** रसमार्गस्थं रसपरवशं **मां** तस्य चातुर्वर्ण्यस्य **विद्धि**. इच्छया अंशैः कर्ता नतु साक्षात् स्वयं इति '**अपि**'शब्देन बोध्यते. अतो मदंशसम्बन्धेन तत्र सिद्धिः भवति इति भावः।।१३।।

ननु एवं चेद् विद्वांसः किमिति कर्म कुर्वन्ति? तत्र आह **न माम्** इति.

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर् न स बध्यते।।१४।।

मां कर्माणि न लिम्पन्ति वशे न कुर्वन्ति. **मे** मम **कर्मफले** यज्ञाद्ये इन्द्रियादिवत् **स्पृहा** इच्छा **न**. **इति** अनेन[४] प्रकारेण **मां यो अभितो जानाति** [५]मदाज्ञया लोकसङ्ग्राहर्थं कर्म करोति **सः कर्मभिः** तज्जनित फलभोगैः न बध्यते।।१४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

पूर्वैः मुमुक्षुभिरपि विद्वद्भिरपि **एवं** मत्स्वरूपं **ज्ञात्वा कर्म कृतं**; मदाज्ञारूपत्वात् कृतम् इति भावः. तैः मदाज्ञया कृतं त्वमपि पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेण मदाज्ञयैव कुरु इति आह **एवं ज्ञात्वा** इति. तस्माद् एवं बन्धकाभावादेव पूर्वैः मुमुक्षुभिः **कृतं त्वं** मदाज्ञारूपत्वेन **कर्म कुरु**. कीदृशं? **पूर्वतरं** परम्परया मुक्तैरपि मुमुक्षुदशायां कृतम्।।१५।।

ननु लौकिकफलसाधकं कर्म अकर्मरूपमेव[६] इति चेत् तत्र आह **किं कर्म** इति.

किं कर्म किम् अकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

किं कर्म? कीदृशं कर्म कर्तव्यम्? **अकर्म किम्?** अकर्म कीदृशम् अकर्तव्यम्? इति अत्र एतज्ज्ञाने **कवयोऽपि** शब्दार्थज्ञातारोऽपि **मोहिताः** मोहं

भ्रमं प्राप्ताः. **तत्** तस्मात्कारणात् **ते कर्म** कर्त्तव्यं **प्रवक्ष्यामि** प्रकर्षेण सन्देहाभावपूर्वकं कथयामि इति अर्थः. **यत्** कर्म **ज्ञात्वा अशुभाद्** अकर्मणो लौकिकफलसाधकाद् **मोक्ष्यसे** मुक्तो भविष्यसि।।१६।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

तदेव आह **कर्मणः** इति. '**हि**'इति निश्चयेन कर्मणः कर्तव्यस्य स्वरूपं **बोद्धव्यं** ज्ञातव्यम्; ततो ज्ञात्वा कर्त्तव्यम् इति अर्थः. [७]तत्स्वरूपज्ञानार्थं विकर्माकर्मणोः स्वरूपं त्यागार्थं ज्ञातव्यम् इति आह. **च** पुनः **विकर्मणो** निषिद्धकर्मणः संसारफलसाधकस्य वा तस्य स्वरूपं तथैव. **च** पुनः **अकर्मणो** अकर्तव्यस्य आसुरस्य स्वरूपं **बोद्धव्यम्**. **कर्मणो गतिः** त्रयाणां कर्त्तव्यस्य पर्यवसानफलाप्तिरूपा **गहना** दुर्विज्ञेया इति अर्थः।।१७।।

दुर्विज्ञेयत्वाद् ज्ञानार्थं तत्स्वरूपम् आह **कर्मणि** इति.

कर्मण्यकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

यः कर्मणि अकर्म पश्येत् कर्त्तव्ये अकर्तव्यं पश्येत्. मत्सम्बन्धं विना मदाज्ञां विना कर्मणि अकर्त्तव्यं पश्येत्. तथैव मदाज्ञया **अकर्मणि** अकर्त्तव्ये कर्म कर्तव्यं **पश्येत्**. एवं ज्ञात्वा यः कृत्स्नकर्मकर्ता **मनुष्येषु सः बुद्धिमान्** भवेत्, सः ज्ञानवान् **सः युक्तः**. मम इति शेषः।।१८।।

किञ्च यो निष्कामो मदाज्ञात्वेन कर्म करोति सः मद्भक्तानां च [८]सम्मत इति आह **यस्य** इति.

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

यस्य सर्वे समारम्भाः सर्वकर्मणां सम्यग् मदाज्ञात्वेन आरम्भाः **कामसङ्कल्पवर्जिताः** कामः फलं, सङ्कल्पः तदिच्छा, एतदुभयरहिताः **तं**

ज्ञानाग्निना दग्धकर्माणं दग्धानि कर्माणि यस्य तादृशं, दग्धत्वाद् अग्रे तद्भोगवृक्षोत्पत्तिबीजभावरहितं, **बुधाः** भक्ताः **पण्डितं** शास्त्रोक्तसर्वस्वरूपज्ञम् **आहुः** वदन्ति।।१९।।

ननु फलेच्छारहितः त्वत्सेवां विहाय किमिति कर्म करोति? इति आशङ्क्य आह **त्यक्त्वा** इति.

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः।।२०।।

यो **नित्यतृप्तो** मन्निष्ठया नित्यं तृप्तः पूर्णः **कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा** कर्मफलेच्छासक्तिं त्यक्त्वा **निराश्रयः** कर्मजनितादृष्टाद्याश्रयरहितः **कर्मणि** मदाज्ञात्वेन **अभिप्रवृत्तः सोऽपि नैव किञ्चित् करोति**. मदाज्ञारूपत्वात् तस्य तत्कर्म मोक्षे स्वफलभोगादिना बन्धकं न भवति इति अर्थः।।२०।।

ननु एवमपि कर्मादिमन्त्रेषु उत्कृष्टबुद्ध्या कर्म बन्धकं भवेदेव इति चेत् तत्र आह **निराशीः** इति.

निराशीर् यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

निराशीः निस्पृहः. **यतचित्तात्मा** वशीकृतेन्द्रियदेहः. **त्यक्तसर्व-परिग्रहः** त्यक्तः सर्वपरिग्रहः पशुपुत्रादिः येन. 'सर्व' शब्देन दैहिकोऽपि सुखरूपः उच्यते. एतादृशः सन् **केवलशारीरं कर्म कुर्वन्** ब्राह्मणादिदेहत्वात् फलाभावेन मलमूत्रादिशारीरकर्मवद् भगवन्नामादिग्रहणं शुद्ध्यर्थं कुर्वन् **किल्बिषं** बन्धं **न आप्नोति**।।२१।।

अथ उत्कृष्टज्ञानेऽपि फलेच्छारहितं कर्म न बन्धकम् इति आह **यदृच्छा** इति.

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

यदृच्छालाभसन्तुष्टः भगवदिच्छालाभसन्तुष्टः; **द्वन्द्वातीतः** सुखदुःखसमः, **विमत्सरः** दुष्टवचनजक्षोभादिरहितः, **सिद्धौ** यथोक्तकर्मसिद्धौ फलोन्मुखत्वाद् आनन्दरहितः; **च** पुनः **असिद्धौ** फलोन्मुखत्वाद् दुःखरहितः **समः** कर्म कृत्वाऽपि तेन कर्मणा **न निबद्ध्यते**।।२२।।

ननु कृतं कर्म फलभोगाभावे कथं नश्यति? इति आशङ्कायाम् आह **गतसङ्गस्य** इति.

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

गतसङ्गस्य त्यक्तलौकिकपरिग्रहादेः **मुक्तस्य** कर्मफलैः मुक्तस्य **ज्ञानावस्थितचेतसः** ज्ञानेन भगवति सुस्थिरचित्तस्य **यज्ञाय** विष्णवे भगवदर्पणबुद्ध्या तत् [९]**कर्म आचरतः** कुर्वतः **समग्रं** फलसहितं **कर्म प्रविलीयते**. ईश्वरप्राप्तिरूपे [१०]लीनं भवति इति अर्थः. यद्वा यज्ञाय लोकशिक्षणार्थं मदाज्ञया अग्रे यज्ञप्रवृत्त्यर्थम् आचरतः समग्रं सफलं कर्म प्रविलीयते. यज्ञप्रवृत्तावेव लीनं भवति इति अर्थः।।२३।।

ननु "**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**"(बृहदा.उप.४।४।६)[११] इत्यनेन ब्रह्मरूपस्यैव ब्रह्मप्राप्तिः भवति तत् कथं फलसहित कर्म्मणः तत्र लीन(य!)तेति आशङ्क्य ससामग्रीकस्य कर्मणो ब्रह्मात्मकत्वम् आह? **ब्रह्मार्पणम्** इति.

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

अर्पणम् अर्प्यते हूयते अनेन[१२] तद् अर्पणं सामग्री-स्रुक्-स्रुवादिकं ब्रह्म, **हविः** घृतादिकं ब्रह्म, **ब्रह्माग्नौ** ब्रह्मात्मको अग्निः तस्मिन्, **ब्रह्मणा** कर्त्रा **हुतम्**. एवं प्रकारेण कर्म ब्रह्म अतः **समाधिना** समाध्यवस्थया तेन ब्रह्मात्मकेन कर्मणा **ब्रह्मैव गन्तव्यं** प्राप्तव्यम्. अतो ब्रह्मात्मकत्वात् तत्र लीयते इति अर्थः. अतएव श्रुतिरपि "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**"(छान्दो.उप.३।१४।१) इति ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्य आह।।२४।।

ननु ब्रह्मात्मकत्वे सति ज्ञानाज्ञानकृतं कर्म कथं न ब्रह्मणि लीयते अग्निस्पर्शे दाहवद्? इति आशङ्क्य सजातीयप्रचयसंवलितएव अग्निः दाहसमर्थः नतु विस्फुलिङ्गात्मकइति सर्वत्र ब्रह्मात्मकज्ञानाभावे तज्ज्ञानानुरूपमेव अगाधजलनिमग्नस्य[१३] ग्रहणसामर्थ्यं पूर्णघटवत् फलं भवति इति आह **दैवम्** इत्यादिषड्भिः.

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

अपरे योगिनः यत्किञ्चित् स्वरूपज्ञानेन कर्मफलेच्छया कर्म कर्त्तारः. **यज्ञं** कर्म **दैवमेव**[१४] ईश्वरमेव ज्ञात्वा **पर्युपासते** परितः सर्वभावेन कुर्वन्ति. तेषां लौकिकदेहेन साधनात्मक-भगवत्सेवायां सुखरूपं फलं भवति इति अर्थः. **अपरे** तत्त्वज्ञानानुसारिणो **ब्रह्माग्नौ** अग्निं ब्रह्मस्वरूपं ज्ञात्वा तस्मिन् **यज्ञं** यज्ञात्मकं विष्णुं **यज्ञेनैव** यज्ञात्मकविष्णुरूपेण हविषा **उपजुह्वति** होमं कुर्वन्ति।।२५।।

श्रोत्रादीन् इन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।

शब्दादीन् विषयान् अन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अन्ये योगिनः **श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति**. अयम् अर्थः **:** योगेन मत्प्राप्तीच्छया प्राप्तिप्रतिबन्धकानि इन्द्रियाणि निरोधात्मक-क्लेशाग्नौ भस्मीकुर्वन्ति. **अन्ये** भक्तियुतयोगिनः **शब्दादीन् विषयान्** मत्कथाश्रवणादिरूपान् **इन्द्रियाग्निषु** भगवत्साक्षात्कारसाधक-[१५]तापात्मकभावेन इन्द्रियेषु **जुह्वति**।।२६।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अपरे योगिनः **सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि** इन्द्रियकृत्यान् अकृत्वैव **च** पुनः **प्राणकर्माणि** पञ्चप्राणकृत्यान् क्षुत्पिपासादिना भोजनपानादीन् अकृत्वैव **ज्ञानदीपिते** ज्ञानेन मत्स्वरूपाप्तितापोन्मुखीकृते आत्मनो मत्प्राप्त्यर्थं यः संयमो नियमनं सएव अग्निः सर्वस्याऽपि स्वकरणरूपः तस्मिन् **जुह्वति**।।२७।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

द्रव्ययज्ञाः यज्ञनिष्क्रयद्रव्यदातारः. **तपोयज्ञाः** साधनाद्यभावेन यज्ञजमत्प्रीत्युत्पादनार्थं तपएव यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति. **योगयज्ञाः** पूर्वोक्तवद् मत्प्रीत्यर्थं यज्ञबुद्ध्या अष्टाङ्गयोगकर्तारः. **अपरे तथा** पूर्वोक्तप्रकारेण स्वाध्यायं वेदाध्ययनमेव यज्ञबुद्ध्या कर्तारः. **च** पुनः ज्ञानमेव यज्ञत्वेन ज्ञातारः. ते कीदृशाः **यतयः** सर्वपरित्यागिनः. पुनः कीदृशाः? **संशितव्रताः** सूक्ष्मीकृतकर्मणो भगवत्स्मरणमात्रैकपराः।।२८।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

अपरे योगिनो **अपाने** अधस्स्थे **प्राणम्** ऊर्ध्वस्थं पूरकविधिना **जुह्वति**. तथा **अपरे** रेचकविधिना **अपानं प्राणे**. कुम्भकविधिना प्राणापानयोः गतिनिरोधं कृत्वा **प्राणायामपराः** ईश्वरचिन्तननिष्ठा भवन्ति।।२९।।

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

अपरे योगिनो **नियताहाराः** नियमितभोजनाः ‘‘**द्वौ भागौ पूरयेद् अन्नैस्तोयेनैकं च पूरयेत्, मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्**’’ इति उक्तम्. तथाऽपि अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं देहस्थितिमात्ररूपभगवत्प्रसादैकभोक्तारः **प्राणान्** लौकिकान् **प्राणेषु** आधिदैविकेषु भगवदुपयोग्येषु **जुह्वति**. **सर्वेऽपि एते** सार्द्धपञ्चश्लोकोक्ताः **यज्ञविदः** यज्ञस्वरूपज्ञाः. **यज्ञक्षपितकल्मषाः** स्वस्वाधिकारकृतस्वयज्ञेन दूरीकृतं मत्स्मरणप्रतिबन्धकात्मकं कल्मषं यैः ते दूरीकृतकल्मषा भवन्ति इति शेषः।।३०।।

एवं यज्ञैः निष्कल्मषा भूत्वा मत्स्मरणादिना ब्रह्म प्राप्नुवन्ति इति आह **यज्ञशिष्ट...** इति.

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य: कुरुसत्तम!।।३१।।

यज्ञशिष्टामृतभुज: यज्ञे शिष्टम् अवशिष्टं यद् अमृतं मत्स्मरणरूपं तद्भुजः तद्भोगकर्तार: **सनातनं ब्रह्म** अक्षरात्मकं **यान्ति** प्राप्नुवन्ति. अतएव ''**यस्य स्मृत्या**'' इत्यादिना भगवत्स्मरणेनैव कर्मादीनां पूर्णत्वम्. एवं यज्ञकर्तृणाम् अक्षरप्राप्तिम् उक्त्वा तदकर्तृणां बाधकम् आह **न अयम्** इति. **हे कुरुसत्तम!** सत्कुलोत्पन्न अयज्ञस्य मद्विभूतिरूप-मदाज्ञादिरूप-यज्ञरहितस्य **अयं लोको न अस्ति**. अस्मिन्नपि लोके निन्दितः [१६]स्यात् तदा **अन्य:** अक्षरात्मक: **कुत:** प्राप्य:? इति शेष:।।३१।।

ननु एवं बहुप्रकारयज्ञत्वरूपोक्त्या मया किं कार्यम्? इति आशङ्क्य आह **एवम्** इति.

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान्
एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

एवं बहुविधा: पूर्वोक्तप्रकारेण बहुप्रकाराः **यज्ञाः** मदंशात्मका:[१७] **ब्रह्मणो** वेदस्य **मुखे वितता:** निस्सृता: **तान् सर्वान् कर्मजान्** एतत्क्रियोत्पन्नान् **विद्धि** जानीहि. **एवं** तान् **ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे** मत्प्राप्तिप्रतिबन्धैः मुक्तो भविष्यसि इति अर्थ:. मया तव वेदाद्युक्तत्वाद् यज्ञादिकर्मसु आसक्त्यभावार्थम् एवं बहुप्रकारकाः यज्ञाः उक्ताः इति भाव:।।३२।।

ननु मम एतत्फलानभिलाषित्वाद् त्वदाज्ञया[१८] लोकसङ्ग्रहार्थं कर्त्तव्यानां तेषां ज्ञानेन किं फलम्? इत्यतः आह **श्रेयान्** इति.

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञ: परन्तप!।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

हे परन्तप! [१९]ज्ञानयोगज्ञानाभावे भगवदीयस्य निषिद्धप्रकारेण स्वर्गादिफलकत्वेन क्रियमाणस्य अनुचितत्वाद् **द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञ:**

[20]स्वज्ञानात्मको ज्ञानेन वा यज्ञः **श्रेयान्** सः उत्तमः इति अर्थः. किञ्च द्रव्यमयो यज्ञः पूर्णत्वाभावादपि न उत्तमः, ज्ञानमयस्तु सम्पूर्णो भवति इति आह **सर्वम्** इति. **हे पार्थ सर्वं कर्म ज्ञाने अखिलं** पूर्णं **परिसमाप्यते** पूर्णं [21]सन् समाप्तं भवति इति अर्थः।।३३।।

तद् ज्ञानं कथं स्याद्? इत्यतः आह **तद्** इति.

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस् तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

तद् ज्ञानं **ज्ञानिनो** मत्स्वरूपविदः **प्रणिपातेन** नम्रतया, **परिप्रश्नेन** जिज्ञासुतया प्रश्नेन, **सेवया** भगवद्बुद्ध्या, **ते** तव **ज्ञानिनः** मत्स्वरूपविदः **तत्त्वदर्शिनः** योग्यानाम् उपदेशदानाद् अहं प्रसन्नो भवामि इति पश्यन्ति अतो **ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति**।।३४।।

एवम् उपदिष्टज्ञानेन मोहो न भवत्येव[22] इति **यद्** इति.

यज् ज्ञात्वा न पुनर् मोहम् एवं यास्यसि पाण्डव!।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

हे पाण्डव! यद् उपदिष्टज्ञानात्मकं मत्स्वरूपं **ज्ञात्वा पुनः एवं** भूयः प्रश्नादिरूपं (मोहं) **न यास्यसि** न प्राप्स्यसि. **अथो** एतदनन्तरं मोहाभावानन्तरं **येन** ज्ञानेन **भूतानि** कारणरूपाणि जीवात्मकानि च **अशेषेण** जगद्रूपेण आत्मनि **मयि** आत्मभूते[23] मयि **द्रक्ष्यसि**।।३५।।

तथाच अयं भावः **:** भगवता अग्रे पुष्टिमार्गरीत्या उपदेशेन स्वानुभवः कारणीयः तदुपदेशयोग्यार्थं सर्वत्र भगवद्भावात्मकज्ञानरूपः संस्कारः कर्त्तव्यः, सच साक्षात् स्वोपदेशे अग्रे कार्यविलम्बः [24]स्यादिति ज्ञानिवाक्यानुसारेण तथा उक्तम्. अन्येषां च भक्तिक्रमज्ञापनाय च एम् उक्तम् इति भावः. ननु अहं राज्याद्यर्थं गुर्वादिमारणरूपपापार्थम् उद्यतः तद्भोगं विना किं ज्ञानेन स्याद्? इत्यतः आह **अपि** इति.

अपि चेदसि पापेभ्य: सर्वेभ्य: पापकृत्तम:।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।३६।।

क्षत्रियाणान्तु अयं धर्मएव; **अपि चेद्** यदि **पापेभ्य: सर्वेभ्य:** पापकृद्भ्य: सर्वेभ्य: **पापकृत्तम:** पापकृद् मुख्यो **असि** तथापि **ज्ञानप्लवेनैव** ज्ञानरूपोडुपेन तरणसाधनेन **सर्वं वृजिनं** पापं [२५]**'सर्वं'** पदेन अर्णवरूपं **सन्तरिष्यसि** सम्यक्प्रकारेण अनायासेन तरिष्यसि पापविनिर्मुक्तो भविष्यसि इति अर्थ:।।३६।।

पापस्य अर्णवत्वोक्त्या ज्ञानस्य प्लवत्वोक्त्या च तस्य अनल्पत्वाद् अगाधत्वाद् अस्य अल्पत्वात् तन्मध्यपातित्वात् कदाचिद् मज्जनसम्भावनाऽपि स्यादिति अल्पस्वरूपस्य महद्वस्तुनिराकारणसामर्थ्यदृष्टान्तम्[२६] आह **यथैधांसि** इति.

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि: भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन!।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

हे अर्जुन! यथा अग्नि: काष्ठेभ्य: स्वल्पतरोऽपि **समिद्ध:** सन् सम्यक्प्रकारेण सन्धुक्षित: सन् **एधांसि** काष्ठानि **भस्मसात्कुरुते तथा ज्ञानाग्नि:** ज्ञानरूपो अग्नि: **सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते** भस्मरूपाणि अग्रे अस्य फलभोगजननासमर्थानि कुरुते।।३७।।

एवं ज्ञानस्य प्रतिबन्धनिरासकत्वम् उक्त्वा स्वप्रापकत्वम् आह **न हि** इति.

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धि: कालेनाऽऽत्मनि विन्दति।।३८।।

'हि'इति निश्चयेन **ज्ञानेन सदृशम् इह** साधनेषु पवित्रं **न विद्यते**. अत: **योगसंसिद्ध:** कर्मयोगादिभि: सम्यक्प्रकारेण सिद्धो मत्तोषार्थं मदाज्ञया फलानभिलाषेण कृतकर्मयोग: तद् मत्स्वरूपात्मकं ज्ञानं **कालेन** अलौकिकेन तज्ज्ञानदानार्थम् आविर्भूतेन **आत्मनि** स्वयं स्वात्मस्वरूपेण **विन्दति** जानाति इति अर्थ:।।३८।।

तत्कालज्ञानम् [२७]अतिसूक्ष्मत्वाद् न भवति इति निरन्तरं तत्परः सन् जितेन्द्रियः तिष्ठेत्, तेन तत्प्राप्तिः स्याद् इति आह **श्रद्धावान्** इति.

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् अचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

श्रद्धावान् श्रद्धायुक्तः पूर्वोक्तप्रकारक-गुरुसेवादौ **तत्परः** तन्निष्ठः गुरुनिष्ठो ज्ञाननिष्ठो वा **संयतेन्द्रियः** वशीकृतेन्द्रियः निवृत्तविषयो यः सः **ज्ञानं लभते** प्राप्नोति. ततो **ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण** शीघ्रमेव **परां शान्तिं** मद्भक्तिम् **अधिगच्छति** प्राप्नोति।।३९।।

अज्ञाश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अत्र मदुक्तौ संशयो न कर्तव्यः इति आह **संशयात्मा** ''भविष्यति न वा'' इति सन्देहवान्, **अज्ञः** मूर्खः अनात्मज्ञः **अश्रद्दधानः** गुरौ ज्ञानसाधनेषु च श्रद्धारहितो भूत्वा **विनश्यति** नष्टो भवति. **च**कारद्वयेन धर्मरहितः सन्तोषरहितश्च भवेद् इति ज्ञाप्यते. किञ्च संशयात्मनः साधारणरीत्याऽपि इह [२८]लोके परलोके च सुखं न स्याद् इति आह **न अयम्** इति. संशयात्मनः सन्देहवतः **अयं लोकः** पशुपुत्रादिरूपो **न** सिद्धो भवति, **न परः** स्वर्गादिरूपसुखम् ऐश्वर्यारोग्यादिरूपं न भवति इति अर्थः।।४०।।

सन्देहरहितस्य भोगलोकादिप्रतिबन्धो न भवेद् इति आह **योगसन्न्यस्त** इति.

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!।।४१।।

हे धनञ्जय! कर्माणि नियतफलभोग-कारणरूपाणि[२९] **योगसन्न्यस्त-कर्माणं** भगवदात्मकयोगेन त्यक्तकर्मफलं **ज्ञानसञ्छिन्नसंशयं** ज्ञानेन[३०] वा सञ्छिन्नः संशयो जीवस्वरूपादिरूपो यस्य[३१], तम् **आत्मवन्तं** स्वसेवार्थम् [३२]आत्मना भगवता प्रकटीकृतः इति आह आत्मस्वरूपज्ञं **न निबध्नन्ति** न

बन्धकानि भवन्ति इति अर्थः।।४१।।

यतः संशयात्मा न पश्यति[३३] आत्मज्ञानवन्तं च कर्माणि न निबध्नन्ति तस्माद् आत्मज्ञानेन संशयं त्यज इति आह **तस्माद्** इति.

तस्माद् अज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगम् आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत!।।४२।।

हे भारत! सत्कुलोत्पन्न! संशयकरणायोग्य! यस्मात् संशयेन नश्यति[३४] **तस्माद्** आत्मनः **अज्ञानसम्भूतम्** आत्मस्वरूपाज्ञानोत्पन्नं **हृत्स्थं** हृदिस्थम्[३५] **एनं** प्रत्यक्षम् अनुभूयमानं मद्वचनेषु अविश्वासात्मकं संशयं **ज्ञानासिना** ज्ञानात्मकखड्गेन **छित्त्वा योगं** मदात्मकं मत्प्राप्त्यर्थम्[३६] **आतिष्ठ** कुरु, उत्तिष्ठ सावधानो भव।।४२।।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां चतुर्थो अध्यायः।।४।

पाठभेदाः

१.मुद्रितपुस्तके 'उक्तवान्' इति नास्ति.
२.'तद्व्यवधानाद्' इति मुद्रितपाठः.
३.''यौतु साक्षाद् मत्प्राप्त्यर्थं च'' इति मुद्रितपाठः.
४.'अमुना' इति मां.पाठः.
५.''जानाति **स** फलभोगैः **न बध्यते**'' इति मुद्रितपाठः.
६.कर्म अकर्मरूपमेवेति १३६
७.'मत्स्वरूप...' इति मुद्रितपाठः.
८. ''च मे मतः'' इति मुद्रितपाठः.
९. 'तद्' इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.
१०. ''फले लीनम्'' इति मुद्रितपाठः.
११. ''ननु **'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**(छान्दो.उप.३।१४।१) इति ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्य आह. कस्य कर्मणो ब्रह्मात्मकत्वम् आह? **ब्रह्मार्पणम्** इति'' मुद्रितपाठः.
१२.''अर्पणम् अर्प्यते हूयतेऽ-नेनेति स्रुक्स्रुवादिकम्'' इति मां.पाठः.
१३. ''...निमग्न-स्व-ग्रहण...'' इति मां.पाठः.

१४.“दैवमेव ज्ञात्वा” इति मुद्रितपाठः.

१५. “साधकतया आत्मभावेन” इति मुद्रितपाठः.

१६. ‘सन्’ इति मुद्रितपाठः.

१७. ‘मदंशकाः’ इति मुद्रितपाठः.

१८.‘आज्ञया’इति मुद्रितपाठः.

१९.‘ज्ञानयोग्यज्ञानाभावे’ इति मुद्रितपाठः.

२०.‘ज्ञानात्मको’इति मुद्रितपाठः.

२१. ‘मत्समीपम्’ इति मुद्रितपाठः.

२२.“न भवेद्” इति मां.पाठः.

२३. ‘आत्मभूते’ इति मुद्रितपाठः.

२४. “स्यादिति ज्ञानवाक्यानुसारेण स्वरूपपापार्थम् उद्यतः तद्भोगं विना किम्” इति मुद्रितपाठः.

२५. “पापं सर्वं पापं सर्वपदेन ” इति मुद्रितपाठः.

२६. “...सामर्थ्ये दृष्टान्तम्” इति मुद्रितपाठः.

२७. “ज्ञानं सूक्ष्मत्वाद्” इति मुद्रितपाठः.

२८. ‘इहलोकपरलोकौ सुखं च न” इति मां.पाठः.

२९. ‘...कारकुरूपाणि’ इति मां.पाठः.

३०. “ज्ञाने ज्ञानेन वा” इति मां.पाठः.

३१. ‘अस्य’ इति मुद्रितपाठः.

३२. “स्वसेवार्थम् आत्मा भगवान्” इति मां.पाठः.

३३. ‘नश्यति’ इति मां.पाठः.

३४. ‘पश्यति’ इति मां पाठः.

३५. ‘हृदि स्थितम्’ इति मां.पाठः.

३६. ‘मत्प्रीत्यर्थम्’ इति मां.पाठः.

V

सन्न्यासयोगो नाम पञ्चमो अध्यायः

सन्न्यासं कर्मयोगं च श्रीकृष्णोक्तं धनञ्जयः।
श्रुत्वा संशयमापन्नः पुनः प्रश्नं चकार ह।।

अर्जुनः उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

अर्जुनः उवाच **सन्न्यासम्** इति. **हे कृष्ण** सदानन्द आनन्दैकदानयोग्य **कर्मणां सन्न्यासं** त्यागं ''**न मां कर्माणि**''(भग.गीता४।१४) इत्यारभ्य ''**कृत्वाऽपि न निबध्यते**''(तत्रैव४।२२) इत्यन्तं **शंससि, पुनः** ''**योगम् आतिष्ठ**'' (तत्रैव४।४२) इत्यनेन **योगं च शंससि. एतयो**ः उभयोः मध्ये **एकं सुनिश्चितं** निर्धारितं **ब्रूहि. च** पुनः एतयोः उभयोः सकाशाद् **एकम्** अन्यद् **यच्छ्रेयः** श्रेयोरूपं भक्तिरूपं भवेत्**, तद् मे** मम त्वदीयस्य **सुनिश्चितं** संशयरहितं ब्रूहि।।१।।

भगवान् एतत्प्रश्नोत्तरम् आह कृपया **सन्न्यास**ः इति.

श्रीभगवान् उवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निश्श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

सन्न्यासः कर्मणां त्यागः, **कर्मयोगः** कर्मानुष्ठानम् एतौ **उभौ निश्श्रेयसकरौ** मोक्षापादकौ **तयोरपि कर्मसन्न्यासात्** केवलं कर्मत्यागाद्, मदाज्ञया फलानभिलाषेण मदर्पणधिया **कर्मयोगः** कर्मानुष्ठानं **विशिष्यते** उत्तमम् इति अर्थः।।२।।

अथ श्रेयोरूपप्रश्नोत्तरम् आह सर्वत्यागरूपं **ज्ञेय**ः इति.

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।।३।।

यः सन्न्यासी सर्वत्यागवान् सर्वं त्यक्त्वा एतयोः उभयोः मध्ये[२] **न** एकं कमपि **द्वेष्टि,** नच एकं कमपि **आकांक्षति, सः नित्यं ज्ञेयो** ज्ञातुं योग्यः. मदीयत्वेन इति शेषः. **हे महाबाहो!** सर्वकरणसमर्थ **'हि'** निश्चयेन **निर्द्वन्द्वः** कर्म-सन्न्यास-योगयोः मदाज्ञातिरेकेण भिन्नज्ञानरहितो **बन्धात्** तत्फलजात् **सुखं प्रमुच्यते**. मोक्षे प्रकर्षः मदाज्ञाकरणे अहं प्रसन्नो भवामि इति भावः।।३।।

उभयोः हेयोपादेयज्ञानिनो मत्स्वरूपाद् भिन्नज्ञानिनश्च मूर्खाः इति आह **साङ्ख्ययोगौ** इति.

साङ्ख्य-योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यग् उभयोर् विन्दते फलम्।।४।।

साङ्ख्ययोगौ पृथग् भिन्नतया अनुष्ठेयाननुष्ठेयत्वेन मतौ इति मत्तो वा **बालाः**[३] मूर्खाः **प्रवदन्ति, न पण्डिताः** ज्ञानिनः इति अर्थः. [४]अत्र अयं भावः : साङ्ख्ययोगौ मत्कुण्डलात्मकौ तत्र हेयोपादेयज्ञानं मत्कुण्डलयोः मदात्मकत्वाद् भिन्नज्ञानं च [५]अज्ञानमेव इति भावः. यतः तथा ज्ञानम् अज्ञानम् अतः **सम्यग् आस्थितो** मत्स्वरूपपरो मदाज्ञया कुर्वन् **उभयोरपि एकं फलं** मत्प्रसादरूपं **विन्दते** प्राप्नोति इति अर्थः।।४।।

एकफलत्वमेव विवेचयति **यत्साङ्ख्यैः** इति.

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

यत् स्थानं मत्सामीप्यं **साङ्ख्यैः** साङ्ख्यनिष्ठैः **प्राप्यते तत्स्थानं योगैरपि** योगानुष्ठातृभिरपि **गम्यते** प्राप्यते. तथाच अयं भावः : उभयोः कुण्डलरूपत्वाद् यथास्थित-स्वरूपज्ञानेन उभयनिष्ठानामपि भगवन्मुखसामीप्यमेव भविष्यति, यतः तयोः एकमेव स्थानम्, अतो **यः साङ्ख्यं योगं च एकं** कुण्डलात्मकं **पश्यति सः** मां **पश्यति** इति अर्थः।।५।।

ननु उभयोः एकफलकत्वे[६] उभयरूपता किम्? इति आशङ्क्य आह

सन्न्यासस्तु इति.

सन्न्यासस्तु महाबाहो दु:खम् आप्तुम् अयोगत:।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।।६।।

हे महाबाहो सन्न्यासस्तु अयोगत: योगं विना **आप्तुं** प्राप्तुं **दु:खं** दु:खरूपम् [७]अत्यशक्यम् इति अर्थ:. अत्र अयं भाव: **:** सन्न्यासस्य साङ्ख्यात्मकस्य विप्रयोगरूपत्वाद्, योगस्य संयोगात्मकत्वाद् विप्रयोगस्य संयोगपूर्वत्वाद् योगं विना न तत्सिद्धि: स्याद् अतः उभयरूपत्वेन कथनम् इति अर्थ:. किञ्च भगवतो रसरूपत्वाद् रसस्य च द्विरूपत्वाद् एकरूपत्वेन अकथने[८] अपूर्णएव सः स्याद् इति अर्थ:. यत: संयोगं विना न द्वितीयसिद्धिः अतो **योगयुक्त:** संयोगयुक्तो भूत्वा **मुनि:** विप्रयोगे मौनैकशरणो भूत्वा **अचिरेण** शीघ्रमेव ब्रह्म सर्वलीलाव्यापकम् **अधिगच्छति** प्राप्नोति इति अर्थ:।।६।।

ननु ब्रह्मप्राप्तिरेव उत्तमा तदा भक्त्यैव तत्सिद्धिरिति नियतस्वफलभोग–कारककर्मकरणं किम्प्रयोजनकम्? इति आशङ्क्य आह **योगयुक्त**ः इति.

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय:।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

योगयुक्तो मत्संयोगात्मवान्. **विशुद्धात्मा** विशेषेण शुद्धः आत्मा अन्त:करणं कामादिभावरहितं यस्य. **विजितात्मा** विजितो वशीकृतः आत्मा भगवत्स्वरूपं येन. **जितेन्द्रिय:** जितानि इन्द्रियाणि स्वभागादिरूपाणि येन. **सर्वभूतात्मा** सर्वभूतात्मरूपो भगवान् सएव आत्मा स्वरूपं यस्य, तादृशो मदाज्ञया लोकसङ्ग्रहार्थं कर्म **कुर्वन्नपि न लिप्यते** तत्फलभोगेन न बध्यते।।७।।

ननु नियतफलस्य कर्मण: कृतस्य कथं न फलम्? इति आशङ्क्य आह **नैव किञ्चिद्** इत्यादित्रयेण.

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्
अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।।८।।

तत्त्वविद् भगवदिङ्गितज्ञः **युक्तः** मद्भावयुक्तः सन् **नैव किञ्चित् करोमि** अहं **किञ्चिदपि न करोमि**; किन्तु भगवदिच्छया तदाज्ञया यथा सः कारयति तथा [९]वायुवशात् तृणादिचलनवत् कमादिकमपि मत्तो न भवति, नतु 'अहं करोमि' इति यो मन्येत सः पापेन कर्मजफलेन न लिप्यते. एवंरूपस्य स्थितिम् आह **पश्यन्** इति. भावात्मकेन मनसा स्थिरीकृतालौकिकेन्द्रियैः चक्षु:प्रभृतिभिः पश्यन् भगवत्स्वरूपदर्शनं **कुर्वन्**; **शृण्वन्** भगवत्कूजित-वेण्वादिशब्दान्; स्पृशन् भगवच्चरणारविन्दस्पर्शं कुर्वन्; **जिघ्रन्** भगवन्मुखा-मोदाद्याघ्राणं कुर्वन्; **गच्छन्** गोचारणादिलीलायां [१०]सङ्गच्छन्; **स्वपन्** लीलादिसमये नेत्रमुद्रणं कुर्वन्; **श्वसन्** विप्रयोगादिना श्वासविमोकं कुर्वन्।।८।।

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

प्रलपन् तद्भावेन मत्तावस्थायां भ्रमरवद्गानं कुर्वन् **विसृजन्** तदवस्थायामेव दूरे गच्छन्[११] **गृह्णन्** तदवस्थयैव आलिङ्गनादि चरणेषु कुर्वन् **उन्मिषन्** मत्तावस्थात्यागेन स्वरूपानुभवं कुर्वन्; **निमिषन्** तत्सुखानुभवेन नेत्रनिमीलनं कुर्वन् **इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु** भगवदवयवेषु **वर्तन्ते** इति **धारयन्**।।९।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रम् इवाम्भसा।।१०।।

ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे सङ्गम् **आधाय** संयोगावस्थायां स्थित्वा, **सङ्गं त्यक्त्वा** वा विप्रयोगावस्थायां स्थित्वा कर्माण्यपि **यः करोति सः तेन न लिप्यते**. तत्र दृष्टान्तम् आह **पद्मपत्रमिव** इति. अम्भसा पद्मपत्रमिव. जले तिष्ठन्नपि तद् यथा न लिप्तं भवति तथा इति अर्थः।।१०।।

ननु एतत्सिद्धदशायाम् उक्तं, साधनदशायां तत्करणे कथं न लेपः स्याद्? इति आशङ्क्य आह **कायेन** इति.

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये।।११।।

कायेन देहेन भावस्वरूप-रहितेन अधिष्ठानात्मकेन तादृशेनैव **मनसा केवलैः इन्द्रियैः** आध्यात्मिकैः **बुद्ध्यापि** तत्प्राप्तिरूपेच्छया **आत्मशुद्धये** भावस्वरूपप्राप्त्यर्थं **योगिनः** संयोगात्मक-साधनवन्तः **सङ्गं** कर्मफलं **त्यक्त्वा कर्म** भगवदिच्छया कर्तव्यात्मकत्वेन **कुर्वन्ति**. साधनदशायामपि भगवदिच्छां ज्ञात्वा फलाभावेन कृतं कर्म न बन्धकं भवति इति भावः।।११।।

ननु साधनदशायां फलत्यागेन कर्मकरणं किम्प्रयोजनकम्? इति आशङ्क्य आह **युक्तः** इति.

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिम् आप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

युक्तो भगवद्भजनैकनिष्ठः सन् **कर्मफलं त्यक्त्वा** भगवदाज्ञारूपत्वेन कर्म करोति सः **नैष्ठिकीं** भगवत्तोषरूपां **शान्तिं** भगवदाज्ञाकरणाभावं तापरहित-भगवदाज्ञाकरणतोषरूपां **प्राप्नोति** इति अर्थः. अतः साधनदशायामपि भगवदाज्ञात्वेन कर्मकरणम् उत्तमम् इति भावः. अभगवदीयस्तु फलाशया कर्मकरणेन बद्धो भवति इति आह **अयुक्तः** इति. **अयुक्तः** अभगवदीयः **कामकारेण** कामनया प्रवृत्तः **फले सक्तः** सन् **निबध्यते** नितरां बद्धो भवति. न भगवत्सम्बन्धं प्राप्नोति इति अर्थः।।१२।।

एवं भगवद्भक्तो भगवदाज्ञया कर्म कुर्वन् सुखम् आप्नोति, अयुक्तस्तु फलाशया कर्म कुर्वन् बद्धो भवति इति उक्तं तत्र अभक्तस्य सर्वकर्मत्यागएव उत्तमः इति अर्जुनमनसि आभासं प्राप्य त्यागेऽपि भक्तानामेव सुखं न इतरेषाम् इति आह **सर्वकर्माणि** इति.

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।।१३।।

वशी भगवद्वशे स्थितः **सर्वकर्माणि सन्न्यस्य** त्यक्त्वा **नवद्वारे पुरे**

श्रवणादिकरणसमर्थे **देहे देही** भगवदर्थं देहाभिमानवान् **सुखम् आस्ते** तिष्ठति. **मनसा नैव कुर्वन्** स्वार्थाहङ्काराभावाद् न किञ्चित् कुर्वन्. न वा ममताभावाद् अन्येभ्य: परोपकाररीत्या[१२] उपदेशादिना कारयन् **सुखम् आस्ते** इति भाव:।।१३।।

ननु उपदेशादिना कारणे को दोष:? इति चेत् तत्र आह **न कर्तृत्वम्** इति.

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु:।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

प्रभु: ईश्वरः **लोकस्य कर्तृत्वं न सृजति, कर्माणि न सृजति न वा कर्मफलसंयोगं सृजति.** तत:[१३] स्वयमपि किमिति तथा उपदिशेद् इति भाव:. ननु ईश्वरोत्पादनाभावे लोक: कथं प्रवर्तते? इत्यतः आह **स्वभावस्तु प्रवर्तते** इति. जीवस्य **स्वभाव:** प्रकृत्यात्मक: प्रवर्त्तते कर्तृत्वादिरूपेण।।१४।।

यत: प्रभुः न सृजति अत: कस्यचित् पापपुण्यादिकम् अङ्गीकृत्य फलं न ददाति इति आह **न आदत्ते** इति.

नाऽऽदत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभु:।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव:।।१५।।

विभु: अनियम्य: स्वेच्छयैव सर्वफलदानसमर्थ: **कस्यचिद्** जीवस्य **पापं** पापरूपं कर्म **न आदत्ते** न अङ्गीकरोति तद् अङ्गीकृत्य नरकादिफलं न ददाति इति अर्थ:. **सुकृतं च नैव** अङ्गीकरोति तदङ्गीकारेण स्वर्गादिसुखं न ददाति इति अर्थ:. विभुत्वात् स्वक्रीडेच्छयैव यथासुखं करोति इति भाव:. तर्हि **''एष एव तं (ह्येवैनं) साधु कर्म कारयति''** (कौषि.उप.३।९) इत्यादिश्रुतिभ्यः ईश्वरएव तत्तत्कर्म कारयित्वा सर्वेभ्य: फलं ददातीति कथम् उच्यते? तत्र आह **अज्ञानेन** इति. **अज्ञानेन** प्रकृत्युत्पन्नेन[१४] ज्ञानं भगवत्स्वरूपात्मकं श्रुत्यर्थरूपं वा तेन **जन्तव:** जीवाः **मुह्यन्ति** मोहं प्राप्नुवन्ति, अन्यथा वदन्ति इति अर्थ:. श्रुतौतु पूर्वं तादृक्फलदानेच्छां निरूप्य पश्चात् कर्मकारणत्वम् उच्यते नतु कर्मफलत्वम् आगच्छति किन्तु विचित्रेच्छात्वमेव आयातीति।।१५।।

येषां भगवता ज्ञानेन अज्ञानं नाशितं ते न मुह्यन्ति इति आह **ज्ञानेन** इति.

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।

तेषाम् आदित्यवज् ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

तु पुनः. आत्म**ज्ञानेन** भगवत्सम्बन्धिज्ञानेन ज्ञानात्मक–भगवद्रूपेण येषां दुर्लभानां कृपापात्राणां **तत्** पूर्वोक्तम् **अज्ञानं नाशितं तेषां** तद् भगवदात्मकं **ज्ञानं** परं ब्रह्म **प्रकाशयति** प्रकटयति इति अर्थः. **आदित्यवद्** यथा सूर्यः तमो दूरीकृत्य स्वात्मसहितं सर्वं वस्तुमात्रं प्रकाशयति तथा?।।१६।।

तत्प्रकाशात् फलं भवति इति आह **तद्बुद्धयः** इति.

तद्बुद्धयस् तदात्मानस् तन्निष्ठास् तत्परायणाः।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

तस्मिन् ईश्वरे बुद्धिः येषां ते तस्मिन् सएव वा आत्मा येषाम्, तस्मिन्नेव निष्ठा भावो येषाम्, तस्मिन्नेव परायणाः तत्पराः तादृशाः **ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः** निरस्ताज्ञानाः **अपुनरावृत्तिं** मोक्षं **गच्छन्ति** प्राप्नुवन्ति।।१७।।

तेषां लक्षणम् आह **विद्या** इति.

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, श्वपाके शुनोः यः पचति तस्मिंश्च **गवि हस्तिनि, शुनि च समदर्शिनः** मदंशात्मज्ञानेन **ते पण्डिताः** ज्ञानिनः **ज्ञेयाः** इति अर्थः।।१८।।

ये एतादृशाः ते उत्तमाः इति आह **इहैव** इति.

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

येषां मनः साम्ये समभावे **स्थितं तैः इहैव सर्गो जितः**. अत्र अयं भावः **:** भगवता स्वक्रीडार्थं जगद् उत्पादितम्. तत्र यस्य यादृशेच्छया यो भावः

उत्पादित: सः तथैव करोति. सः योग्यो[१५] भवति न वा इति किमर्थं विचारणीयम्? अतो **येषां मन: साम्ये** भगवत्क्रीडारूपे **स्थितं तैः इहैव** अधिष्ठानात्मकदेहएव **सर्ग:** संसारो मायारूपो **जित:**. यतो **ब्रह्म समं** स्वक्रीडार्थरूपेषु **निर्दोषं** तेषु दोषादिरहितं तस्माद् **येषां मन: साम्ये स्थितं ते ब्रह्मणि** ब्रह्मभावे **स्थिता:**. अतः तै: संसारो जितः इति अर्थ:. यद्वा सर्गः स्वोत्पत्तिः[१६] **जिता** वशीकृता सफलीकृता इति अर्थ:. भगवता स्वसेवार्थम्[१७] उत्पादिताः तत्कृतम् इति भाव:. यद्वा **येषां मन:** संयोग-वियोगयोः **साम्येन स्थितं तैः इहैव** अधिकरणदेहएव **सर्ग:** अलौकिको अग्रेभावी **जितो** वशीकृत: सर्वथैव अलौकिको[१८] देहभावरूपो वशे जातो यतो अयं यदैव इच्छति तदैव भावप्राकट्यं भवति इति भाव:. '**हि**'इति युक्तमेव. यतो **ब्रह्म** भगवान् स्वस्थायिरसात्मकत्वात्[१९] समानाद्यवस्थासु. **निर्दोषं** यथा रासे. यतो ब्रह्म तादृशं तस्मात् ते **ब्रह्मणि** ब्रह्मभावे निरोधरूपे **स्थिता** इति भाव:।।१९।।

एवं साम्यस्थितस्य ब्रह्मभावापत्तिम् उक्त्वा तद्भावापन्नस्य लक्षणम् आह **न प्रहृष्येद्** इति.

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित:।।२०।।

प्रियं प्राप्य संयोगेन **न प्रहृष्येत्**. यत: प्रकृष्टहर्षेण अग्रे मानोत्पत्त्या दोष: स्यात्. च पुन: **अप्रियं विप्रयोगं प्राप्य न उद्विजेद्** उद्वेगं न प्राप्नुयाद्, यतो भगवता विप्रयोग: परमसुखदानार्थं दत्तः तत्र [२०]उद्वेगः तेन तत्प्राप्तिः स्यात्. एवम् अवस्थाद्वये **स्थिरबुद्धि:** सः **असम्मूढ: ब्रह्मविद्** मोहाभावेन ब्रह्मस्वरूपज्ञः इति भाव:. **ब्रह्मणि** ब्रह्मभावे **स्थित:** सः इति अर्थ:।।२०।।

ननु अनेन शरीरेण कथं तद्भावप्राप्ति:? इति आशङ्क्य आह **बाह्यस्पर्शेषु** इति.

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखम् अक्षयम् अश्नुते।।२१।।

बाह्यस्पर्शेषु लौकिकेन्द्रिय-विषयेषु **असक्तः आत्मा** अन्त:करणं यस्य सः **आत्मनि** भावात्मके [२१]स्वरूपे **यत् सुखं** तं **विन्दति** प्राप्नोति इति अर्थः. योगो भावात्मकं सुखं तं जानाति. सः [२२]ब्रह्मयोगे भगवत्संयोगे सद्भावात्मके युक्तः आत्मा यस्य तादृशो भवति [२३]सः **अक्षयं** तद्दास्यात्मकं **सुखम् अश्नुते** भुङ्क्ते[२४] इति अर्थः।।२१।।

ननु लौकिकरसभोगाभावे अनुभवं विना कथम् अलौकिकरसज्ञानं स्यात्? तदभावे च कथं तदनुभवः स्याद्? इति अतः आह **ये हि संस्पर्शजाः** इति.

ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।

आद्यन्तवन्त: कौन्तेय न तेषु रमते बुध:।।२२।।

संस्पर्शजाः भोगाः विषयसम्बन्धिनो लौकिका ये[२५] र्थे(१) **भोगाः ते दु:खयोनयो** भगवत्सम्बन्धाभाव-क्लेशकारणभूता:; यतः **आद्यन्तवन्त:** आदिमन्त: स्वभावेनैव उत्पन्ना: नतु भगवदिच्छया. **अन्तवन्त:** स्वमनोरथपूर्त्यैव पूर्णा:. यतः [२६]ते एतादृशाः अतः ये तद्भोगकारिणः तेषु **कौन्तेय!** मद्भावानुभव-योग्य '**हि**'इति निश्चयेन. **बुध:** सर्वरसज्ञो भगवान् **न रमते** न रसदानं करोति इति अर्थ:. यतो भगवान् **बुध:** सर्वरसज्ञ: अतः तदिच्छया तद्भोगानुभव: सिद्धएव भविष्यति इति भाव:।।२२।।

तस्माद् लौकिकभोगत्यागएव भगवत्सम्बन्धप्रापकः[२७] इति आह **शक्नोति** इति.

शक्नोतीहैव य: सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्त: स सुखी नर:।।२३।।

य: शरीरविमोक्षणात् प्राग् अलौकिक-देहाप्तिकालात् पूर्वं **कामक्रोधोद्भवं वेगं** कामोद्भवं स्वेच्छाजनित-रसभावाभावजं क्रोधोद्भवम् अन्येषु तदिच्छापूर्ति-दर्शनक्षोभजं **सोढुं शक्नोति सः इहैव** अस्मिन्नेव शरीरे युक्तो [२८]भावात्मकस्वरूपयुक्त: **सः सुखी नर:** मद्भक्त: स्याद् इति अर्थ:।।२३।।

ननु सुखावलम्बनाभावे कथं बाह्यदुःखसहनं न स्याद्? इति आशङ्क्य आह **यो अन्तःसुखः** इति.

योऽन्तस्सुखोऽन्तरारामः तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

यो अन्तःसुखः भावात्मकस्वरूपसुखवान्. **अन्तरारामः** अन्तरेव भावात्मकस्वरूपएव भगवद्रमणकारणवान्. **तथा अन्तर्ज्योतिः** संयोगरससुख-समत्वेनैव विगततापसुखानुभववान् यः **सः**[२९] **योगी** मत्संयोगरसयुक्तो भूत्वा **ब्रह्मभूतः** अलौकिकस्वरूपः सन् **ब्रह्मनिर्वाणं** ब्रह्मवद् भगवन्निर्वाणं लयं लीलात्मकताम् **अधिगच्छति** प्राप्नोति इति अर्थः।।२४।।

ननु लीलात्मकता ऋषीणामपि दुर्लभा कथं केवलभाववतामेव सिद्ध्येद्? इति अतः आह **लभन्ते** इति.

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम् ऋषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मनः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

क्षीणकल्मषाः भगवल्लीलानुभव-फलेतर-फलानभिलाषिणः **ऋषयः** फलदर्शिनो अग्निकुमारादितुल्याः **ब्रह्मनिर्वाणं** लीलात्मकत्वं **लभन्ते**. कीदृशाः? **छिन्नद्वैधाः** छिन्नसंशयाः एतत्फलेतरफलाज्ञानिनः. पुनः कीदृशाः? **यतात्मानः** केवलं भगवदर्थैकनिष्ठात्मवन्तः. पुनः कीदृशाः? **सर्वभूतहिते** भगवति रताः अनुरागिणो ये ते लीलात्मकतां प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. यद्वा भिन्नतया सर्वएव[३०] लभन्ते ऋषयः तत्र निदर्शनम् अग्निकुमाराः **छिन्नद्वैधाः** श्रुतयो गोपीरूपाः. **यतात्मानो** वृन्दावने पक्ष्यादिरूपाः मुनयः. **सर्वभूतहिते रताः** पुलिन्द्यः. एवं भाववन्तः सर्वेऽपि लभन्ते इति भावः।।२५।।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

किञ्च **कामक्रोधवियुक्तानां** पूर्वोक्तप्रकारेण कामक्रोधरहितानां **यतीनां** परमहंसानां भगवदर्थं सर्वपरित्यागेन स्थितानां वृन्दावनीय-वृक्षादिवद्

यतचेतसां भगवत्स्वरूपानुभवैकपरचित्तानां **विदितात्मनां** भगवत्स्वरूप-ज्ञानां[३१] **अभित:** सर्वजन्मसु सर्वदिक्षु वा **ब्रह्मनिर्वाणं** लीलात्मकत्वं वर्त्तते, अनुवर्तते इति अर्थ:. यथा वृन्दावने वृक्षेषु तन्मूलेषु परितश्च क्रीडति तथा इति भाव:।।२६।।

ननु स्पर्शाभावरूपा[३२] स्थितिः अतिकठिना अत: स्पर्शसङ्गेऽपि[३३] या प्राप्ति: स्यात् स्पर्शजबन्धाभावे न तथा भवेद् इति अभिप्रायेण आह **स्पर्शान्** इति द्वयेन.

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान् चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो:।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचरिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर् मुनिर्मोक्षपरायण:।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स:।।२८।।

बहिः बाह्यान् स्पर्शान् कृत्वा बाह्यान् लौकिकान् **स्पर्शान्** इन्द्रियादि-विषयभोगान् **बहि:** तेषु उत्तमाद्यभावेन प्रारब्धकर्म भोगवत् कृत्वा न पुन: भ्रुवो:[३४] काल-यमरूपयोः **अन्तरैव चक्षु:** दृष्टिं कृत्वा काल-यममध्ये मरणरूपो अस्मि इति दृष्ट्वा **नासाभ्यन्तरचारिणौ. प्राणापानौ** ऊर्ध्वाधोगतिरूपौ संयोग-विप्रयोग-सुखानुभवाविव **समौ कृत्वा मोक्षपरायण:** विषयादित्यागपरो **विगतेच्छाभयक्रोधो** भूत्वा **यतेन्द्रियमनोबुद्धि:** सन् य: सदा मुनिः मननशीलो भवति सः स्पर्शादिभिः **मुक्तएव** स्याद् इति अर्थ:।।२७ २८।।

ननु कथम् एतावन्मात्रेण स्पर्शादिमोक्ष: स्याद्? इति आशङ्क्य आह **भोक्तारम्** इति.

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

यज्ञतपसां पुण्योपार्जित-तापानां **भोक्तारं** तापोद्भूत-रसभोक्तारं **सर्वलोकमहेश्वरं** स्वक्रीडार्थं जगत्कर्तारं **सर्वभूतानां सुहृदं** भक्तिमुक्तिस्वरूप-रसादिदानेन. एतादृशं **मां ज्ञात्वा** लौकिकात् **शान्तिम् ऋच्छति** प्राप्नोति।।२९।।

सन्न्यासरूपकथनान्मनोवैकल्पिकं भ्रमम्।
नाशयामास कौन्तेयप्रश्नव्याजान्नतोऽस्मि तम्।।५।।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां पञ्चमो अध्यायः

पाठभेदाः

१. 'संशयरूपम्' इति मुद्रितपाठः.
२. ''एतयोः मध्ये'' इति मुद्रितपाठः.
३. 'मतौ इति बालाः'' इति मुद्रितपाठः.
४. ''अयं भावः'' इति मुद्रितपाठः.
५. ''च ज्ञानमेव'' इति मुद्रितपाठः.
६. 'एकफलत्वे' इति मुद्रितपाठः.
७. 'दुःखरूपम् इति' इति मुद्रितपाठः.
८. ''एकरूपत्वेन कथने अपूर्वएव'' इति मां.पाठः.
९. ''वारिवशात् तृणादिचलनवत् कर्म किमपि मत्तो न भवति'' इति मुद्रितपाठः.
१०. ''सङ्गे गच्छन्'' इति मुद्रितपाठः.
११. 'यच्छन्' इति मुद्रितपाठः.
१२.'परोपकारः उपदेशादिना'' इति मुद्रितपाठः.
१३.'ततः' इति मुद्रितपाठः.
१४.'प्रकृत्युत्थेन' इति मां.पाठः.
१५. 'योगो' इति मां.पाठः.
१६. 'सर्गस्वोत्पत्तिः' इति मुद्रितपाठः.
१७. ''स्वमेव अर्थम्'' इति मुद्रितपाठः.
१८. ''अलौकिकदेहो भावरूपो'' इति मुद्रितपाठः.
१९. 'अवस्थाद्वयै(क?)रसात्मकत्वात्' इति मां.पाठः.
२०. ''तत्र उद्वेगे अग्रे न तत्प्राप्तिः'' इति मुद्रितपाठः.
२१. ''भावात्मके स्वस्वरूपे यत्सुखं तद् विन्दति'' इति मुद्रितपाठः.
२२. ''ब्रह्मयोगे सद्भावात्मके'' इति मुद्रितपाठः.
२३. ''भवति. अक्षयम्'' इति मुद्रितपाठः.
२४. ''अश्नुते भुञ्जते'' इति मां. पाठः.
२५.'लौकिकार्थे' इति मुद्रितपाठः.
२६.''तएव तादृशाः अतो **हे कौन्तेय!**'' इति मुद्रितपाठः.

२७.‘तत्सम्बन्धप्रापकः’इति मुद्रितपाठः.
२८.‘भावात्मरूपयुक्तः’इति मुद्रितपाठः.
२९. ‘वियोगतासुखानुभववान्’ इति मुद्रितपाठः.
३०.‘‘सर्व एते’’ इति मां.पाठः.
३१.‘भगवत्स्वरूपज्ञानिनाम्’’ इति मुद्रितपाठः.
३२.‘स्पर्शभावरूपा’ इति मुद्रितपाठः.
३३.‘स्पर्शसंयोगेऽपि’ इति मुद्रितपाठः.
३४.‘‘भोगवत् किञ्च पुनः भ्रुवोः’’ इति मुद्रितपाठः.

V

ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः

कृत्वाऽपि सर्वसन्न्यासं जडवच्चरणादिह।
न भक्तिं प्राप्नुयात् तस्माद् ध्यानयोगम् उवाच ह।।

पूर्वाध्याये सन्न्यासम् उक्त्वा अध्यायान्ते इच्छादिविहीनो विषयमोक्षेच्छुः विषयभोक्तृत्वात् तेभ्यो विमुक्तो भवेद् इति उक्तम्; ततः तद्विमुक्तिरेव न फलं, किन्तु तद्विमुक्त्या भगवद्ध्यानेन भगवदावेशः फलम् इति ध्यानस्वरूपम् आह भगवान् **अनाश्रित**ः इति.

श्रीभगवान् उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

कर्मफलं स्वर्गादिरूपम् **अनाश्रितः कार्यं कर्म** भगवदुक्तत्वाद् अवश्यकर्तव्यं कर्म सेवादिरूपं **यः करोति स**ः **सन्न्यासी** त्यागवान् **च** पुनः **योगी** च, भवति इति शेषः. **न निरग्निः** न गार्हपत्यादित्यागवान् सन्न्यासी. **नच अक्रियः** न सेवादिरहितो योगी भवति इति अर्थः।।१।।

ननु कथम् उक्तत्यागवान् योगी न भवेद्? इति आशङ्क्य आह **यं सन्न्यासम्** इति.

यं सन्न्यासम् इति प्राहुर् योगं तं विद्धि पाण्डव!।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

यं सन्न्यासम् इति प्राहुः प्रकर्षेण सर्वात्मभावरूपेण आहुः तत्स्वरूपविदो भक्ताः ते[१] अधुना अधिकाराभावाद् न उच्यन्ते, अग्रे वाच्याः **तं हे पाण्डव! योगं** योगरूपं **विद्धि** जानीहि. 'पाण्डव' इति सम्बोधनेन ज्ञानयोग्यता निरूपिता. तस्मिन् सन्न्यासे विप्रयोगरसानुभवरूपे स्वाकांक्षितफलत्यागो भवति अतः संयोगसिद्धिः. अस्मिन् तदभावाद् न तत्सिद्धिः इति आह **न हि** इति. **असन्न्यस्तसङ्कल्पः** न त्यक्तो मानसो नियमः स्वसुखानुभवरूपो येन तादृशः कश्चन भावादिवानपि[२] **योगो न भवति**. **'हि'**इति युक्तश्च अयम् अर्थः. स्वतः[३]

स्वसुखानुभवेच्छोः प्रभुसुखानुभवेच्छा न उदेति परस्परम् उभयोः स्थितिः एकत्र न सम्भवति, अतः स्वसुखानुभवरूप-मानसनिश्चय-त्यागवान् योगी भवति इति भावः।।२।।

ननु स्वसुखानुभवसङ्कल्पत्यागः सिद्धस्य भवति, साधनदशापन्नस्य किं कर्त्तव्यम्? इत्यतः आह **आरुरुक्षोः** इति.

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणम् उच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणम् उच्यते।।३।।

योगम् आरुरुक्षोः संयोगरसप्राप्तीच्छोः **मुनेः** मननशीलस्य **कारणं कर्म** सेवात्मकम् अनुकारणरूपम् **उच्यते** कथ्यते इति अर्थः; तस्यैव सेवादिकरणेन **योगारूढस्य** संयोगरसव्याप्तमनसः **शमः** अनुकरणादिकृतिरहितभावनाप्रवण-स्थितिः कारणम् **उच्यते** कथ्यते; तत्प्राप्त्यर्थम् इति शेषः।।३।।

सः योगारूढः कथं ज्ञातव्यः? इति अतः आह **यदा हि** इति.

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।

सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

यदा इन्द्रियार्थेषु रूपादिषु उत्कटतापनिवृत्त्यर्थं स्वप्नादिप्राप्तेषु **'हि'** इति निश्चयेन पुरुषार्थरूपेण **न अनुषज्जते** न आसक्तो भवति. **न कर्मसु** तत्साधककृतिरूपेषु **अनुषज्जते** न आसक्तो भवति. **सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी** मनोनिश्चयात्मकस्वभोगेच्छादित्यागवान् यो न आसक्तो भवेत् **तदा योगारूढः** संयोगभावे प्रतिष्ठितः **उच्यते** कथ्यते इति अर्थः।।४।।

ननु कर्मसु भगवल्लीलानुकरणरूपेषु मनोहरणैकस्वभावेषु कथम् आसक्तिः न स्यात्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **उद्धरेद्** इति.

उद्धरेद् आत्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानम् अवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

आत्मना पुरुषोत्तमरूपेण **आत्मानं** जीवं कर्मभ्यः **उद्धरेद्. आत्मानं न**

अवसादयेत् तत्रैव आसक्तियुक्तं न कुर्यात्. **'हि'** युक्तश्च अयम् अर्थः. **आत्मनो** जीवस्य **आत्मैव** जीवएव **बन्धुः** हितकृत्. **आत्मनो** जीवस्य **आत्मैव** सएव **रिपुः** शत्रुः; अतः आत्मना आत्मानम् उद्धरेद् बन्धुभावेन, **न** रिपुभावेन **अवसादयेत्**।।५।।

ननु कथं सएव बन्धुः? कथं वा सएव शत्रुः? अतः आह **बन्धुः** इति.

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवात्मना जितः।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्।।६।।

येन आत्मना भावस्वरूपेण **आत्मा जितः** वशीकृतः अधिकरणादि-देहकृतिभ्यो भावरूपे स्थापितः इति अर्थः. **तस्य आत्मनः आत्मैव बन्धुः** हितकृद् भवति इति अर्थः. स्वस्य दास्यार्थे प्रकटितस्य तदुचितकरणैक-भावप्रयुक्तसन्तोषेण बन्धुः तद्भावस्वरूपएव[४] स्वाधिदैविकस्वरूपेण भवति इति भावः. **तु** पुनः. **अनात्मनो** भावस्वरूपरहितस्य **आत्मैव शत्रुवत्** शत्रुत्वे तद्भावप्रतिबन्धके वर्तेत. तथाच अयम् अर्थः, भावरहितकेवलकर्मासक्त-स्वदास्यार्थप्रकटित-प्रयोजनरहितस्वस्य स्वरूपानर्थक्य-कृतिरोषेण आधिदैविकः आत्मा अत्र कर्मसु सेवादिषु तदावेशप्रतिबन्धको भवेत्।।६।।

ननु बन्धुत्वे कथं हितकृद्भवेद्? इति अतः आह **जितात्मनः** इति.

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

जितात्मनः वशीकृतभावात्मनः. शीतोष्णसुखदुःखेषु संयोगविप्रयोगेषु **प्रशान्तस्य** संयोगे स्वसौभाग्यादिमदरहितस्य[५] विप्रयोगे क्लेशेन प्रिये दोषारोप-रहितस्य. तथा भगवतः सकाशाद् मानापमानयोः समस्य. **परमात्मा** पुरुषोत्तमः **समाहितः** तदर्थं दास्यदाने सावधानः तिष्ठति. तद्धृदयएव समाहितः तिष्ठति इति भावः।।७।।

ननु परमात्मा हृदयस्थो अस्ति इति कथं ज्ञातव्यः? इति आकाङ्क्षायाम्

आह **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा** इति.

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

ज्ञाने शास्त्ररीत्या भगवत्स्वरूपज्ञाने विज्ञाने भावात्मकस्वरूपानुभवे[६] तृप्तः संशयकोटिरहितः आत्मा अन्तःकरणं यस्य **कूटस्थः** निर्विकारः भगवच्चरणस्वरूपैकनिष्ठः **विजितेन्द्रियः** स्वभोगेच्छारहितः **युक्तो** योगारूढः इति उच्यते. **समलोष्टाश्मकाञ्चनः** मृत्पाषाणसुवर्णेषु समो भगवदाविर्भाव-स्वरूपवान्[७] **योगी** मत्संयोगवान् **उच्यते** मया इति शेषः.

अत्र अयं भावः : मृत्तिकायां भगवदङ्गसौगन्ध्यस्मरणेन सेवौपायिक-शरीराप्तितापभाववान् पाषाणे [८]भगवद्विप्रयोगजडतास्मरणेन स्वस्य तदभावतापात् तत्र स्निग्धभाववान् सौवर्णे च अलौकिककान्तिदर्शनेन रसभाववान् तथा उच्यते इति भावः।।८।।

किञ्च एतत्त्रितयएव न समः किन्तु सर्वत्रैव समबुद्धिः उत्तमः इति आह **सुहृद्** इति.

सुहृन् मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

सुहृत् सर्वहितोपदेशकृत्. **मित्रं** स्नेहपरवशः **अरिः** स्वस्मिन् शत्रुबुद्धिमान् **उदासीनो** निरपेक्षः **मध्यस्थो** विवदमानयोः सदसद्वाक्यविचारकः **द्वेष्यः** सद्भावहीनः, **बन्धुः** सम्बन्धी, एतेषु **साधुषु** सदाचारेषु. **अपिच** किं पुनः? **पापेषु** धर्मविरोधिषु **समबुद्धिः** भगवद्विप्रयोगेन भगवदात्मबुद्धिः तेषु वा तद्विप्रयोगेन तथाभावदर्शी **विशिष्यते** योगयुक्तेषु उत्तमः इति अर्थः.

अत्र अयं भावः : भगवद्विप्रयोगे तत्सौहार्दस्मरणेन अयं सर्वेषु सौहार्द-धर्मवान् तथैव च मित्रधर्मवान् तद्रहितेषु अरिबुद्धिमान्, तत्तद् दुःखेन सर्वत्रौ-दासीन्यधर्मवान्, विप्रयोगावस्थायां तदनुकरणेन मध्यस्थधर्मवान्, तथैव तत्क्लेशेन द्वेषधर्मवान् तत्सम्बन्धस्मरणेन बन्धुधर्मवान्, तदर्थं सदाचारवान्, तत्तापातिशयेन पापरूपवान् जडत्वधर्मेण; एवं यः समबुद्धिः सः विशिष्टः इति अर्थः।।९।।

एवं योगारूढस्वरूपम् उक्त्वा तस्य भावस्वरूपसिद्ध्यर्थं योगसाधन–प्रकारम् आह **‘योगी’** इत्यारभ्य **‘स योगी परमो मतः’**(भग.गीता ६।३२) इत्यन्तम्.

योगी युञ्जीत सततम् आत्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

योगी योगारूढः, **आत्मानं** भावात्मकं रूपं[१] **रहसि** एकान्ते भगवच्चिन्तनस्थाने **स्थितः** सन् समाहितः सन् **सततं युञ्जीत** भगवति युक्तं कुर्यात्. **एकाकी** सङ्गदोषरहितः. **यतचित्तात्मा** यतः वशीकृतं स्वभोगादिरहितं चित्तं भावरूपम् आत्मा देहे अधिकरणात्मको येन. **निराशीः** निर्गता मोक्षाद्याऽऽकाङ्क्षा यस्य. **अपरिग्रहः** संसर्गदुःखज्ञानेन त्यक्तपरिग्रहः सर्वापेक्षारहितः. एवं युक्तचित्तः सन् मद्ध्यानं कुर्याद् इति अर्थः।।१०।।

ससामग्रीकं ध्यानस्वरूपम् आह **शुचौ** इति चतुष्टयेन.

शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरम् आसनम् आत्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

शुचौ देशे भावात्मकवृन्दावनादौ, आत्मनो भगवतः **स्थिरम् आसनं** भावरूपं, **न अत्युच्छ्रितं** [१०]न अत्युच्चं हृदयाद् बहिः केवलक्रीडायामेव स्थितम्, **न अतिनीचं** भावरहितानुकरणात्मकम्. कीदृशम्? **चैलाजिनकुशोत्तरं** चैलं वस्त्रं भावरूपं, **‘‘स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैः’’** (भाग १०।३२।१३) इतिन्यायेन अजिनं अधिकरणदेहस्थहृदयकमलात्मकं, चैलाजिने कुशेभ्यः श्रीगोवर्धनादि–स्थिततृणादिरूपेभ्यः उत्तरे यस्मिन्. पूर्वं भावरूपतृणानि तदुपरि हृदयात्मकं तदुपरि भावात्मकं वस्त्रम् एवं **प्रतिष्ठाप्य**।।११।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगम् आत्मविशुद्धये।।१२।।

तत्र भगवत्स्वरूपे **एकाग्रं** केवलदास्यभावे अनन्यतया स्थितं **मनः कृत्वा**. यताः शान्ताः चित्तेन्द्रियक्रिया यस्य. चित्तक्रियाः स्वभोगचाञ्चल्यादयः

इन्द्रियक्रियाः स्वतापनिवृत्त्यर्थं दर्शनाद्यभिलाषाः, तादृशो भूत्वा **आसने उपविश्य** आत्मशुद्ध्यर्थं भावस्वरूपसिद्ध्यर्थं **योगं** भगवत्संयोगं **युञ्ज्याद्** अभ्यसेत्।।१२।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन् अचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

समं कायशिरोग्रीवं कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवम्. कायपदेन चरणम् आरभ्य सर्वोऽपि देहः. भक्तिमार्गानुसारेण शिरः सत्यलोकात्मकम्, ग्रीवा मुक्तिस्थानम्. **समं** यथास्थितरूपम् **अचलं** धारयन् ध्यानं कुर्वन्. स्थितः सन् स्वनासिकाग्रं **सम्प्रेक्ष्य** अर्धनिमीलितनेत्रो भावस्थः **दिशश्च अनवलोकयन्** दिग्भावज्ञानशून्यः सर्वत्र भगवद्दर्शनवान्।।१३।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर् ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

प्रशान्तात्मा भक्तिरसाभिनिविष्टचित्तः, **विगतभीः** श्रुत्यादिदुरापचरण-रेणुभगवत्प्राप्तिसन्देहरहितः. **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः** भगवदर्थेन्द्रियनिग्रहवान्. तादृशः सन् **मनः संयम्य** सर्वतः आकृष्य वशे कृत्वः **मच्चित्तो** मय्येव चित्तं यस्य. **मत्परः** अहमेव परः पुरुषार्थरूपो यस्य. एतादृशो भूत्वा युक्तः मद्योगस्थः **आसीत्** तिष्ठेत्।।१४।।

एवं योगाभ्यासकर्तुः फलम् आह **युञ्जन्** इति.

युञ्जन् एवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थाम् अधिगच्छति।।१५।।

एवं सदा निरन्तरं **नियतमानसः** दास्यैकपरचित्तः; **आत्मानं युञ्जन्**नपि, युक्तं कुर्वन्, **योगी** मद्योगवान्[११], **निर्वाणपरमां** मोक्षाधिकां **मत्संस्थां** मत्स्वरूपरसात्मिकां **शान्तिं** वियोगक्लेशादिरहितभावम् **अधिगच्छति** प्राप्नोति।।१५।।

एवं योगफलम् उक्त्वा तस्य स्थित्यर्थम् आहारादिकम् आह **न अत्यश्नतस्तु** इति.

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तम् अनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अति अश्नतः अधिकभोक्तुः देहपुष्ट्यर्थं भुञ्जानस्य **न च एकान्तं** सर्वथा अभुञ्जानस्य भगवत्स्वरूपम् अज्ञात्वा उपवासं कुर्वतः, **अतिस्वप्न–शीलस्य** निद्राशीलस्य सर्वविस्मरणैकस्वभावस्य, **जाग्रतश्च न चैव** योगो मत्संयोगोत्तरं तत्संयोगा[१२] अस्ति।।१६।।

यतः एतादृशस्य योगो न भवतीति अतो यथा योगसिद्धिः स्यात् तथोपायम् आह **युक्ताहार** इति.

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

युक्तः आहारो विहारश्च यस्य भगवत्सेवार्थकदेहपोषार्थं[१३] प्रसादं भुञ्जानस्य भगवत्सेवार्थानुकरणात्मक[१४] **कर्मसु** प्रातः आरभ्य स्नान–पाकादिरूपेषु नियुक्ता भगवदर्थैकरूपा चेष्टा यस्य **युक्तौ स्वप्नावबोधौ** भगवद्विश्रामोत्तरक्षणे सेवायां देहालस्यनिवारणार्थं स्वापः, सेवासामग्री–सम्पादनादिषु **अवबोधः**, एतादृशौ तौ यस्य. तस्य **योगो** भावात्मको मत्सङ्गात्मको **दुःखहा** तद्भावाभावतापादिहर्ता **भवति** इति अर्थः।।१७।।

ननु एवं प्रवृत्तस्य भगवद्योगसिद्धिः कदा स्याद्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **यदा** इति.

यदा विनियतं चित्तम् आत्मन्येवावतिष्ठते।
निस्स्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

यदा यस्मिन् समये भगवत्सम्बन्धलक्षणभद्रकाले **विनियतं** वशीभूतं **चित्तम् आत्मन्येव** भावात्मकस्वरूपएव **अवतिष्ठते** स्थिरं भवति **सर्वकामेभ्यो** लौकिकेभ्यो **निस्स्पृहो** विगतेच्छो भवति **तदा युक्तः इति उच्यते**. सिद्धयोगः

उच्यते इति अर्थ:।।१८।।

विनियतचित्त: कीदृग्विध: स्याद्? इति आकाङ्क्षायाम् आह **यथा** इति.

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन:।।१९।।

यथा दीपो वायुरहित-प्रदेशस्थितो **न इङ्गते** न चलति, **यतचित्तस्य आत्मनो** भगवति **योगं युञ्जतो** भावयतो **योगिन: सा उपमा स्मृता**. अत्र दीपदृष्टान्तस्य अयं भाव:, दीपस्य तापरूपत्वाद् वायोश्च शैत्यधर्मत्वात् तद्रहितदेशे तस्य नाशार्थं चाञ्चल्यं न भवति, तथा भगवद्विप्रयोगतापनिवर्तक-धर्माभावेन[१५] योगं युञ्जतो मनः चञ्चलं न भवति।।१९।।

यस्मिन् योगे मनः चञ्चलं न भवति, सः कीदृशो योग:? इति अपेक्षायाम् आह **यत्र** इति सार्धैः त्रिभि:.

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति।।२०।।

यत्र यस्याम्[१६] अवस्थायां **योगसेवया** भावात्मकसंयोगरूप-भगवत्सेवया स्वभोगादिभ्यो **निरुद्धं चित्तम् उपरमते** संयोगावस्थाभावरूपसमीपे रमते. यत्रच अवस्थाविशेषे विविधभावस्फूर्तौ आत्मना भावरूपेण **आत्मानं** भावरूपं **पश्यन् आत्मन्येव** भावरूपएव **तुष्यति** 'तं योगसंज्ञितं विद्यात्' इति तुर्यश्लोकेन(२३) श्लोकत्रयस्य अन्वय:[१७]।।२०।।

[१८]तोषोत्पत्तिप्रकारम् आह **सुखम्** इति.

सुखम् आत्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यम् अतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश् चलति तत्त्वत:।।२१।।

यत्र अवस्थाविशेषे तथाभूतसेवानुभवजाताग्रिमविविधमनोरथरूपे **आत्यन्तिकम्** अतिशयितं जीवभावप्राप्तिफलात्मकं **सुखं बुद्धिग्राह्यं** भावात्मक-स्वरूपात्मबुद्धिग्राह्यम् **अतीन्द्रियं** लौकिकेन्द्रियसम्बन्धाविषयं **यत् तद्वेत्ति. च**

पुन: अयं पुञ्जीव: यत्र अवस्थायां **तत्त्वतो** भावात्मकदास्यफले[११] रसकोटि-स्फूर्तिरहितभावेन स्थितो **नैव चलति** 'तं विद्याद्..'(२३) इति अग्रिमश्लोकेनैव सम्बन्ध:।।२१।।

ननु तत्र स्थितस्य चलनाभाव: कथम्? इति अपेक्षायाम् आह **यं लब्ध्वा** इति.

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिन् स्थितो न दु:खेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।।२२।।

यं सुखं **लब्ध्वा ततो अधिकम्** अपरं **लाभं** न **मन्यते तत**: उत्तमत्वाभावात्. **यस्मिन् स्थितो गुरुणाऽपि दु:खेन** अधिकरणात्मक-विप्रयोगादिना **न विचाल्यते**।।२२।।

तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेत्तसा।।२३।।

तं योगसंज्ञितं मद्योगसञ्ज्ञात्मकं **विद्याद्** जानीयात्. कीदृशं तं? **दु:खसंयोगवियोगं** दु:खात्मको य: संयोगो लौकिको अधिकरणदेहस्थो वा तस्य वियोगरूपम्. यतो अयं **योग:** फलसाधको अत: स कार्य इति आह सार्द्धेन **स**: इति. **स**: पूर्वोक्त: फलसाधकरूपो **योगो निश्चयेन** गुरूपदिष्टेन [२०]सन्देहरहितेन **अनिर्विण्णेन** दु:खज्ञानजप्रपत्तिशैथिल्येन हितेन[२१] मनसा **योक्तव्य:** कर्तव्यः इति अर्थ:।।२३।।

सङ्कल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषत:।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्तत:।।२४।।

किञ्च **सङ्कल्पप्रभवान्** स्वभोगार्थकस्वमनोनिश्चयजातान्[२२] **कामान्** स्वरमणेच्छादिरूपान् **सर्वान्** भावानन्तरमपि स्वेङ्गितज्ञरूपान् **अशेषत:** फलाभावज्ञानेन[२३] **त्यक्त्वा मनसैव इन्द्रियग्रामं नियम्य** भगवदंशात्मक-लावण्यादिरसान् पश्यन् **मनसैव** स्वार्थभोगरूपेणैव तत: विषयेभ्यो **विनियम्य** वशे

संस्थाप्य योगो योक्तव्यः इति अर्थः।।२४।।

ननु कथम् इन्द्रियग्रामं [२४]विनिमयेद् इति अपेक्षयाम् आह **शनैः शनैः** इति.

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

धृतिगृहीतया वियोगतापादिदुःखसहनशीलधैर्यगृहीतया **बुद्ध्या** मनः **आत्मसंस्थं** भावात्मकस्थितं **कृत्वा शनैः शनैः उपरमेत्** स्वभोगादिरूपेभ्यः[२५] उपशमयेत्. कथम् उपरतिः भवेद्? इति अतः आह **न किञ्चिदपि चिन्तयेद्** इति. भावात्मकस्वरूपातिरिक्तं किञ्चिदपि न चिन्तयेद् न भावयेत्।।२५।।

'शनैः शनैः'इत्युक्तेः स्वरूपम् आह **यतः** इति.

यतो-यतो निश्चरति मनश्चञ्चलम् अस्थिरम्।

ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

मनो यतो यतः स्वभावतः **चञ्चलम् अस्थिरं** यं यं प्रति निश्चलति **ततः ततो नियम्य** वशीकृत्य एतन्मनः **आत्मन्येव** भावात्मके भगवत्येव **वशं नयेत्** प्रापयेत्.

अत्र अयं भावः **:** पूर्वं यत्र स्थितं मनः ततो अन्यत्र वैशिष्ट्यबुद्ध्या ततो निर्गत्य [२६]अपगच्छति. तत्रापि स्वचाञ्चल्यधर्मेण न स्थिरीभविष्यति तस्माद् भगवत्स्वरूपतो अन्यत्र उत्तमत्वाभावाद् न अग्रे चलिष्यति अतो अन्यतो[२७] वशीकृत्य भगवति स्थापयेत्।।२६।।

एवम्भावात्मके भगवति मनस्स्थैर्ये यत्फलं स्यात् तद् आह **प्रशान्तमनसम्** इति.

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतम् अकल्मषम्।।२७।।

प्रशान्तमनसं भगवति स्थिरमनसम् **एनं योगिनं शान्तरजसं**

विक्षेपदोषरहितम् **उत्तमं सुखं ब्रह्मभूतं** भगवद्रसात्मकम् **अकल्मषं** स्वभोगादिसुख–दोषरहितम् **उपैति**।।२७।।

एवं सुखाप्तौ किं स्याद्? इति अतः आह **युञ्जन्** इति.

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखम् अश्नुते।।२८।।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **सदा** भगवति **आत्मानं** भावात्मकं **युञ्जन् योगी विगतकल्मषः** स्यात्. ततः प्राप्तेन अनेन सुखेन **ब्रह्मसंस्पर्शं** भगवच्–चरणारविन्दसंवाहनादिसेवारूपम् **अत्यन्तं सुखं** दास्यात्मकम् **अश्नुते** भुञ्जते इति अर्थः।।२८।।

ब्रह्मसंस्पर्शसुखं स्पष्टयति **सर्वभूतस्थम्** इति.

सर्वभूतस्थम् आत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

योगयुक्तात्मा भगवत्संयोगयुक्तः आत्मा **सर्वत्र** संयोगविप्रयोगभावे **समदर्शनः** आत्मानं भगवन्तं **सर्वभूतस्थं** विप्रयोगावस्थायां **च** पुनः **आत्मनि** भगवत्स्वरूपे संयोगावस्थायां **सर्वभूतानि** सेवास्थितानि **ईक्षते** पश्यति इति अर्थः एतेन भगवत्स्वरूपज्ञानात्मकं सुखम्[२८] उक्तम् इति भावः।।२९।।

एवं स्वरूपज्ञानफलम् आह **यो माम्** इति.

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

यः सर्वत्र जीवेषु वियोगावस्थायां **मां पश्यति** संयोगावस्थायां मयि सर्वं **पश्यति, तस्य अहं न प्रणश्यामि** न कदाचिदपि वियुक्तो भवामि. **सच मे** मत्तः **न प्रणश्यति** न वियुक्तो भवति इति अर्थः।।३०।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

किञ्च **यः सर्वभूतस्थितं** सर्वजीवेषु रसभोगार्थं वा अलौकिकेषु निरोधार्थं स्थितम् **एकत्वं** भगवदीयत्वेन सजातीयत्वम् **आस्थितः मां भजति, सः योगी** उच्यते. अथवा सर्वथा तेषु दास्यादिभाव-शिक्षणार्थं वर्त्तमानो य**: सः मयि वर्तते** मत्स्वरूपे तिष्ठति इति अर्थः।।३१।।

ननु सर्वत्र कथम् एकात्मत्वेन वर्तते? इत्यतः आह **आत्मौपम्येन** इति.

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन यथा स्वस्य कृपया संयोग-रसाप्तौ **सुखं** वियोग-रसाप्तौ **दुःखं** तथा **सर्वत्र** सर्वजीवेषु **सुखं यदि वा दुःखं समं यः पश्यति सः योगी** मम **परम उत्कृष्टो मतो** अभिमतः इति अर्थः.

अत्र अयं भावः **:** यो अलौकिकसुखदुःखाभिनिविष्टेष्वपि जीवेषु यथा स्वस्य तदंशलेशज्ञानेन सुखदुःखरसानुभवो भवति तथैव सर्वेषामपि अस्ति एवं यस्य सर्वत्र अलौकिकस्फूर्तिः स्यात् सः उत्तमः इति भावः।।३२।।

उक्तभावसिद्ध्यर्थं साधनम् अर्जुनः पृच्छति **यो अयं योग**ः इति.

अर्जुनः उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन!।

एतस्याहं न पश्यामि

चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

हे मधुसूदन! दुष्टनिराकरणसमर्थः **यो अयं योग**ः **त्वया साम्येन** सुखदुःखसाम्येन स्वसाम्येन सर्वेषु **प्रोक्तः. एतस्य** योगस्य **अहम्** अभिमानयुक्तत्वाद् मनसः चञ्चलत्वात् **स्थितिं स्थिरां** निश्चलां **न पश्यामि**।।३३।।

मनसः चाञ्चल्यमेव आह **चञ्चलं हि** इति.

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्ण सदानन्द **मनो 'हि'** इति निश्चयेन **चञ्चलं** स्वभावतएव चपलम्, अन्यथा सदानन्दोक्तौ कथं पुनः प्रश्नार्थम् अहम् उद्युक्तः? इति 'कृष्ण'इति सम्बोधनेन ज्ञापितम्. किञ्च **प्रमाथि** प्रकर्षेण मथनशीलं इन्द्रियक्षोभकम्. किञ्च **बलवद्** अतिप्रबलं ज्ञानादिवचनासाध्यम्. किञ्च **दृढं** स्वविषयानुरागात्यागस्वभावम्. **तस्य** मनसो **निग्रहं** वशीकरणं आकाशे दोधूयमानस्य स्वसुखार्थं तापनिवारणाय गृहादिषु **वायोरिव** निरोधनं **सुदुष्करं** सर्वथा कर्त्तुम् अशक्यम् अहं मन्ये. यद्वा वायोः प्राणवायोः गच्छतो निरोधम् अशक्यं मन्ये इति भावः।।३४।।

एवम् अर्जुनोक्त-चञ्चलत्वादिकम् अङ्गीकृत्य तन्निग्रहसाधनम् आह भगवान् श्रीभगवान् उवाच **असंशयम्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

हे महाबाहो क्रियाशक्तिसमर्थ **मनो दुर्निग्रहं** चञ्चलं यद् वदसि तद् **असंशयं** निस्सन्दिग्धं तादृशमेव अस्तु. **तु** पुनः तथापि **कौन्तेय!** मदुक्तिविश्वसनैकयोग्य भक्तपुत्र **अभ्यासेन यतो यतो निश्चलति**(२६) इति पूर्वोक्तप्रकारेण अन्यत्र हीनत्वज्ञानपूर्वकमपि उत्तमज्ञानेन चाञ्चल्यानुसरणप्रकारेण गृह्यते. **च** पुनः. तथा ज्ञानेन मत्सम्बन्धातिरिक्तेषु **वैराग्येण गृह्यते** वशीक्रियते इति अर्थः।।३५।।

अथ यो मनः चञ्चलम् इति ज्ञात्वा अभ्यास-वैराग्ययोः यत्ननिरपेक्षः सः न आप्नोति इति आह **असंयतात्मना** इति.

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुम् उपायतः।।३६।।

असंयतात्मना उक्तप्रकारेण अभ्यास–वैराग्याभ्याम् असंयतः अवशीकृतः आत्मा अन्तः करणं यस्य तेन **योगो** मत्संयोगात्मको **दुष्प्रापः** दुःखेनापि प्राप्तुम् अशक्यः. **वश्यात्मनातु** अभ्यास–वैराग्यवशीकृतचित्तेन[२९] **यतता** मत्संयोगार्थं यत्नं कुर्वता उपायतो अवाप्तुं प्राप्तुं शक्यः[३०] **इति मे मतिः**. अत्र स्वमतित्वकथनेन मदुक्तिविश्वासपूर्वकं यो यतेत, तस्य अवश्यं मया संयोगः फलदानं कर्तुं मनोनिग्रहः करणीयः इति व्यञ्जितम्।।३६।।

अथ भवदुक्तिविश्वासेन केवलं श्रद्धया अभ्यास–वैराग्यरहितो यत्नं कुर्वन् पश्चात्सिद्धिं प्राप्नोति न वा? इति प्रभुं विज्ञापयति अर्जुनः **अयतिः** इति.

अर्जुनः उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगात् चलितमानसः।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

श्रद्धया भवदुक्तिश्रद्धामात्रतः **उपेतो** भगवत्संयोगात्मकयोगार्थे प्रवृत्तः **अयतिः** अभ्यास–वैराग्ययोः शिथिलप्रत्यनः स्वरूपज्ञानाभावाद् **योगात् चलितमानसो** भवति. ततो योगसिद्धिमपि न प्राप्नुयात् तद् आह **योगसंसिद्धिम् अप्राप्य कृष्ण!** सदानन्द त्वदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य सिद्धिरेव उचितेति विज्ञाप्य **कां गतिं गच्छति?** इति पृष्टवान्।।३७।।

स्वबुद्धिपरिकल्पित–सन्देहविनिवृत्त्यर्थं स्वबुद्धिसन्देहमेव विवृणोति **कच्चिद्** इति.

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः छिन्नाभ्रमिव नश्यति।

अप्रतिष्ठो महाबाहो! विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

पूर्वप्रवृत्तकर्मादित्यागेन योगमार्गे **अप्रतिष्ठो** निराश्रयः. अभ्यासाभावेन स्वरूपाज्ञानाद् **ब्रह्मणः पथि** भगवत्प्राप्त्येकयत्नमार्गे **विमूढो** वैराग्याभावात्. **हे महाबाहो!** सर्वकृपाकरणसमर्थ एवम् **उभयविभ्रष्टः** सन् **छिन्नाभ्रमिव** यथा छिन्नम् अभ्रं पूर्वाभ्राद्वियुक्तम् अभ्रान्तरामिलितं सन्मध्यएव **विनश्यति** तथा पूर्वधर्मत्यागेन स्वधर्मोपार्जित–मोक्षफलरहितो भगवन्मार्गस्वरूपाज्ञानात् स्वरूप–

संयोगरहितो जीवस्वरूपाप्तिभावरहित: कच्चिद् नो नश्यति?।।३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण! छेत्तुम् अर्हस्यशेषत:।
त्वदन्य: संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

हे कृष्ण![३१] संशयनाशेन सदानन्ददानसमर्थ **एतन्मे संशयं** मन्मनोगतसंशयम्. सतु न नश्यत्येव त्वदुक्तिविश्वासात् परं मत्संशयम् **अशेषत:** सोपपत्तिकाज्ञारूपवाक्यैः **छेत्तुं** दूरीकर्तुम् **अर्हसि**. ननु अन्यत्र गुर्वादिषु भक्तेषु च विज्ञाप्य संशयं दूरीकुरु इत्यतः आह **त्वदन्यः** इति. अस्य मद्गतस्य त्वदेकवाक्यैकनिष्ठस्य मम संशयस्य **छेत्ता त्वदन्य:** त्वां विना **हि** निश्चयेन **अन्यो न उपपद्यते**।।३९।।

एवं निश्चयात्मकम् अर्जुनस्य संशयवाक्यं श्रुत्वा भगवान् उत्तरम् आह[३२] **पार्थ** इति.

श्रीभगवान् उवाच

पार्थ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति।।४०।।

हे पार्थ! तथासंशयानर्ह **इह** लोके पूर्वत्यक्तकर्मानुकरणविहित–धर्मभक्त्यादौ, **अमुत्र** लोके परदास्यादिरूपे **तस्य** मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य **विनाश:** विशेषेण नाशो मददर्शनं **न विद्यते**. श्रद्धया मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तौ कथं नाश: स्याद्? यतो असाधारण्येन उत्तमकृतिप्रवृत्तस्य नाशो न भवति इति आह **न हि** इति. भक्तपुत्रत्वात् बालकत्वेन[३३] **तात!** इति सम्बोध्य उपदिष्टम्. **कल्याणकृद्** धर्मादिबुद्ध्या फलेच्छासाधारण्येन शुभकृद् **'हि'** इति निश्चयेन **दुर्गतिं न गच्छति**. तत्र श्रद्धया अत्र प्रवृत्त: कथं नश्येद् इति अर्थ:।।४०।।

एवं नाशाभावम् उक्त्वा तस्य गतिस्वरूपम् आह **प्राप्य** इति.

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

सः **योगभ्रष्टः** स्वरूपाज्ञानाद् अभ्यासवैराग्याभावाद् अभ्यस्यमान-मार्गाद् भ्रष्टः **पुण्यकृतां** यज्ञादिकारिणां **लोकान्** श्रद्धामात्रप्रवृत्तिसाधनेन तत्फलभोग-विचिकित्साजनितपूर्वप्रवृत्तमार्गस्वरूपज्ञानार्थं प्राप्य तत्र **शाश्वतीः समाः** बहून् संवत्सरान् **उषित्वा** स्थित्वा, तत्फलभोगं कृत्वा, तत्र विचिकित्सया अभावकेन मनसा पूर्वश्रद्धासाधनेनैव भगवति[३४] जन्मप्रार्थनया **शुचीनां** कापट्यादिदोषरहितानां **श्रीमतां** भगवच्छोभायुक्तानां **भक्तानां गृहे अभिजायते** जन्म प्राप्नोति. उपसर्गेण सरतिपूर्वकं प्राप्तिः ज्ञापिता।।४१।।

पक्षान्तरमाह **अथवा** इति.

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुलर्भतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा धीमतां स्वरूपज्ञानवतां **योगिनां** मत्संयोगवतां[३५] **कुले भवति** जन्म प्राप्नोति. धीमत्त्वोक्त्या तत्कुलप्रसूतिमात्रेण ज्ञानोत्पत्तिः व्यञ्जिता. जन्म[३६] विशिनष्टि **एतद्** इति. **'हि'** इति निश्चयेन **एतद् दुर्लभतरं** यद् **लोके ईदृशं** भगवत्स्वरूप-ज्ञानात्मकं **जन्म**।।४२।।

तादृश-जन्मानन्तरं किं स्याद्? इत्यतः आह **तत्र तम्** इति.

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च यतो ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

तत्र तस्मिन् जन्मद्वयेऽपि **तं पौर्वदेहिकं** भगवत्कृपालब्धजीव-भावानन्तरप्राप्तं प्रथमदेहसम्बन्धिनं[३७] **बुद्धिसंयोगं** भगवत्सेवार्थप्रकटितज्ञानरूपं भगवदीयकुलजन्ममात्रेण **लभते**. **'च'** पुनः **तं** लब्ध्वा भूयः [३८]**संसिद्धौ** सम्यक् सिद्ध्यर्थं तथा भगवत्प्राप्त्यर्थं **यतते** यत्नं करोति. **कुरुनन्दन!** इति सम्बोधनं विश्वासार्थम्।।४३।।

ननु भूयोऽपि यत्ने पूर्ववदेव चेत् स्यात् तदा किं जन्मना यत्नेन च इति आशङ्क्य आह **पूर्वाभ्यासेन** इति.

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

तेनैव पूर्वाभ्यासेन श्रद्धामयेन[३९] **अवशोऽपि** तादृक्कुलजन्मप्राप्त्या कुलरीत्याऽपि अन्यभावेभ्यो **ह्रीयते** परावर्त्तते; भगवत्संयोगरसनिष्ठः क्रियते इति भावः. ननु पूर्वप्रवृत्त्या श्रद्धायुक्तया चेद् न सिद्धिः अभूत् तदा कथम् इदानीं तेनैव साधनेन सिद्धिः भविष्यति? इति आशङ्क्य आह **जिज्ञासुरपि** इति. **योगस्य** स्वरूपजिज्ञासुरेव **शब्दब्रह्म** नामरूपात्मकं विप्रयोगसामयिकजीवनहेतुरूपम् **अतिवर्त्तते** अतिक्रामति[४०]. परमक्लेशाविर्भावेन गुणगानादित्यागेन लौकिक-देहत्यागेन अलौकिकं देहम् आप्नोति इति भावः. तथाच अयम् अर्थः : पूर्वं श्रद्धया[४१] प्रवृत्तस्तु योगजिज्ञासया न प्रवृत्तः किन्तु साधारण्येन वाक्यश्रद्धयैव प्रवृत्तो[४२] तेन सिद्धिः अभूत्. अधुनातु उत्तमकुलजन्माप्त्या तत्स्वरूपं कुरुते अतः प्राप्स्यतीति।।४४।।

एतादृशकुलजन्मभावेऽपि यत्नवान् प्राप्नुयात् तत्र तादृक्कुलोत्पन्नप्राप्तौ किं वक्तव्यम्? इति आह **प्रयत्नाद्** इति.

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।

अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम्।।४५।।

यः सामान्यो नतु तादृशजन्मवानेव **प्रयत्नाद् यतमानः संशुद्धकिल्बिषः** तद्भावज्ञानप्रतिबन्धपापरहितो **योगी** योगस्वरूपज्ञानवान् भवति. **तु** पुनः. **अनेकजन्मसंसिद्धः** अनेकजन्मभिः यतमानः सन् संसिद्धः प्राप्तयोगस्वरूपो[४३] भवति. **ततः परां गतिं** दास्यरूपां **याति** प्राप्नोति इति अर्थः. यतो मत्संयोगात्मको योगः उत्तमः तस्मात् त्वं योगी भव इति।।४५।।

योगस्य सर्वाधिकत्वं प्रतिपादयन्नेव आह **तपस्विभ्यः** इति.

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन!।।४६।।

तपस्विभ्यः योगस्वरूपाज्ञाने तदभिलाषाभावेन केवलक्लेश-

सहनशीलेभ्यो **योगी अधिकः**. किञ्च **ज्ञानिभ्यः** ज्ञानेन सन्न्यासादिधर्म-युक्तेभ्योऽपि योगी **अधिको मतः** मे अभिमतः. ज्ञानी च पुनः **कर्मिभ्यो** यज्ञनित्यादि-निष्ठेभ्यो योगी **अधिको** मतः. **तस्माद् हे अर्जुन** मत्स्नेहैकयोग्य त्वं **योगी भव** [४४]उक्तयोगनिष्ठो भव इति अर्थः।।४६।।

योगिनोऽपि बहुविधाः इति तन्मध्ये दास्यधर्मेण भजनवान् उत्तमः इति आह **योगिनामपि** इति.

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सर्वेषामपि योगिनां मध्ये योगिनः त्रिविधाः; योगाभ्यासेन भगवद्ध्याननिष्ठाः भक्तियोगेन साधनसेवनपराः रसात्मकस्वसंयोग-भावनिष्ठाः तन्मध्ये **मद्गतेन अन्तरात्मना** भावात्मकस्वरूपेण मम स्वशक्ति-संयोगेच्छारूपयोगेन मदर्थं **श्रद्धावान्** [४५]प्रेमयुक्तो **यो मां भजते सः मे** मम **युक्ततमः** अत्यन्तं युक्तः प्रियो **मतो** अभिमतः इति अर्थः. अतः तथाभावेन त्वं योगी भव इति भावः।।४७।।

दास्यात्मकस्वयोगेन भक्तिमार्गभ्रमं[४६] हि यः।
नाशयामास पार्थस्य स मे कृष्णः प्रसीदतु।।१।।

इति श्रीगीतामृततरङ्गिण्यां षष्ठोऽध्यायः

पाठभेदाः

१. 'सोऽधुना' इति मां.पाठः.
२.'भावादिमानपि' इति मुद्रितपाठः.
३.'यतः' इति मुद्रितपाठः.
४.'तद्भावस्थएव' इति मां.पाठः.
५.''स्वसौभाग्यादिमदर्थः. तस्य विप्रयोगे'' इति मां.पाठः.
६.'भावात्मकत्वरूपानुभवे' इति मुद्रितपाठः.
७. 'भगवदीयभावरूपवान् योगी' इति मुद्रितपाठः.

८.‘‘भगवद्विप्रयोगजजनास्मरणेन स्वस्य दत्तभावतापात्तत्र संस्निग्धभाववान् वालौकिक...’’ इति मां.पाठः.

९. ‘भावात्मस्वरूपम्’ इति मां.पाठः.

१०.‘‘नात्युच्छ्रितं हृदयाद्’’ इति मुद्रितपाठः.

११.‘‘मयि योगवान्’’ इति मुद्रितपाठः.

१२.‘‘योगो मत्संयोगो’’ इति मुद्रितपाठः.

१३.‘...सेवार्थदेह’ इति मुद्रितपाठः.

१४.‘‘भगवत्सेवार्थानुकरणात्मकाभ्यासात्मकगतेः कर्मसु’’ इति मां.पाठः.

१५...‘धर्मभावेन’ इति मुद्रितपाठः.

१६.‘यस्मिन्’ इति मुद्रितपाठः.

१७. ‘‘इति तुर्ये श्लोकत्रयस्य’’ इति मुद्रितपाठः.

१८.‘‘तेषाम् उत्पत्तिप्रकारम्’’ इति मुद्रितपाठः.

१९.‘दास्यफलेतरकोटि’ इति मां.पाठः.

२०.‘‘गुरूपदिष्टेन अनिर्विण्णेन’’ इति मुद्रितपाठः.

२१.‘...शैथिल्यरहितेन’ इति मां.पाठः.

२२.‘...निश्चयजान् कामान्’ इति मुद्रितपाठः.

२३.‘फलाभावज्ञाने त्यक्त्वा’ इति मुद्रितपाठः.

२४. ‘विनियच्छेद्’ इति मुद्रितपाठः.

२५. ‘स्वभोगरूपेभ्यः’इति मुद्रितपाठः.

२६. ‘‘निर्गत्याऽत्र गच्छति’’ इति मां.पाठः.

२७. ‘‘अग्रे च चलिष्यतोऽन्यतो वशीकृत्य’’ इति मां.पाठः.

२८. ‘...ज्ञानात्मसुखम्’ इति मुद्रितपाठः.

२९. ‘‘...कृतयत्नेन’’ इति मुद्रितपाठः.

३०. ‘‘अवाप्तुं शक्यः’’ इति मुद्रितपाठः.

३१. ‘‘कृष्ण! दास्येन’’ इति मुद्रितपाठः.

३२. ‘‘भगवान् तम् आह’’ इति मुद्रितपाठः.

३३. ‘‘भक्तत्वात् स्वबालकत्वेन’’ इतिमुद्रितपाठः.

३४. ‘भवति’ इति मुद्रितपाठः.

३५.‘‘पक्षान्तरम् आह अथवा धीमतां स्वरूपज्ञानवतां कुले’’ इति मुद्रितपाठः.

३६. ‘तज्जन्मनि’ इति मां.पाठः.

३७. ‘प्रथमदेहि...’ इति मां.पाठः.

३८. ‘सिद्धौ’ इति मुद्रितपाठः.

३९. ‘अश्रद्धामयेन’ इति मां.पाठः.

४०. ‘अतिवर्त्तते अतिक्रमति’’ इति मां.पाठः.
४१.‘पूर्वश्रद्धया’ इति मुद्रितपाठः.
४२. ‘प्रवृत्तौ’इति मुद्रितपाठः.
४३. ‘‘सन् सिद्धः प्राप्तयोगरूपो’’ इति मुद्रितपाठः.
४४. ‘युक्त योगनिष्ठो’ इति मुद्रितपाठः.
४५. ‘‘सप्रेम: य: मां भजते’’ इति मां.पाठः.
४६. ‘‘योगमार्गभ्रमं हि य:’’ इति मां.पाठः.

V

ज्ञानविज्ञानयोगाख्यः सप्तमो अध्यायः

भगवद्योगयुक्तात्मा युक्तो रूपप्रबोधने।
अतः पार्थाय श्रीकृष्णः स्वरूपज्ञानमुक्तवान्।।१।।

पूर्वाध्यायान्ते **"श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः"** (६।४७) इति योगसहितस्वभजनकर्त्तुः उत्तमत्वं स्वाभिमतत्वम् उक्तं, तत्र स्वरूपाज्ञाने भजनं न भवेत्, तज्ज्ञानं च योगज्ञानोत्तरभावीति योगस्वरूपम् उक्त्वा अथ भजनार्थं स्वरूपज्ञानम् आह श्रीभगवान् **मय्यासक्तमना** इति.

श्रीभगवान् उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ! योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

हे पार्थ! एतच्छ्रवणयोग्य **मदाश्रयः** मदर्थमेव अनन्यशरणः सन् मत्क्रीडार्थं संयोगार्थम् आश्रयं कृत्वा **योगं युञ्जन्** दास्याभ्यासं कुर्वन् **असंशयं** संशयरहितं यथा स्यात् तथा **समग्रं** संयोगात्मकं सर्वरससहितं **मां यथा ज्ञास्यसि तद्** इदम् अग्रे वक्ष्यमाणं ज्ञानस्वरूपं मय्यासक्तमनाः मयि आसक्तं स्वापेक्षारहितं मत्सुखाभिलाषिमनाः **शृणु**।।१।।

ननु योगस्वरूपनिरूपणे पूर्वमपि स्वरूपज्ञानम् उक्तमेव पुनः एतज्ज्ञानं किंरूपम्? इति आशङ्क्य आह **ज्ञानं ते अहम्** इति.

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते।।२।।

अहं पुरुषोत्तमः **ते** तव त्वदर्थं **ज्ञानं** शास्त्रोक्तप्रकारेण मत्स्वरूपविषयम्, **अशेषतः** सम्पूर्णं लीलादिसहितं **वक्ष्यामि**. कीदृशं तत्? **सविज्ञानं** स्वरूपानुभवसहितम्. अनुभवस्वरूपमेव आह **इदम्** इति अनुभूयमानस्व-स्वरूपात्मकम्. एतज्ज्ञानानन्तरं पुनः अन्यद् ज्ञेयं नास्ति इति आह **यद्** इति. यत् स्वस्वरूपानुभवसहितं स्वस्वरूपं **ज्ञात्वा इह** अस्मिन् मद्भक्तिमार्गे भरतखण्डे अस्मिन् मनुष्यजन्मनि वा **ज्ञातव्यं न अवशिष्यते**. एतज्ज्ञानेनैव दास्यानुभवो भवति इति अर्थः।।२।।

ज्ञातव्यं कुतो न अवशिष्यते? इत्यतः आह **मनुष्याणाम्** इति.

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिद् मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

पूर्वन्तु भगवत्सन्निधानाद् निस्सृतानां जीवानां मध्ये मनुष्यत्वं प्राप्तानामेव भजनाधिकारः तत्प्राप्तिश्च दास्यदानानुग्रहैकसाध्या, तत्प्राप्त्यनन्तरं च भावार्थं समर्पितस्य देहस्य तदाप्त्यर्थं लीलया प्राकट्यम् अतिदुर्लभं, तत्रापि भावसेवया प्रीतेन भगवदुक्त-स्वस्वरूपज्ञानम् अतिदुर्लभम्. एतत्सर्वसिद्धिः यज्ज्ञानेन भवति तज्ज्ञाने न किञ्चिद् अवशिष्यते; तद् आह **मनुष्याणां सहस्रेषु** भजनौपायिक-प्राप्तदेहानां **सहस्रेषु** असङ्ख्यातेषु **कश्चिद्** दुर्लभो मदनुग्रहैकरूपः **सिद्धये** मत्सिद्धिस्वरूपनिमित्तं या सिद्धिः द्वितीयस्कन्धे(अ.१) उक्ता तदर्थं **यतति** यत्नवान् भवति. **यततामपि** यत्नं कुर्वतामपि **सिद्धानां** मध्ये **कश्चित्** स्वरमणेच्छादिभावरहितः तत्स्वरूपात्मकधाम-रममाणं **मां तत्त्वतः** तदनुग्रहैकलभ्यत्वेन **वेत्ति** जानाति. यतः एतज्ज्ञानम् अतिदुर्लभम्. यज्ज्ञानानन्तरं न किञ्चिद् अवशिष्यते तन्मया त्वदर्थम् उच्यते इति भावः।।३।।

एवं सावधानतया श्रोतव्यत्वेन अर्जुनं बोधयित्वा पूर्वप्रतिज्ञात-स्वस्वरूपज्ञानार्थं स्वस्य सर्वकर्तृत्वं सर्वस्वरूपत्वं च आह **भूमिः आपः** इत्यादिभिः.

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम् एवं पञ्च महाभूतानि. **मनः** सङ्कल्पादिसाधनम्, **बुद्धिः** ज्ञानात्मिका, **अहङ्कारो** अभिमानादिरूपः इति. अनेन प्रकारेण **इयं मे अष्टधा प्रकृतिः** माया भिन्ना विभागं प्राप्ता. लौकिककार्यार्थम् इति भावः।।४।।

तदेव आह **अपरा** इति.

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

इयम् अपरा नीचा इति अर्थः. **तु** पुनः. **हे महाबाहो!** क्रियासमर्थ एतज्ज्ञानयोग्य **इतः** सकाशाद् **अन्यां** पराम् उत्कृष्टां **जीवभूतां मे प्रकृतिं विद्धि** जानीहि. परत्वमेव आह **यया इदम्** इति. **यया इदं** परिदृश्यमानं **जगद् धार्यते** ध्रियते पोष्यते च.

अत्र अयं भावः **:** भगवान् स्वक्रीडार्थं जगत् सृजति. तत्र प्रकृत्या स्वशक्त्या क्रीडाधिकरणभूतजगत्सृष्टिं विधाय तद्भोगार्थं क्रीडार्थकया[१] स्वशक्त्या तद्रूपजीवसृष्टिं कृतवान्. तया इदं पूर्वकृतं भोगादिरूपेण धार्यते. तस्माद् लौकिकसृष्टौ जीवरूपेण भगवान् भोगं कुर्वन् क्रीडतीति ज्ञानेन तस्यां बन्धो न स्यात्. एतत्स्वरूपज्ञानाद् रसानुकरणज्ञानं स्याद् इति भावः.

यद्वा या पूर्वम् अष्टधा उक्ता सा अपरा प्रकृतिः शक्तिः क्रीडार्थं शक्त्यंशभूता इति भावः. संयोगविलासे अनेकधा रसोत्पत्त्यर्थम् आविर्भूता इति अर्थः. अतएव भिन्ना तद्विलासेच्छया जाता इतः सकाशाद् अन्या विप्रयोगे तदन्वेषणार्थं पुनः दास्यरससिद्ध्यर्थम् आविर्भूता जीवभूता दास्यरूपा या मच्छक्तिः तां परां केवलमदंशाम् उत्कृष्टां जानीहि. उत्कृष्टरूपतामेव आह **यया इदं** जडात्मकं **जगद् धार्यते** जीवप्राकट्यानन्तरं तद्भावेन सर्वं क्रीडौपयिकत्वेन पोष्यते इति भावः।।५।।

एतज्ज्ञानेन किं स्याद् इत्यतः आह **एतद्** इति.

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

सर्वाणि भूतानि स्थावर-जङ्गमात्मकानि **एतद्योनीनि** एते प्रकृती योनी कारणरूपे येषां तथा **तदुपधारय** उप समीपे हृदये पोषय. एतद्योनिज्ञानेन मत्क्रीडौपयिकत्वं सर्वेषु भविष्यति इति भावः. यतः तद्योनीनि सर्वाणि, ते च मदंशे, अतः **कृत्स्नस्य** सम्पूर्णस्य **जगतो अहं प्रभवः** प्रकर्षेण भवति अस्माद् इति प्रभवः उत्पत्तिस्थानं मूलकारणम् इति अर्थः. **तथा** प्रकर्षेण लीयते अनेन इति लयस्थानं प्रलयकर्तापि अहमेव इति अर्थः।।६।।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिद् अस्ति धनञ्जय!।

मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

यतः उत्पत्तिप्रलयकारणम् अहमेव अतो **हे धनञ्जय!** मद्विभूतिरूप एतज्ज्ञानयोग्य **मत्तः परतरं** श्रेष्ठं जगद् जगति वा **किञ्चिद्** ''अहं सः'' इति भेदेनापि **अन्यन् नास्ति.** एवम् उत्पत्तिप्रलयकारणेन स्वतः उत्तमत्वाभावम् अन्यस्य उक्त्वा स्थितिहेतुत्वेनापि तथा त्वमेवेति स्वस्य स्थितिहेतुत्वम् आह **मयि** इति. **इदं सर्वं** जगद् **मयि प्रोतं** ग्रथितं मदाश्रयत्वेन तिष्ठति इति अर्थः. अत्र दृष्टान्तम् आह सूत्रे प्रोता **मणिगणाइव**.

अत्र अयं भावः **:** मणिगणाः क्रीडास्थजीवाधिदैविकरूपाः यथा मयि तिष्ठन्ति तथा इदं जगदपि आधिदैविकं मयि तिष्ठति इति भावः।।७।।

आधिदैविकरूपेण जगतः स्थितिं स्वस्मिन् आह **रसो अहम्** इति पञ्चभिः.

रसोऽहम् अप्सु कौन्तेय! प्रभाऽस्मि शशि-सूर्ययोः।

प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

हे कौन्तेय! मद्भक्त एतज्ज्ञानयोग्य **अहम् अप्सु** जलेषु रसरूपः. जले शैत्याद्याह्लादकानन्दादिगुणो मद्रूपस्थरसांशसम्बन्धाद् आविर्भवति इति अर्थः. तथा **शशि-सूर्ययोः प्रभा** प्रकाशकतेजोरूपो **अस्मि**; मद्रूपस्थसंयोग-विप्रयोगानन्दरूप-तेजस्सम्बन्धेन उभयोः तद्रूपानन्दप्रकाशकत्वं भवति इति भावः. **सर्ववेदेषु** शब्दरसात्मके प्रणवे च ओङ्कारत्रिरूपाक्षररूपो अस्मि शक्तिद्वय-सहितपुरुषरूपो अस्मि तत्सम्बन्धेनैव वेदशब्देषु रसरूपता अतएव श्रुतीनां भावोत्पत्तिः. **खे** आकाशे शब्दरूपो अस्मि.

अत्र अयं भावः **:** आकाशस्वरूपा-त्मकभगवद्वेणुसम्बन्धेन शब्देषु आनन्दरूपत्वं भवति. **नृषु** मनुष्येषु पौरुषांशत्वम्, पुरुषांशानामेव भजनयोग्यतेति तत्सम्बन्धेनैव सर्वमनुष्याणाम् उत्तमत्वम् उच्यते इति भावः।।८।।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

च पुनः **पृथिव्यां पुण्यो गन्धो अस्मि** येन गन्धेन पुलिन्द्यादिवद्[२]

भगवद्रसोत्पत्तिः स्यात्; सः पुण्यरूपो गन्धः तत्सम्बन्धेन पृथिव्या गन्धवत्त्वं तद्वत्त्वेन अत्रत्य आमोदेन आह्लादकवृन्दावनाधारत्वादिकं[३] च इति भावः. तथा **विभावसौ** अग्नौ यत् **तेजः** तापकत्वं कान्तिः तद् अहम् अस्मि.

अत्र अयं भावः **:** विप्रयोग–तापरूपाग्नेः ममांशसम्बन्धेन अग्नौ तापः तेन सर्वपरिपाकं कृत्वा सर्वस्य अन्नादेः मद्भोग्यतासम्पादकत्वं भवति इति भावः. **सर्वभूतेषु जीवनं** प्राणाधारणम्; अन्यथा भगवद्वियुक्तानां तेषां तदाधारतां विना कथं स्थितिः स्यात्? **तपस्विषु** तापप्रयत्नवत्सु तपःक्लेशानन्दरूपो अस्मि. अन्यथा तदभावे सुखादित्यागेन दुःखे को वा प्रवर्तते?।।९।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ! सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमताम् अस्मि तेजस्तेजस्विनाम् अहम्।।१०।।

किञ्च **बीजम्** इति. **हे पार्थ!** मत्कृपाश्रय **सर्वभूतानां सनातनं** नित्यं **बीजं मां विद्धि**. अत्र अयं भावः **:** पुरुषोत्तमलीलास्थजीवाः तदात्मकाएव तदंशाएव अत्र प्रकटीकृताः अन्यथा लीलोपयोगिनो न भवेयुः तेन तद्बीजजाता एतेऽपि सेवायोग्या[४] इति सर्वेषां बीजं मां विद्धि, तज्ज्ञानं स्वरूपज्ञानप्रयोजकम् इति भावः. तथैव **बुद्धिमतां** मत्स्वरूपज्ञानकुशलप्रयत्नवतां **बुद्धिः** कौशलम् **अस्मि**. **तेजस्विनां** दुराधर्षिणां **तेजो** दुराधर्षता **अहम् अस्मि**।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!।।११।।

किञ्च **बलवतां** मद्वशीकरणलक्षणवतां **बलं** वशीकरणलक्षणम् **अहम्**. **च**कारेण तद्रूपोऽपि. कीदृशं बलं? **कामरागविवर्जितं** वशीकृते मयि स्वाभिलाषत्वं स्वरञ्जनादिवर्जितं[५] किन्तु मदभिलाषादिभावः. तथा **हे भरतर्षभ!** सत्कुलोत्पन्न तथा कामभावयोग्यं **धर्माविरुद्धः** धर्मेण अविरुद्धो **भूतेषु कामो अस्मि**.

अत्र अयं भावः **:** लौकिककामस्तु धर्मविरुद्धो अस्ति, यतो अयं रसः स्वाविवाहितायामेव भवति प्रकटः सर्वधर्मविरुद्धएव. अलौकिकस्तु रसात्मको धर्मरूपः इति भावः।।११।।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

किञ्च **ये चैव** इति. **ये च** पुनः **सात्त्विकाएव भावाः** मत्सम्बन्धि-वस्तुदर्शनेन[६] रोमाञ्चादयः **राजसा**त्मकविक्षेपादयः **च पुनः तामसाः** विप्रयोग-स्वरूपस्मरणे मूर्छाभ्रमादयः ते सर्वएव. **इति** अमुना प्रकारेण तान् **मत्तएव विद्धि** जानीहि. **तेषु** तत्सामर्थ्येन **अहं** तत्प्रकारेण **न** प्रकटो भवामि, किन्तु **ते मयि** प्रकटीभवन्ति इति अर्थः.

अत्र अयं भावः **:** एते गुणाः रसार्थं मया प्रकटिताः स्वरसात्मक-गुणसाफल्याय मत्सम्बन्धेन स्वयम् उद्बुद्धरसाः सन्तः सेवां कुर्वन्तीति ते मयि सन्ति, नतु अहं जीववत् तेषु उत्पन्नेषु रसयुक्तो भवामि इति भावः।।१२।।

एवं लीलया रसार्थं प्रकटितान् गुणान् मयि दृष्ट्वा सर्वे मोहं प्राप्य मां न जानन्ति इति आह **त्रिभिः** इति.

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैर् एभिः सर्वम् इदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

एभिः परिदृश्यमानैः मत्सम्बन्धेन स्नेहलीलारसतः प्रकटीभूतैः[७] **त्रिभिः** सात्त्विकादिभिः **गुणमयैः** मद्गुणात्मकैः **भावैः** भावनात्मकैः **इदं** परिदृश्यमानम् अधिकरणात्मकम् आध्यात्मिकं **जगद् माम् एभ्यः** पूर्वोक्तभावेभ्यः **परम्** उत्कृष्टं केवलं रसात्मकम् अतएव **अव्ययं** विप्रयोगादिभावेषु न्यूनतादिरहितं **न अभिजानाति**।।१३।।

ननु एवं चेद् अस्माभिः कथं ज्ञातव्यः इति आकांक्षायाम् आह **दैवी** इति.

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते।।१४।।

एषा मम गुणमयी मद्गुणात्मिका **दैवी** केषुचिद् भाग्यवत्सु रसदानेच्छया प्रकटीकृत-क्रीडात्मिका **माया** अलौकिकसामर्थ्येन अन्यथाभावो-त्पादनसमर्था. अतएव **दुरत्यया** दुःखेनापि जेतुम् अशक्या. एतादृशीमपि ये

मामेव केवलम् अनन्यभावेन पुरुषोत्तमं **प्रपद्यन्ते** प्रपन्नाः भवन्ति ते **एतां मायां** मोहनात्मिकां **तरन्ति** मां जानन्ति इति अर्थः. ''मामेव ये'' इत्यत्र 'एव'कारेण 'माम्' इति एकवचनेन च भावात्मकतया केवलं पुरुषोत्तमत्वेन स्वभजनं दास्यभावेन उक्तं नतु लीलादिसहितदर्शनेन स्वरमणेच्छादिकतया. एतेन त्वमपि तथा प्रपन्नो भव इति उक्तम्।।१४।।

ननु एवं सति कथं न सर्वे प्रपन्नाः भवन्ति? इति आह **न माम्** इति.

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रिताः।।१५।।

मां दुष्कृतिनो दुष्टकर्मकर्त्तारः पापाः **मूढाः** पशुवद् विवेकरहिताः **नराधमाः** नरेषु अधमाः केवलं वैचित्र्यार्थं जगत्पूरणार्थं सृष्टाः मां **न प्रपद्यन्ते**. ननु उपदेशादिना कथं न पापकर्मादित्यागेन प्रपद्यन्ते? इत्यतः आह **मायया** इति. मायया **अपहृतं** गुरूपदेशादिजनितं **ज्ञानं** येषाम्. 'माया' इतिपदेन ज्ञाननाशन-सामर्थ्यम् उक्तम्. अतएव देवीपुराणे ''**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति**''(मार्क.पुरा.७८।४२ सप्तश.१।५५) इति उक्तम्. ननु भगवत्प्रपत्तीच्छूनां कथं न भगवान् रक्षति इत्यतः आह **आसुरं भावम् आश्रिताः**. मद्विरोध्यासुरसङ्गेन तद्भावं प्राप्ताः अतो मया न रक्ष्यन्ते इति भावः. एतेन दुस्सङ्ग-राहित्येन प्रपत्तिः कार्येति उपदिष्टम्. अतएव दुस्सङ्गनिषेधः श्रीभागवते ''**न तथाऽस्य भवेद् मोहः**'' (भाग.पुरा.३।३१।३५) ''**सङ्गस्तेष्वपि ते प्रार्थ्यः**'' (तत्रैव ३।२५।२४) इत्यादिभिः उक्तः।।१५।।

एवं दुष्टकर्मकर्त्तारो न भजन्ति इति उक्तं तर्हि के भजन्ति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **चतुर्विधाः** इति.

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

हे अर्जुन! सावधानतया श्रोतव्यत्वेन सम्बोध्य **सुकृतिनः** पूर्वजन्मसञ्चितपुण्यराशयो **जनाः मां** भजन्ति. अन्यथा भजने प्रवृत्तिरेव न स्यात्.

अतएव ''**नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते**''(पाण्ड.गीता ४०) इति भागवतैः उक्तम्. तेच **चतुर्विधाः**. चतुर्विधत्वं प्रकटयति **आर्त**ः इति. **आर्तः** संसारक्लेशादियुक्तः तन्निवृत्त्यर्थं धर्मरूपेण मां भजति. **जिज्ञासुः** कामात्मक-मत्स्वरूपज्ञानेच्छुः कामरूपेण मां भजति. **अर्थार्थी** मत्सेवौपयिकसाधन-सम्पत्त्यर्थम् अर्थरूपेण मां भजति. **च** पुनः. **ज्ञानी** शास्त्रार्थज्ञानवान् मोक्षरूपेण मां भजति. **भरतर्षभ!** इति सम्बोधनं सत्कुलोत्पन्नानामेव भजनप्रवृत्तिः भवति इति ज्ञापनार्थम्।।१६।।

एवं चतुर्विधान् उक्त्वा एतेषु ज्ञानी मोक्षार्थं भजनकर्त्ता उत्तमः इति आह **तेषाम्** इति.

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः।।१७।।

तेषां पूर्वोक्तचतुर्विधानां मध्ये **ज्ञानी नित्ययुक्तः** नित्यं मया युक्तः इति अर्थः. एतेभ्यः चतुर्विधेभ्योऽपि **एकभक्ति**ः अनन्यत्वेन एकान्तभजनकृद् दासवत् सः **विशिष्यते** उत्तमत्वेन इति अर्थः. तस्य विशेष्यधर्मम् आह **प्रिय**ः इति. '**हि**'इति निश्चयेन **ज्ञानिनः** सकाशाद् **अत्यर्थं** सर्वभावेन अहमेव तस्य प्रियः **मम च स प्रिय**ः. अतएव श्रीभागवते भगवद्वाक्यं ''**मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि**'' (भाग.पुरा.९।४।६८) इति।।१७।।

ननु एषु चतुर्विधेषु ज्ञानी उत्तमः उक्तः ततोऽपि भक्तः तदा पूर्वोक्तानां किं फलम्? इति अपेक्षायाम् आह **उदारा**ः इति.

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

एते सर्वएव स्वार्थपरित्यागेन मदर्थधर्मादित्रयभजनकर्त्तारः **उदाराः** मोक्षाधिकारिणः. **तु** पुनः **ज्ञानी आत्मैव** मदात्मकएव, मुक्तएव इति अर्थः. इति **मे मतम्**. '**हि**' इति निश्चयेन. अनन्यमनसा सर्वत्यागेन, **अनुत्तमां** न विद्यते उत्तमा यस्याः तादृशीं **गतिं** प्राप्य स्थानं ज्ञात्वा **मामेव आस्थितः सः युक्तात्मा**

मत्संयोगयुक्तो दास्यादिभावेन इति अर्थः. सः उत्तमः इति भावः।।१८।।

ये पूर्वोक्ताः ते कथं मोक्षम् अनुभवन्ति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **बहूनाम्** इति.

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवन् मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

बहूनां जन्मनां धर्मादित्रययुक्तानाम् **अन्ते** अन्तिमजन्मनि **ज्ञानवान्** भवति. ततो **मां प्रपद्यते** मुक्तो भवति इति अर्थः. यस्तु भक्तः उक्तः सतु दुर्लभः इति आह **वासुदेवः** इति. **सर्वम्** ऐहिकं पारलौकिकं च **वासुदेवः सः महात्मा** महान् मदर्थमेव अहमेव वा आत्मा तादृशः सः दुर्लभो अप्राप्य इति अर्थः. यद्वा दुःखेन क्लेशेन भगवानिव लभ्यः इति भावः।।१९।।

सः कथं दुर्लभः? इति अतः आह **कामैः** इति.

कामैस्तैस्तैर् हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।

तं तं नियमम् आस्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

तैः तैः कामैः पूर्वोक्तैः "**आर्तः...**"(७।१६) इत्यादित्रिरूपैः **हृतज्ञानाः** सन्तो **अन्यदेवताः** क्षुद्राः शिवादयो भूतप्रेतादयश्च **स्वया प्रकृत्या** कृत्वा **तं तं नियमं** देवताराधने उपवासादिलक्षणम् माम्[१०] **आस्थाय प्रपद्यन्ते**. अत्र अयम् अर्थः : कामनार्थं मत्सेवायां प्रवृत्ताः नतु मोक्षार्थं भक्त्यर्थं वा; अहन्तु मोक्षभक्त्यननुरूपं कामितफलं न ददामि, तत्फलम् अननुभूयः तैः कामैः हृतं मत्स्वरूपज्ञानं येषां तादृशाः सन्तः स्वया प्रकृत्या नियताः प्रकृत्यंशत्वात् शीघ्रं तत्फलदा अन्यदेवता भजन्ति. अतएव "**यो यदंशः स तं भजेत्**" इति उक्तम्।।२०।।

अतो अहमपि तान् स्वरूपरसदानायोग्यान् तद्देवताभजने दृढान् करोमि इति आह **यो यो** इति.

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

यो-यो भक्तो यां-यां तनुं यां-यां देवतामूर्तिं **श्रद्धया** स्वकामसिद्ध्यर्थं शुद्धान्त:करणेन **अर्चितुम् इच्छति, तस्य** भक्तस्य **तामेव श्रद्धाम् अचलां** शास्त्रज्ञानादिना वा चालयितुम् अयोग्याम् **अहमेव विदधामि** करोमि, पोषयामि च इति अर्थ:।।२१।।

तत: सः मत्कृतश्रद्धया तस्य आराधनं करोतीति आह **सः तया** इति.

स तया श्रद्धया युक्तः तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।।२२।।

सः तया मत्कृतया **श्रद्धया युक्तः तस्याः** मूर्तेः **आराधनम् ईहते** करोति. तत: श्रद्धात: स्वशुद्धान्त:करणः **तान् कामान्** स्वमनोरथरूपान् [११]**कामान् मयैव विहितान्** निर्मितान् अन्यथा मदाज्ञां विना देवादीनां न सामर्थ्यम्. अतो मयैव निश्चयेन विहितान् **लभते** प्राप्नोति इति अर्थ:।।२२।।

तर्हि त्वन्निर्मितफलावाप्त्या[१२] च उत्तमत्वमेव तत्फलस्य कथं न? इति अतः आह **अन्तवत्तु** इति.

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

तु पुन: मन्निर्मितमपि **फलं तेषाम् अल्पमेधसाम्** अल्पमतिमतां[१३] भक्तिं विहाय कामपरत्वाद् **अन्तवद्** विनाशयुक्तं भवति इति अर्थ:. 'तत्'शब्देन तद्बुद्ध्यनुसारेण मया तत्फलं विधीयते इति व्यज्यते. ननु देवा अपि त्वदंशाः तद्भजने कथं न उत्तमफलम्? इत्यतः आह **देवान्** इति. **देवयज:** पूर्वोक्तप्रकारेण स्वकामितफलाप्त्यर्थं देवभजनकर्त्तार:. अथवा देवत्वेन तद्भजनकर्त्तार: नतु मदंशत्वेन स्फुरितसन्मानाः, अतो **देवान् यान्ति** मत्सायुज्यकामाभावे प्राप्नुवन्ति. कामनायान्तु तदेव प्राप्नुवन्ति इति अर्थ:. अन्यदेवेषु देवत्वेन भजनकर्त्तारः तत्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्ति. कामनायान्तु तदपि न प्राप्नुवन्ति. अत: कामनयाऽपि मद्भजनम् उत्तमम् इति आह **मद्भक्ताः** इति. **मद्भक्ता:** मद्भजनकर्तारो **मामपि यान्ति**. कामनयाऽपि प्रवृत्ता:[१४] पूर्वोक्तप्रकारेण मामपि प्राप्नुवन्ति.

अतएव ''**उदाराः सर्व एवैते**'' (७।१८) इति पूर्वम् उक्तम्. अतो अग्रे तेषां मोक्षः. अक्षरसायुज्यमपि प्राप्नुवन्ति. अतएव हरिवंशे ''**अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः, सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तितः**'' (   )इति. इदमेव '**अपि**'शब्देन व्यज्यते।।२३।।

तर्हि कथं न सर्वे त्वामेव भजन्ति? इत्यतः आह **अव्यक्तम्** इति.

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धयः।
परं भावम् अजानन्तो ममाव्ययम् अनुत्तमम्।।२४।।

अबुद्धयः कामहृतज्ञानाः **अव्यक्तं** न विद्यते व्यक्तो लौकिकवत् प्रकटो व्यवहारो यस्य, व्यक्तिः जात्यादिः वा यस्य, तादृशं पुरुषोत्तमं **माम् व्यक्तिम् आपन्नं** मनुष्यादिभावेन जगति प्रकटं लौकिकत्वेन अन्यदेवसमं मनुष्यादिसमं वा **मन्यन्ते**. कुतः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **परम्** इति. मम पुरुषोत्तमस्य **अव्ययं** नाशरहितं भावं लीलात्मकं केषुचित् भाग्यवत्सु [१५]कृपया प्रकटीभूयः तद्रसपोषार्थं तत्समानाकारेण लीलारूपम् **अजानन्तः**. किञ्च **अनुत्तमं** न विद्यते उत्तमो यस्मात् तादृशं **परं भावं** पुरुषोत्तमात्मकम् **अजानन्तो मां** तथा मन्यन्ते. अतः स्वकामितफलक्षिप्र-प्रसादार्थम् [१६]अन्यदेवताएव भजन्ति, नतु माम् इति अर्थः ।।२४।।

ननु मनुष्याः विवेकादिसहिताः कथं न त्वां जानन्ति? इत्यतः आह **न अहम्** इति.

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति
लोको माम् अजम् अव्ययम्।।२५।।

अहं सर्वस्य साधारणस्य **प्रकाशः** प्रकटो **न** भवामि, किन्तु कस्यचिद् भक्तस्यैव. तत्र हेतुम् आह **योगमायासमावृतः** इति. योगार्थमेव रसार्थमेव[१७] या माया अन्तरङ्गा दासीभूता शक्तिः तया आवृतो रसार्थम् आच्छन्नः. अतो **मूढो** भक्त्यालोचनादिज्ञानशून्यो **अयं** परिदृश्यमानो मां पश्यन्नपि स्वरूपज्ञानरहितो

लोको बहिःदृष्टिः **माम् अजं** जन्मरहितं लीलया प्रकटम् **अव्ययं** नित्यं **न अभिजानाति** अभितः सर्वभावेन न जानाति।।२५।।

ननु यान् त्वं स्वसेवार्थं प्रकटीकृतान् पुनः स्वकीयत्वेन न जानासि तदा माया तान् व्यामोहयति उत अन्यथा वा? इति आशङ्क्य आह **वेद अहम्** इति.

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन!।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अहं समतीतानि सेवाम् अकृत्वा नष्टानि **वर्त्तमानानि** साम्प्रतं सेवां कुर्वाणानि **भविष्याणि** सेवार्थं प्रकटानि यानि **भूतानि** मत्सत्तया प्रकटानि स्थावरजङ्गमानि त्रिकालवर्तीनि मदीयत्वेन अहं[१८] वेद जानामि. **तु** पुनः मज्ज्ञानानन्तरमपि **कश्चन** त्रिकालवर्तिषु मां स्वप्रभुत्वेन[१९] **न वेद**. न जानाति इति अर्थः।।२६।।

तर्हि त्वज्ज्ञाने तान् माया कथं मोहयति? इत्यतः आह **इच्छा** इति.

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत!।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप!।।२७।।

सर्गे सृष्टौ उत्पत्त्यनन्तरम्, **इच्छा** स्वेष्टवस्तुषु, **द्वेषः** तद्विपरीतवस्तुषु, ताभ्यां सम्यक् प्रकारेण उत्थितो यो **द्वन्द्वमोहः** सुखदुःखरूपः तेन **हे भारत!** भक्तवंशज **सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति** प्राप्नुवन्ति. 'भारत' इति सम्बोधनेन भरतवत् कस्यचिदेव भक्तस्य न मोहो भवति इति व्यञ्जितम्.

अत्र अयं भावः **:** मत्क्रीडार्थं सेवार्थं वा ये सृष्टाः तैः मत्संयोगवियोगसुखदुःखविचारएव कर्त्तव्यः, नतु स्वस्वविचारकाणां भगवत्कार्यानुपयुक्तत्वाद् माया मोहयति इति भावः।।२७।।

ननु ये मोहयुक्ताः तन्मध्ये तत्सङ्गिनएव केचन पूर्वम् अभजन्तः पश्चात् त्वद्भजनप्रवृत्ताः कथं भवन्ति? इत्यतः आह **येषाम्** इति.

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

येषां दुर्लभानां भाग्यवतां **पुण्यकर्मणां** मद्दर्शनादिना पुण्याचरणशीलानां महत्सु विनयादियुक्तानाम्. **तु** पुनः [२०]जनानां जनादिक्लेशयुक्तानां पापं मत्स्वरूप–ज्ञानप्रतिबन्धकम् **अन्तगतं**[२१] अन्तभावं प्राप्तं, नष्टम् इति यावत्. **ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः** स्वसुखदुःखादिमोहनिर्मुक्ताः **दृढव्रताः** दृढसङ्कल्पाः मदेकनिष्ठाः **मां भजन्ते**.

अत्र अयं भावः **:** पूर्वजन्मकृतं यत्किञ्चित् पुण्यकर्म तेन जन्मान्तरे प्रवृद्धमाने[२२] वा अनेकजन्मनि वयसः परिपाके पुण्योपचित–मरणभयेन तन्निवृत्त्यर्थं मद्भजनप्रवृत्ताः भवन्ति. अतएव **''जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः, नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते''**(पाण्ड.गीता४०) इति भागवतैः उक्तम्।।२८।।

एवं भजनप्रवृत्ताः मां जानन्ति इति आह **जरामरण** इति.

जरामरणमोक्षाय माम् आश्रित्य यतन्ति ये।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम् अध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

जरा–मरणयोः भगवद्भजनप्रतिबन्धकभगवद्विस्मरणरूपयोः **मोक्षाय** निवारणार्थं **माम् आश्रित्य** अनन्यैकचित्तेन **ये यतन्ति** भजनार्थं यत्नं कुर्वन्ति, भजन्ति वा, **ते** तत् परं **ब्रह्म** पुरुषोत्तमात्मकं **विदुः** जानन्ति. **कृत्स्नं** पूर्णम् **अध्यात्मं** भजनौपयिकं साधनरूपं [२३]स्वात्मस्वरूपं **विदुः**. **च** पुनः, **कर्म** सेवारूपं तत्साधनात्मकम् **अखिलं** भावादियुक्तं जानन्ति इति अर्थः।।२९।।

एवं ज्ञानस्य फलम् आह **साधिभूताधिदैवम्** इति.

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

साधिभूताधिदैवम् अधिभूतेन अधिकरणात्मकेन अधिदैवेन मूलरूपेण सह अधियज्ञेन अंशात्मककर्मरूपेण च सहितं **ये मां विदुः ते युक्तचेतसः** युक्तं तन्निष्ठं चेतो येषां तादृशाः भवन्ति, मां प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. **च** पुनः **प्रयाणकाले** मरणसमयेऽपि भ्रमादिरहिताः **ते मां विदुः** जानन्ति, मरणकाले

स्वज्ञानोक्त्या ‘‘अन्ते या मतिः सा गतिः’’ इतिवाक्योक्तरीत्या मां प्राप्नुवन्ति इति व्यञ्जितम्।।३०।।

भक्तानामेव श्रीकृष्णज्ञानविज्ञानयोग्यता।
अतोऽत्र ज्ञानविज्ञानयोगं हरिरुवाच हि।।७।।

इति श्रीभगवद्गीतामृत–तरङ्गिण्यां सप्तमो अध्यायः

पाठभेदाः

१. ‘क्रीडांशात्मकया’ इति मां.पाठः.
२. ‘पुलिन्द्यादिषु’ इति मुद्रितपाठः.
३. ‘आह्लादकवृन्दावनाह्लादकत्वम्’ इति मां.पाठः.
४. ‘भावसेवायोग्या’ इति मां.पाठः.
५. ‘स्वरञ्जनादिवर्जनम्’ इति मुद्रितपाठः.
६. ‘मत्सम्बन्धिदर्शनेन’ इति मुद्रितपाठः.
७. ‘प्रकटभूतैः’ इति मुद्रितपाठः.
८. ‘साधनसम्पत्त्यर्थरूपेण’ इति मुद्रितपाठः.
९. ‘‘सर्वभावे **अहमेव** तस्य **प्रियः**(१). अतएव’’ इति मुद्रितपाठः.
१०. ‘‘लक्षणम् आस्थाय प्रपद्यन्ते’’ इति मुद्रितपाठः.
११. ‘‘स्वमनोरथरूपान् मयैव’’ इति मुद्रितपाठः.
१२. ‘फलाप्त्या’ इति मुद्रितपाठः.
१३. ‘तेषाम् अल्पमतिमताम्’ इति मुद्रितपाठः.
१४. ‘‘कामनयाऽपि प्रवृत्ताः अतएव हरिवंशे ‘‘अपत्यं द्रविणं दाराहाराहर्म्य हयागजाः, सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरि भक्तितः’’ इति. मामपि प्राप्नुवन्ति. अतो अग्रे तेषां मोक्षः अक्षर सायुज्यमपि प्राप्नुवन्ति. पूर्वोक्त प्रकारेण अतएव ‘‘उदाराः सर्व एवैते’’ इति पूर्वम् उक्तं ज्ञानैः तत्फलमपि अनुभूय पश्चात् इदमेव ‘अपि’शब्दन व्यञ्जितम्’’ इति मां.पाठः.
१५. ‘‘नाशरहितं लीलात्मकं केषुचित् भाग्यवत्सु प्रकटीभूयः’’ इति मुद्रितपाठः.
१६. ‘‘प्रसादान(त?)न्यदेवतान् एव भजन्ति’’ इति मां.पाठः.
१७. ‘‘योगार्थमेव या माया’’ इति मुद्रितपाठः.
१८. ‘‘मदीयत्वेन वेद’’ इति मुद्रितपाठः.
१९. ‘‘मां प्रभुत्वेन’’ इति मुद्रितपाठः.
२०. ‘‘पुनः जनादिक्लेशयुक्तानां’’ इति मुद्रितपाठः.

२१. ‘‘अन्तभावं गतं प्राप्तम्’’ इति मुद्रितपाठः.

२२. ‘‘...मानेन अनेकजन्मनिरन्तिभजन्मति वयसः’’ इति मां.पाठः.

२३. ‘‘साधनरूपं **विदुः**’’ इति मुद्रितपाठः.

V

तारकब्रह्मयोगो नाम अष्टमो अध्याय:

पूर्वोक्तब्रह्मकर्मादि [१]रूपजिज्ञासुरर्जुन:।
पृष्टवान् [२]अष्टमेतस्य श्रीकृष्णोत्तरमुक्तवान्।।१।।

पूर्वाध्यायान्ते भगवता **''ते ब्रह्म''**(७।२९) इत्यादिना [३]समपदार्थज्ञानम् उक्तं भक्तानाम्, तत्स्वरूपजिज्ञासुः अर्जुन: प्रभुं विज्ञापयामास अर्जुनः उवाच **किं तद्ब्रह्म** इति द्वयेन.

अर्जुनः उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तम् अधिदैवं किम् उच्यते।।१।।
अधियज्ञ: कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन!।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि:।।२।।

हे **पुरुषोत्तम! तद् ब्रह्म** यद् उक्तं **तत् किम्? अध्यात्मं किं? कर्म किं? च** पुन: **अधिभूतं किं प्रोक्तं? च** पुन: **अधिदैवं किम् उच्यते? अधियज्ञ:** यज्ञाधिष्ठाता फलदाता **क:? अत्र** उक्तप्रकारेषु **कथं** केन प्रकारेण **नियतात्मभिः** अनन्यैकपरचितैः **ज्ञेयो असि? हे मधुसूदन!** सर्वानिष्टनिवर्तक **अस्मिन् देहे प्रयाणकाले** अन्तकाले **कथं** केन प्रकारेण **ज्ञेयो असि**.

अत्र अयं भाव: **: 'पुरुषोत्तम'** इति सम्बोधनेन त्वमेव पुरुषोत्तम: त्वत्त: पराभावात्. कथं तद् ब्रह्म इति उक्तम्? आधिदैविकन्तु त्वत्स्वरूपमेव, अतः त्वत्तो अन्य आधिदैवं किम्? [४]अध्यात्मादयस्तु हीनाएव, तेषां ज्ञानं किम्प्रयोजनकम्? सेवा च कथं कार्या? इत्यादिव्यञ्जितम्. **'मधूसूदन'** इति सम्बोधनेन त्वदीयानां मरणादिभयाभावे तत्समये त्वं कथं स्वज्ञानम् उक्तवान् इति ज्ञापितम् इति भाव:।।१ २।।

एतत्प्रश्नोत्तरं साभिप्रायज्ञानार्थं श्रीभगवान् उवाच **अक्षरम्** इति त्रयेण.

श्रीभगवान् उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मम् उच्यते।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः।।३।।

न क्षरति न चलति इति **अक्षरं** सर्वदैकरसरूपं[५] पुरुषोत्तमचरणात्मकं भक्तहृदयाद् अचलं गृहात्मकं वा स्थिरं तत्. **परमं** परः पुरुषोत्तमो मीयते ज्ञाप्यते[६] अस्मिन् इति **परमं ब्रह्म** बृहद् व्यापकं च. स्वभावः स्वस्य भगवतो दास्यादिसेवासिद्ध्यर्थं जीवरूपेण भवनम्. **अध्यात्मम्** आत्मानम् अविकृतं सेवायोग्यं देहम् अधिकृत्य तदनुभवे वर्त्तमानो जीवभावो 'अध्यात्म'शब्देन उच्यते इति अर्थः. भूतानां जीवानां भावस्य भगवद्रसरूपस्योद्भवकरः प्रकटकारको यो **विसर्गो** [७]भगवदर्थद्रव्यादिविनियोगेन सेवारूपः सः **कर्मसञ्ज्ञितः** क्रियारूपः 'कर्म'शब्दवाच्यः इति अर्थः।।३।।

एवं ब्रह्माध्यात्मकर्मोत्तराणि उक्त्वा अधिभूताद्युत्तराणि आह **अधिभूतम्** इति.

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

क्षरो भावो विनश्वरो देहो भगवद्विप्रयोगतापाधिक्येन नाशभावयुक्तो **अधिभूतं** जीवमात्रम् अधिकृत्य भवतीति अधिभूतं दास्यार्थम् आविर्भावितस्वांशे विप्रयोगतापार्थं प्रकटीक्रियतइति तथा उच्यते इति भावः. **च** पुनः. **पुरुषो** मयि[८] जीवहृदि पुरुषत्वेन रसात्मको भावः सः **अधिदैवः** तं क्रीडात्मकभावम् अधिकृत्य भवतीति सर्वमूलरूपइति तथा उच्यते इति भावः. किञ्च **हे देहभृतां वर!** मत्सेवौपयिकसामर्थ्ययुक्त **अत्र** जगति **देहे** देहनिमित्तं सेवौपयिकोपचयार्थम् **अधियज्ञः** यज्ञादिकर्मात्मकः तत्प्रवर्तकश्च इति अर्थः।।४।।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयो असि? इत्यस्य उत्तरम् आह **अन्तकाले** इति.

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

अन्तकाले एतद्देहावसानसमये वा अन्तरूपस्य अन्तिमजन्मनो देहस्य

काले नाशसमये प्राप्ते सति **मामेव स्मरन् यः प्रयाति** देहं मुञ्चति, **सः कलेवरं** मृतदेहं भजनायोग्यं **मुक्त्वा मद्भावं** सेवौपयिकस्वरूपं **याति** प्राप्नोति. **अत्र अर्थे संशयो नास्ति** न वर्त्तते. अतः सन्देहो न कर्त्तव्यः इति अर्थः. ‘**च**’कारेण शुद्धावस्थादिकं न विचारणीयम् इति ज्ञापितम्. ‘**एव**’कारेण कामनया अन्यत् किञ्चिदपि फलत्वेन न स्मरणीयम् इति ज्ञापितम्।।५।।

अन्यास्मरणे हेतुम् आह **यं यम्** इति.

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

हे कौन्तेय! तत्स्मरणायोग्य **यं यं** देवतान्तरमपि **वा** स्वमनोभिलषित-जीवस्वरूपं **स्मरन् अन्ते कलेवरं त्यजति सः तमेव** तत्सारूप्यम् **एति** प्राप्नोति इति अर्थः. ‘**अपि**’इति निश्चयार्थे वा. अतएव भरतस्य अन्ते मृगस्मरणे मृगशरीराप्तिः, अयमेव अर्थो अपिशब्देन द्योतितः. यतो अन्तकाले यत्स्मरणेन म्रियते तमेव प्राप्नोति अतः साधारण्येनापि मत्स्मरणेन मरणे मत्प्राप्तौ न सन्देहः इति अर्थः. ननु अन्ते वैकल्ये देवतान्तरस्मरणं स्वाभिलषितस्मरणं वा कथं स्याद्? इत्यत आह **सदा तद्भावभावितः** निरन्तरं तद्भावेन भावितो यो भवति सः तमेव अन्ते स्मरति।।६।।

अतः सदा त्वं मद्भावयुक्तो भव इति आह **तस्माद्** इति.

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः मामेवैष्यस्यसंशयम्।।७।।

तस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् **सर्वेषु कालेषु** लौकिकवैदिकक्रियायोग्येषु **मय्यर्पितं मनः** चाञ्चल्यदोषनिवारणार्थं, **बुद्धिः** अन्यत्र व्यवसायदोषनिवारणार्थं येन तादृशः सन् **माम् अनुस्मर** चिन्तय. अनुस्मरणेन मया कृपया सर्वदा त्वं स्मर्यसे तस्मात् सर्वदा मत्स्मरणं फलरूपं भविष्यति इति भावो व्यञ्जितः. **युद्धय च** युध्यस्व सद्भावनया मदाज्ञया युद्धमपि कुरु इति अर्थः. एवम् अनुस्मरणेन **असंशयः** सन्देहरहितः सन् **मामेव एष्यसि** इति अर्थः. असंशयः अत्रच सन्देहो

नास्ति इति भाव:।।७।।

अथ तवतु मत्प्राप्तिः निस्सन्दिग्धा साक्षाद् मया उपदिष्टत्वात् किन्तु मदाज्ञा-व्यतिरेकेणापि ये अनन्यभावेन स्मरन्ति तेऽपि मां प्राप्नुवन्ति इति आह **अभ्यास** इति.

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे पार्थ! मद्भक्त! **अभ्यासो** भगवत्सङ्गानुशीलनं, सएव **योग**ः उपाय:, तद्युक्तेन **न अन्यगामिना** अन्यत्र उत्तमत्वज्ञानजचाञ्चल्यदोषरहितेन **चेतसा** दिव्यं क्रीडात्मकं **परमं पुरुषं** पुरुषोत्तमभावं निर्जितचेतसा अनुचिन्तयन् भगवत्कृतस्मरणानन्तरं चिन्तयन् स्मरन् **हे पार्थ!** तमेव **याति** प्राप्नोति इति अर्थ:. 'पार्थ'इति सम्बोधनेन पृथासम्बन्धात् कृतस्मरणानन्तरस्मरणेन यथा त्वं माम् आप्नोषि[१०] इति बोध्यते।।८।।

चिन्तनीय-स्वरूपधर्मान् आह द्वाभ्याम् **कविम्** इति.

कविं पुराणम् अनुशासितारम्
अणोरणीयांसम् अनुस्मरेद्य:।
सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपम्
आदित्यवर्णं तमस: परस्तात्।।९।।

कविं शब्दार्थरसिकं स्वगुणानुवर्णनश्रवणानन्दसंसूचितानुग्रहम्, **पुराणम्** अनादिसिद्धं सर्वदैकरसम्, **अनुशासितारं** भावादिधर्म-नियन्तारम्, **अणो**ः **अणीयांसम्** अणोः सूक्ष्माद् अणीयांसं सूक्ष्मम्. अयं भाव: **:** सूक्ष्माद् जीवात् सूक्ष्मं जीवभावभावनयोग्यस्वरूपप्राकट्येन तद्धृदि बहिः तदृष्ट्यादिस्थितियोग्यम्. **सर्वस्य** स्वक्रीडायोग्यस्य भावादिरूपाक्षरादिरूप-पदार्थस्य **धातारं** पोषकम्. **अचिन्त्यरूपम्** अलौकिकक्रीडाद्यपरिमेयमहिमानम्. **आदित्यवर्णं** रसात्मक-तापतेजसा सर्वप्रकाशकम्. **तमस: परस्तात्** प्रकृते: परस्ताद् वर्त्तमानम्. अत्र अयं भाव: भावात्मकप्राप्तभक्तस्वरूपं प्रकटितलीलास्वरूपात् सर्वदा रसात्मकत्वेन

वर्तमानम् एवं रूपं[११] पुरुषं पुरुषोत्तमम्।।९।।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्।।१०।

प्रयाणकाले अन्तकाले **भक्त्यायुक्तः** [१२]परमस्नेहयुक्तः **अचलेन मनसा** निश्चलेन मनसा सर्वकामरहितेन च पुनः **योगबलेनैव** संयोगात्मकभावेनैव **भ्रुवोः मध्ये** भाग्यस्थाने सन्तं विद्यमानं यो अनुस्मरेद् भगवत्कृतस्मरणानन्तरं स्वार्थप्रकटज्ञानेन स्मरेत्, सः तस्मिन्नेव **प्राणम् आवेश्य सम्यग्** भावात्मक-स्वरूपप्राप्त्या **परं पुरुषं** पुरुषोत्तमं **दिव्यं** क्रीडात्मकम् **उपैति** समीपे दास्येन प्राप्नोति इति अर्थः।।१०।।

ननु भक्तियुक्ताअपि तदेव प्राप्नुवन्ति, योगयुक्ताअपि च, तदा तयोः को विशेषः? इति आकाङ्क्षायां तयोः प्राप्यरूपम् आह **यदक्षरम्** इति.

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

वेदविदो वेदान्तज्ञाः **यदक्षरं वदन्ति, यद् वीतरागो** विरागिणो **यतयः** सर्वत्यागादिप्रयत्नवन्तो **विशन्ति** यत्र ऐक्यं प्राप्नुवन्ति, **यद् इच्छन्तो** यत्स्वरूपज्ञानेन प्राप्तीच्छवः **ब्रह्मचर्यम्** इन्द्रियनिग्रहं गुरुकुले **चरन्ति तत् पदं** तेषां प्राप्यं ते तुभ्यं **सङ्ग्रहेण** सङ्क्षेपेण ज्ञानार्थं **प्रवक्ष्ये** कथयिष्यामि इति अर्थः।।११।।

प्रतिज्ञातस्वरूपम् आह द्वाभ्याम् **सर्वद्वाराणि** इति.

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम् आस्थितो योगधारणाम्।।१२।।

सर्वाणि इन्द्रियद्वाराणि **संयम्य** वशीकृत्य लौकिकविषयाद् मनोनिरुन्धनं

कृत्वा मनश्च विकल्पादिधर्मत्यागेन **हृदि निरुद्ध्य मूर्ध्नि** भ्रुवोः मध्ये भाग्यस्थाने **प्राणम् आधाय आत्मनो 'योगधारणाम्' आस्थितः** आश्रितः सन्।।१२।।

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

ॐ इति एकाक्षरं शक्तिद्वयसम्बद्धपुरुषवद् वर्णत्रयात्मकम् एकं यद् अक्षरं [१३]ब्रह्म ब्रह्मवाचकत्वात् तत्सरूपत्वाद् वा ब्रह्मात्मकं **व्याहरन्** उच्चारयन् **माम्** एवंरूपप्रकटम् **अनुस्मरन् यो देहं त्यजन् प्रयाति** प्रकर्षेण भावात्मतया गच्छति **सः परमां** परो मीयते यया यत्र वा, तां **गतिम्** अक्षरात्मिकां **याति** प्राप्नोति इति अर्थः।।१३।।

एवं योगयुक्तानां स्वांशाक्षरात्मक-गतिस्वरूपम् उक्त्वा भक्तियुक्तस्य स्वप्राप्तिम् आह **अनन्य** इति.

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्युक्तस्य योगिनः।।१४।।

सततं निरन्तरम् अव्यवच्छिन्नतया न अन्यस्मिन् लौकिकालौकिकविषये **चेतो** यस्य, तादृशो यो मां **नित्यशः** प्रत्यहं स्मरति **तस्य नित्ययुक्तस्य** मम नित्यं सम्मतस्य **योगिनः** सकाशाद् **अहं सुलभः** सुखेन लभ्यः प्राप्यः. 'पार्थ' इति सम्बोधनेन यथा त्वन्मातृ-स्मरणबलेन तव सुलभो जातः तथा इति व्यञ्जितम्।।१४।।

ननु एवमेव तत्तद्देवोपासकाः तत्तत्सायुज्यं प्राप्नुवन्ति इति तत्तच्छास्त्रेषु निगद्यतइति भवत्प्राप्तौ को विशेषः? इति आकाङ्क्षायां स्वप्राप्तेः विशेषम् आह **माम् उपेत्य** इति.

माम् उपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम् अशाश्वतम्।
नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

महात्मानो मदात्मका[१४] भक्ताः **परमां संसिद्धिं** भावरूपां **गताः** सन्तो

माम् एकं पुरुषोत्तमम् **उपेत्य** समीपे प्राप्य **पुनः दुःखालयं** संसारात्मकम् **अशाश्वतम्** अनित्यं लौकिकं [15] **जन्म नाप्नुवन्ति** न प्राप्नुवन्ति इति अर्थः।।१५।।

अथ अन्येषां पुनर्जन्म भवति इति आह[16] **आब्रह्म** इति.

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!।

मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

आब्रह्मभुवनाद् ब्रह्मभुवनम् अभिव्याप्य सर्वे **लोकाः पुनरावर्तिनः** सर्वे पुनर्जन्मभाजो भवन्ति. **मां तु उपेत्य कौन्तेय!** परमस्निग्ध **पुनर्जन्म न विद्यते** न स्याद् इति अर्थः. '**तु**'शब्देन मन्मार्गे प्रवृत्तस्य अतएव शङ्का न भवति इति ज्ञापितम्।।१६।।

ननु ब्रह्मलोकगताः तेन सह मुच्यन्ते 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इत्यादिभ्यः तेऽपि पुनरावृत्ति-रहिता भवन्त्येव इति आशङ्क्य तेषां तदभावम् आह **सहस्र** इति.

सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

सहस्रयुगपर्यन्तं चतुर्युगसहस्रं पर्यन्तो अवसानं यस्य तद् **ब्रह्मणो यद् अहर्** दिनं तद् ये **विदुः** जानन्ति **युगसहस्रान्तां** चतुर्युगसहस्रम् अन्तो यस्याः तादृशीं **रात्रिं** ये विदुः **ते अहोरात्रविदः**. तत्र कालगणने मनुष्याणां यद्वर्षं तद्देवानाम् अहोरात्रः तादृग् अहोरात्रगणित-द्वादशवर्षसहस्रेण चतुर्युगं तत् च तद् ब्रह्मणो दिनं तावत्येव रात्रिः तद्गणनक्रमेण वर्षशतं तद् ब्रह्मणः परम् आयुः इति उच्यते; तदवसाने तत्सहितमुक्तानाम् अक्षरप्राप्तिः परम्परया भवति।।१७।।

पुनः तत्प्रकट(प्राकट्य!)समये तत्सहितानाम् आगमनम् इति आह **अव्यक्ताद्** इति.

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।।१८।।

अव्यक्ताद् अक्षराद् भगवच्चरणरूपाद् **व्यक्तयः** स्थावर-जङ्गमादयः **सर्वाः** देवादि-कीटतृणादयः **अहरागमे** ब्रह्मदिनोद्गमे **प्रभवन्ति** उत्पद्यन्ते. **तत्रैव अव्यक्तसंज्ञके** अक्षरे **रात्र्यागमे** रात्र्युद्गमे **प्रलीयन्ते** लीनाः भवन्तीति तद्विदो जनाः तत्र प्रविशन्ति इति अर्थः।।१८।।

तत्र प्रलीनाश्च पुनः उत्पद्यन्ते इति आह **भूतग्रामः** इति.

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

सएव पूर्वोक्तएव **अयं** परिदृश्यमानो मत्सम्बन्धरहितो **भूतग्रामः** चराचर-समूहो **भूत्वा भूत्वा** उत्पद्योत्पद्य **रात्र्यागमे** दिवसावसाने **अवशः** परवशः [१७]ब्रह्मवशः सन् **प्रलीयते. हे पार्थ** इति सावधानः शृणु इति अर्थः. तथैव **अहरागमे** दिनागमे **अवशएव प्रभवति** उत्पद्यते इति अर्थः।।१९।।

एवं तेषां पुनः उद्गमम् उक्त्वा स्वप्राप्तौ तदभावाय स्वस्थान-स्वरूपम् आह **परः तस्माद्** इति.

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

'**तु**'शब्देन पूर्वस्य परत्वं व्यावर्त्तयति **तस्मात्** [१८]सर्वोत्पत्तिकारणात्मकाद् **अन्यो भावः अव्यक्तः** तस्यापि मूलभूतः इति अर्थः. **अव्यक्तात् सनातनः** अनादिसिद्धः परः सर्वोत्तमः इति अर्थः. तत्स्वरूपम् आह **यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु** सत्सु **न विनश्यति** न विकारम् आप्नोति इति अर्थः।।२०।।

एवम् अव्यक्त-परस्वरूपम् उक्त्वा ज्ञानार्थं विशिनष्टि **अव्यक्त**ः इति.

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

अव्यक्तः अप्रकटः ज्ञातुम् अशक्यो यो भावः सः **अक्षरः** न क्षरति न चलति मच्चरणांशरूपः इति **उक्तः तम्** अक्षरं वेदादिविदः **परमां** परस्य अनुमेयां

गतिम् आहुः. ननु ते तस्य परमगतित्वं कुतो वदन्ति. इति आशङ्क्य आह **यं प्राप्य न निवर्तन्ते** इति. यत्स्थानं प्राप्य न निवर्तन्ते पुनर्जन्मानो न भवन्ति, अतः तथा वदन्ति इति अर्थः. तथात्वं तस्य स्वसम्बन्धाद् इति आह **तद्** इति. तदक्षरात्मकं **मम परमम्** उत्कृष्टं **धाम** गृहम् इति अर्थः. मद्गृहत्वात् पुनरावृत्तिः न भवति इति भावः।।२१।।

ननु यद्धामगता न निवर्तन्ते सः त्वं कथं प्राप्यः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **पुरुष**ः इति.

पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

यस्यान्तस्थानि भूतानि येन सर्वम् इदं ततम्।।२२।।

हे पार्थ मद्भक्त **सो** अहं **परः** पुरुषोत्तमः **अनन्यया** ऐहिक–पारलौकिकयोः मच्छरणैकरूपया मदितरज्ञानरहितया **भक्त्या** स्नेहेन **लभ्यः** प्राप्यः. सः कीदृशः? इत्यतः आह **यस्य** इति. यस्य **अन्तःस्थानि भूतानि** चराचराणि रमणकारणात्मकानि यस्य मध्ये स्वरूपे तिष्ठन्ति; **येन इदं** परिदृश्यमानं **सर्वं** जगत् **ततं** व्याप्तम्.

अत्र अयं भावः : लौकिकाः सर्वे क्रीडोपयुक्ताः न भवन्ति, आचरण–स्थितत्वाद्; अतः ते ज्ञानादिना मद्धाम प्राप्यं लीनाः तत्रैव मुक्ताः भवन्ति इति अर्थः. येन क्रीडार्थम् आविर्भूतेन तदधिष्ठानत्वाद् 'इदं' मयि जगद् व्याप्तं सत् ततं विस्तृतं विभाति इति भावः।।२२।।

ननु इतो गताः ये आवर्तन्ते निवर्तन्ते वा ये ते अत्र कथं ज्ञेयाः? इति आशङ्क्य आह **यत्र** इति.

यत्र काले त्वनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव योगिनः।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ!।।२३।।

यत्र काले यस्मिन् काले **प्रयाता** योगिनः **अनावृत्तिं यान्ति** प्राप्नुवन्ति; **च** पुनः यस्मिन् काले प्रयाता **आवृत्तिमेव** प्राप्नुवन्ति, **हे भरतर्षभ!** ज्ञानयोग्यकुलोत्पन्न **तं कालं वक्ष्यामि** कथयामि इति अर्थः।।२३।।

तत्र पूर्वम् अनावृत्तिज्ञापक–कालस्वरूपम् आह **‘अग्नि** इति.

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

अग्निः ज्योतिः तापयुक्तज्योतिः युक्तः **अहः** दिवसः. **शुक्लः** शुक्लपक्षः. **षण्मासा उत्तरायणं** प्राप्य भवन्ति. **तत्र** तस्मिन् काले **प्रयाताः ब्रह्मविदो जनाः** भक्ताः. **ब्रह्म** भगवत्स्वरूपम् अनावृत्त्यात्मकं **गच्छन्ति.**

अत्र अयं भावः : आयुर्भोगपूर्णतया कालवशेन उत्तरायणादिविशिष्ट–कालमृताः सर्वएव न तत् प्राप्नुवन्ति किन्तु भगवद्भक्ताः भीष्मवत् तत्काले आगते भगवन्निष्ठैकतया ये प्राणान् त्यक्त्वा याताः ते प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. एतज्ज्ञापनायैव **‘ब्रह्मविदः’** इति उक्तम्. एतदेव तज्ज्ञापकम् इति अर्थः।।२४।।

आवृत्तिकालरूपम् आह **धूमः** इति.

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर् योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

धूमः तापरूपाग्न्यात्मकप्रतिबन्धरूपः, **रात्रिः** निशा, **कृष्णः** पक्षः एवं **षण्मासा दक्षिणायनम् तत्र योगी** सकामः प्रयातः सन् **चान्द्रमसं** स्वर्गादिसुखं शीतलात्मकं **प्राप्य** सुखभोगं कृत्वा **निवर्तते** पुनर्जन्म प्राप्नोति इति अर्थः।।२५।।

एवं कालस्वरूपद्वयम् उक्त्वा उपसंहरति **शुक्ल** इति.

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।

एकया यात्यनावृत्तिम् अन्यया वर्तते पुनः।।२६।।

शुक्लकृष्णे पूर्वोक्ता शुक्ला, इतरा कृष्णा; **एते गती** ज्ञानप्रकाशक–गमनात्मके **जगतः** तत्तदधिकारिणः **शाश्वते** सनातने अनादी **मते** मन्मते इति अर्थः. **एकया** पूर्वोक्तया **अनावृत्तिं** याति, **अन्यया** कृष्णया **पुनः वर्तते** आवर्तते. अनेन प्रकारेण गमनादिना स्वरूपम् अत्रैव ज्ञेयम् इति अर्थः।।२६।।

एतज्ज्ञानफलं वदन् उपसंहरति **न एते** इति.

नैते सृती पार्थ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन!।।२७।।

एते सृती मार्गौ **हे पार्थ** मद्भक्त **जानन् कश्चन योगी** मत्सम्बन्धियोगं विना केवलयोगी भूत्वा **न मुह्यति** न मोहं प्राप्नोति. सकामो भूत्वा केवलयोगाद्यासक्तो न भवति इति अर्थ:. यतः एतज्ज्ञानिनो मोहो न भवति, **तस्माद्** मदुक्तज्ञानयुक्त: सर्वत्र मोहरहित: **सर्वेषु कालेषु** लौकिकालौकिकेषु पूर्वोक्तेषु वा अर्जुन मोक्षजातीयनामयुक्त **योगयुक्तो** मद्योगयुक्तो **भव** इति अर्थ:।।२७।।

एवम् अष्टप्रश्नोत्तरम् उक्त्वा एतज्ज्ञानयुक्तयोगिनः [२०]सर्वफलप्राप्तिम् उक्त्वा उपसंहरति **वेदेषु** इति.

वेदेषु यज्ञेषु तप:सु चैव
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वम् इदं विदित्वा
योगी परं स्थानम् उपैति चाऽऽद्यम्।।२८।।

वेदेषु अध्ययनादिभि:, **यज्ञेषु** यज्ञानुष्ठानादिभि:, **तपस्सु** परमसन्तापेन क्लेशसहनादिभि:, **दानेषु** तुलापुरुषादिभिः **यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्** उक्तम् इति यावत्, **तत्सर्वं** फलम् **इदं** समस्ताध्यायार्थं **विदित्वा अत्येति** प्राप्नोति ततो अधिकमपि **योगी** मद्योगयुक्त: सन् **परं** मत्सेवारूपम् **आद्यं** सकलकारणरूपं मच्चरणात्मकम् **स्थानं उपैति** मत्समीपे प्राप्नोति इति भाव:।।२८।।

भक्तै: शुद्धात्मभक्त्यैव संयोग: पुरुषोत्तमे।
प्राप्यते कृष्णदेवेन तदुक्तमिह चाष्टमे।।१।।
महापुरुषसंयोगो जीवानां तु यथा भवेत्।
कृपया कृष्णदेवेन पार्थायोक्तं तदष्टमे।।२।।

इति श्रीभगवद्गीतामृत-तरङ्गिण्याम् अष्टमो अध्यायः

पाठभेदाः

१. 'कर्माद्यरूप' इति मां.पाठः.

२. ''पृष्टवान् स्पष्टमेतस्य कृष्ण उत्तरमुक्तवान्'' इति मुद्रितपाठः.

३. 'सप्तपदार्थ' इति मां.पाठः.

४. ''किम्? आध्यात्मादयस्तु हीना एवं तेषाम्'' इति मां.पाठः.

५. 'सदैकरसरूपम्' इति मुद्रितपाठः.

६. 'मीयते अस्मिन्' इति मुद्रितपाठः.

७. 'भगवद्द्रव्यादि...' इति मां.पाठः.

८. 'मम' इति मुद्रितपाठः.

९. ''तद्भावभावितः भवति स तमेव स्वाभ्यासवशेन तत्समये स्मरति इति अर्थः. निरन्तरं यद्भावयद्भावयुक्तो भवति तमेव अन्ते स्मरति'' इति मां.पाठः.

१०. ''ममाप्नोषि तथाप्नोती– बोध्यते'' इति मां.पाठः.

११. 'एवं पुरुषम्' इति मुद्रितपाठः.

१२. 'अन्तकाले **मनसा**' इति मुद्रितपाठः.

१३. ''अक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात्'' इति मुद्रितपाठः.

१४. 'महात्मका' इति मुद्रितपाठः.

१५. ''**जन्म न प्राप्नुवन्ति** इति'' इति मुद्रितपाठः.

१६. 'इति अर्थः' इति मुद्रितपाठः.

१७. ''परवशः सन्'' इति मुद्रितपाठः.

१८. ''तस्मात् पूर्वोत्पत्ति...'' इति मुद्रितपाठः.

१९.'' इति मुद्रितपाठः.

२०. 'सर्वकाल...' इति मुद्रितपाठः.

V

राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः

प्रोवाच कृष्णः कृपया नवमे पाण्डवं प्रति[1]।।
राजविद्या राजगुह्यं योगं स्वैश्वर्यबोधकम्।।१।।

एवं पूर्वाध्याये स्वस्वरूपं भक्त्यैकलभ्यम् उक्त्वा भक्तिस्वरूपज्ञानम् आह कृष्णः कृपया **इदन्तु** इति.

श्रीभगवान् उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

इदन्तु गुह्यतमम् अत्यन्तं गुप्तं भगवद्विषयकभक्त्यात्मकं **ज्ञानं विज्ञानसहितम्** अनुभवसहितं भक्तिप्रतिफलनरूपम् **अनसूयवे** प्रतिक्षणम् उत्तरोत्तरम् अतिकाठिन्यभक्त्यैकलभ्यस्वरूपकथनेऽपि[2] दोषरहितश्रवणैक-परचिताय ते तुभ्यं **प्रवक्ष्यामि** प्रकर्षेण स्वरूपज्ञानसहितं कथयिष्यामि इति अर्थः. **यज्ज्ञात्वा** यत् स्वरूपं ज्ञात्वा **अशुभात्** स्वरूपाज्ञानात्मकसंसाराद् मोहाद्वा **मोक्ष्यसे** मुक्तो भविष्यसि इति अर्थः. 'तु'शब्देन सर्वेषाम् अकथनीयत्वं ज्ञापितम्. 'ते' इति कथनेन कृपया वक्ष्यामीति[3] व्यञ्जितम्।।१।।

गुह्यतमत्वज्ञापनाय उच्यमानस्य सर्वोत्तमत्वम् आह 'राजविद्या' इति.

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रम् इदम् उत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुम् अव्ययम्।।२।।

इदम् उच्यमानं ज्ञानं[4] **राजविद्या** विद्यानां राजा, ब्रह्मविद्यात्मकम् इति अर्थः. **राजागुह्यं** गुह्यानां गोप्यानां राजा, विद्यासु मुख्यत्वाद्; गोप्येषु मुख्यत्वात् कस्यापि न वक्तव्यम् इति भावः. **पवित्रं** परमपावनम् इति अर्थः. **उत्तमं** सर्वोत्कृष्टम्. **प्रत्यक्षावगमं** साक्षात्फलात्मकं दृष्टफलरूपम् इति अर्थः. **धर्म्यं** धर्मोत्पादकं, **कर्तुं सुसुखं** सुखेन **कर्तुं** योग्यम्, **अव्ययम्** अविनाशि. यद्वा **अव्ययं कर्तुं** स्वसुखं **सुसुखं** परमसुखम्[5] इति अर्थः।।२।।

एवं पूर्वं ''**ते प्रवक्ष्यामि**'' (९।१) इत्यनेन श्रद्दधानाय तुभ्यं कथयामि इति प्रतिज्ञाय एतदश्रद्दधानाः संसारं प्राप्नुवन्ति इति कथनेन एतस्य उत्तमत्वं प्रतिपादयति **अश्रद्दधाना**ः इति.

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप!।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

हे परन्तप! मत्प्रसादात्मकोत्कृष्टतपोयुक्त इदं ज्ञानं मद्वाक्यरूपम् **अश्रद्दधानाः पुरुषाः** योगज्ञाअपि अस्य धर्मस्य फलरूपं **माम् अप्राप्य** मृत्युयुक्ते संसारमार्गे **निवर्तन्ते** परिभ्रमन्ति ''**जायस्व म्रियस्व**'' (छान्दो.उप. ५।१०।८) इति तृतीयमार्गाभिनिविष्टाः भवन्ति इति अर्थः. 'अश्रद्दाधानाः' इति कथनेन श्रद्धामात्रेणापि संसाराभावो व्यञ्जितः।।३।।

एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपं च स्तुत्वा ज्ञानमेव आह द्वाभ्याम् **मया** इति.

मया ततम् इदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

अव्यक्तातिरिक्तेषु लौकिकेन्द्रियागोचराः स्वक्रियेच्छैकदृश्या मूर्तिः स्वरूपं यस्य. वक्ष्यति च अग्रे ''**दिव्यं ददामि ते चक्षुः**''(११।८) ''**भक्त्या त्वनन्यया**''(११।५४) इत्यादि. एतादृशेन **मया इदं जगत् सर्वं** जडजङ्गमात्मकम् आतृणस्तम्बान्तं ततं व्याप्तं मत्क्रीडार्थं मदात्मकं मया सृष्टम् इति अर्थः. यद्वा **अव्यक्तमूर्तिना मया व्याप्तम् इदं सर्वं जगद्** अस्ति इति शेषः. अयं भावः : आतृणस्तम्बान्तं सर्ववस्तुषु तत्तत्स्वरूपो अहमेव अस्मि, अव्यक्तत्वात् तथा सर्वैः न ज्ञायते; एवं चेत् सर्वेषु भूतेषु तद्रूपः प्रविष्टो भगवान्[६] आधिदैविक-न्यायेन भविष्यतीति अतः आह **मत्स्थानि** इति. मत्स्वरूपस्थानि सर्वाणि सन्ति, सर्वाधारत्वात्. क्रीडेच्छया पृथक् तत्तद्रूपं प्रकटयामि[७] इति भावः. अपरिच्छिन्नत्वात् प्रकटमपि जगन्मय्येव तिष्ठति. **तेषु नच अहम्**. तेषु परिच्छिन्नतया न तिष्ठामि इति अर्थ।।४।।

''**मत्स्थानि सर्वभूतानि**''(९।४) इति उक्त्या भगवतः ते भिन्नाः

भविष्यन्तीति ज्ञानेन व्यापकत्वे भ्रमो मा भवतु इत्यतः आह **नच मत्स्थानि** इति.

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन् न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः।।५।।

च पुनः. तानि **भूतानि** जातान्यपि भिन्नतया **मत्स्थानि न,** किन्तु मदात्मकान्येव इति अर्थः. ननु तर्हि कथं भेदप्रतीतिः? इत्यतः आह **पश्य मे योगमैश्वरम्** इति. **मे ऐश्वरं** कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थत्वरूपं क्रीडात्मकं **योगं पश्य**. अयम् अर्थः : मया क्रीडार्थम् अभेदेऽपि भेदो बोध्यते. एतदेव विशदयति **भूतभृद्** इति. भूतानि आधारत्वेन धारयति स्वरसार्थं पोषयति इति **भूतभृत्**. भूतानि पालयति तथा भावयति स्वभावभावितानि करोति इति **भूतभावनः**. एतादृशोऽपि सन् **ममात्मा** मदात्मस्वरूपं भूतस्थो न भवति.

अयं भावः : तेषु क्रीडां कुर्वन्नपि यथा ते क्रीडार्थं सृष्टाः तत्र स्थिताः स्वाभिमानेन भिन्नतया तिष्ठन्ति तथा अहं न तिष्ठामि।।५।।

तर्हि भवतो व्यापकत्वाद् जीवस्य अणुत्वाद् अव्यापकत्वाच्च मत्स्थानि इति आधाराधेयभावः. कथम्? इत्यतः आह सदृष्टान्तम् **यथा** इति.

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

यथा सर्वगो महानपि वायुः नित्यम् आकाशस्थितो भवति आकाशेन च न स्पृश्यते. '**नित्य**'पदेन आकाशएव सर्वत्र गतियुक्तो भवतीति व्यञ्जितम्. **तथा सर्वाणि भूतानि** सर्वत्रगतियुक्तानि मत्क्रीडेच्छयैव **मत्स्थानीति उपधारय** जानीहि. **उप** समीपे मत्समीपे **धारय** पश्य इति अर्थः।।६।।

ननु भगवद्धृतानां भगवति स्थितानां च नाशः कथम्? इति आशङ्क्य आह **सर्वभूतानि** इति.

सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

हे कौन्तेय कृपैकपात्र **कल्पक्षये** कल्पसमाप्तौ **सर्वभूतानि मामिकां**

प्रकृतिं स्वरतीच्छारूपां **यान्ति. पुनः तानि कल्पादौ** प्रपञ्चक्रीडेच्छया **अहं विसृजामि** विशेषेण नीचोच्चप्रकारेण वैचित्र्यार्थं सृजामि।।७।।

ननु त्वयि लीनानाम् आनन्दनिमग्नानां पुनः सृष्टौ किं तात्पर्यम्? इति आशङ्क्य आह **प्रकृतिम्** इति.

प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेर् वशात्।।८।।

स्वां प्रकृतिम् असाधारणीं रमणात्मिकाम् **अवष्टभ्य** अधिष्ठाय रमणभावम् अङ्गीकृत्य **पुनः-पुनः** वारंवारं मम क्रीडायोग्यं मद्दर्शनयोग्यं च **भूतग्रामं** चतुर्विधं **कृत्स्नं** पूर्णम् अवशं मदिच्छाधीनं **प्रकृतेः वशात्** क्रीडात्मक-स्वरूपवशात् **सृजामि**. अन्यथा सृष्टानां पूर्वोक्तदूषणं स्यात् स्वक्रीडार्थं सृष्टानाम् अत्रापि आनन्दरूपतैव इति भावः।।८।।

ननु रमणात्मक-शक्तिवशसृष्टानि तानि त्वां वशीकृत्य प्रपञ्चरमण एवं कथं न स्थापयन्ति? इति आशङ्क्य आह **नच माम्** इति.

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।

उदासीनवदासीनम् असक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

हे धनञ्जय! लौकिकपरवशैकचित्त **तानि** भूतानि **उदासीनवद् आसीनं तेषु** परमकृपया कृतार्थीकरणार्थं **तेषु** तिष्ठन्तं **मां न निबध्नन्ति** न वशीकुर्वन्ति. **च** पुनः **कर्माणि** क्रीडात्मकानि च मां न वशीकुर्वन्ति. कुतः? **तेषु कर्मसु** क्रीडात्मकेष्वपि **असक्तम्** अनासक्तम्, आत्मारामत्वात् शक्तिषु रसदानार्थं क्रीडाकरणात्. एतदेव उक्तं ''**वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः, रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया**''(भाग.पुरा.८।५।५) इति।।९।।

ननु उदासीनः तेषु त्वं चेत् तदा प्रकृतिवशोत्पन्नाः जीवाः कथं क्रीडायोग्याः भवन्ति? कथं वा त्वं कर्ता? इति आशङ्क्य आह **मया** इति.

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनाऽनेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

मया परिदृश्यमानेन **अध्यक्षेण** अधिष्ठात्रा सकलकर्त्रा क्रीडाधिष्ठिता सती **प्रकृतिः सचराचरं** जडजीवसहितं जगत् **सूयते** जनयति. **अनेन** क्रीडात्मकेन **हेतुना** कारणेन **जगद्** विशेषेण **परिवर्त्तते** जायते च. अतो योग्याः भवन्ति इति अर्थः।।१०।।

ननु इदं स्वरूपं सर्वाधिष्ठातृ सर्वे कथं न जानन्ति? इत्यतः आह **अवजानन्ति** इति द्वयेन.

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुम् आश्रितम्।

परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

मूढाः असुराः केवलम् इच्छयैव सृष्टाः **मम भूतमहेश्वरं** सर्वाधिष्ठातृ सर्वाधिदैविकरूपं **परं भावं** पुरुषोत्तमात्मकम् **अजानन्तो मानुषीं तनुं** मायिनं स्वाज्ञानेन **मां** ज्ञात्वा **अवजानन्ति** अवमन्यन्ते.

अत्र अयं भावः पुरुषोत्तमो अयं येन स्वरूपेण वदति तदेव स्वरूपं ब्रह्मरूपम् आनन्दमयम्, तमेव मानुषीं तनुम् आश्रितं जानन्ति अज्ञत्वात्।।११।।

तेषां मूढत्वं विशदयति **मोघाशाः** इति.

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।

राक्षसीम् आसुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

मोघाशाः मोघं निष्फलम् असमर्पितान्नं केवलं देहपोषार्थम् अश्नन्ति भक्षयन्तीति तथा. **मोघं** निष्फलमेव भगवत्सेवातिरिक्त**कर्मकर्त्तारः**. **मोघज्ञानाः मोघं** निष्फलं मोहकशास्त्रोक्तभगवत्स्वरूपज्ञानातिरिक्त**ज्ञानयुक्ताः**. **विचेतसः** अव्यवस्थितमनसः. **राक्षसीं** स्वदेहपोषणरूपाम्. **च** पुनः. **आसुरीं** परोपद्रव-करणरूपां **मोहिनीं** मद्विस्मारिकां प्रकृतिमेव मायामेव स्वभावम् **आश्रिताः**[९]. अतएव मां मानुषीं तनुम् आश्रितं ज्ञात्वा अवमन्यन्ते इति पूर्वेण अन्वयः।।१२।।

एवम् आसुराणां स्वाज्ञानम् उक्त्वा देवानां[१०] स्वज्ञानम् आह **महात्मानस्तु** इति.

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

हे पार्थ भक्तस्वरूपश्रवणैकयोग्य **महात्मानस्तु** महान् अहमेव आत्मा येषां ते महात्मानः. 'तु'शब्दः प्रकरणान्तरज्ञापनाय. तदेव आह **दैवीं** क्रीडात्मिकां देवरूपां वा **प्रकृतिं** स्वभावम् **आश्रिताः**. **अनन्यमनसः** न विद्यते अन्यत्र मद्व्यतिरिक्ते मनो येषां ते मां **भूतादिं** सकलजगत्कारणम् **अव्ययं** नित्यं यथार्थरूपं ज्ञात्वा भजन्ति।।१३।।

ते च द्विविधाः, भक्ताः ज्ञानिनश्च, तत्र प्रथमं भक्तानां भजनप्रकारम् आह **सततम्** इति.

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

सततं निरन्तरं **मां कीर्तयन्तः** लीलास्वरूपज्ञानेन श्रीभागवतोक्तप्रकारेण गुणगानं कुर्वन्तः, सर्वत्र मदुत्कर्षं कथयन्तः. **यतन्तः च** कीर्तने यत्नादिकं कुर्वाणाः, इन्द्रियनिग्रहं वा कुर्वन्तः. **'च'**कारेण श्रवणादिकं[११] ज्ञाप्यते. पुनः कीदृशाः? **दृढव्रताः** दृढम् ऐहिक-पारलौकिकयोः मदेकनिष्ठं मोहशास्त्राद्यपरिभूतं व्रतं निश्चयो येषां तादृशाः. किञ्च **नमस्यन्तश्च** ''किमासनं ते गरुडासनाय'' इत्यादिना परमकाष्ठापन्न-वस्तुरूपनमस्कारं कुर्वन्तः स्वदैन्याविर्भावपूर्वकं, चकारेण नृत्यादिकमपि कुर्वन्तः. पुनः कीदृशाः? **नित्ययुक्ताः** सावधानाः मदेकपरचित्ताः. **भक्त्या** स्नेहेन, नतु विहितत्वेन, **माम् उपासते** सेवन्ते इति अर्थः।।१४।।

एवं भक्तानां भजनप्रकारम् उक्त्वा ज्ञानिनाम् आह **ज्ञानयज्ञेन** इति.

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो माम् उपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

अन्ये ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन **चापि** ज्ञानात्मकयजनप्रकारेण चापि **यजन्तो** हृद्येव **मां** पूजयन्ते **उपासते** भजन्ते इति अर्थः. 'अपि'शब्देन 'च'कारेण च

पूर्वोक्तभजनापेक्षया हीनत्वं व्यज्यते. ज्ञानभजने बहवः प्रकाराः सन्ति, तान् आह **एकत्वेन** 'सोऽहं ब्रह्मास्मि' इति प्रकारेण, **पृथक्त्वेन** योगेन शरणागमनरीत्या **बहुधा** सर्वत्र तद्रूपेण **विश्वतोमुखं** सर्वात्मकं माम्, एवम् अनेकप्रकारेण **माम् उपासते** भजन्ते इति अर्थः।।१५।।

ननु एकमेव त्वां बहुधा ये भजन्ति तेऽपि[१२] अज्ञानिनएव, तेषाम् अज्ञाने ज्ञाने कथं प्रवेशः? इति आशङ्क्य तत्तदात्मकं[१३] मां ज्ञात्वैव भजन्ति इति ज्ञापनाय स्वस्य सर्वात्मत्वं प्रकटति **अहं क्रतुः** इत्यादिचतुर्भिः.

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहम् अहमौषधम्।
मन्त्रोऽहम् अहमेवाज्यम् अहमग्निर् अहं हुतम्।।१६।।

क्रतुः यज्ञाधिष्ठात्री देवता **अहम्,** आधिदैविकरूपः तत्फलदाता इति अर्थः. **यज्ञो** धर्मात्मको अग्निहोत्रादिपञ्चात्मको[१४] अहम्. **स्वधा** पित्रर्थे श्राद्धादि पितृयज्ञरूपो **अहम्. औषधं** सकलरोग-निवर्तनात्मक-भैषज्यरूपो अन्नरूपो वा **अहम्. मन्त्रः** ऋगादिः अहम्. **आज्यं** होमद्रव्यं हविः. **अग्निः** आहवनीयादिः. **हुतं** होमः।।१६।।

पिताऽहम् अस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रम् ॐकार ऋक्-साम यजुरेव च।।१७।।

किञ्च. **अस्य जगतो** मदात्मकस्य **अहमेव पिता** उत्पादकः बीजम्[१५]. **माता** योनिः. **धाता** कर्मफलदाता. **पितामहो** ब्रह्मा. **वेद्यं** सर्वज्ञानादिसाधनैः वेद्यवस्तु[१६]. पवित्रं पावनम्. **ॐकारः** अक्षरात्मकब्रह्मबीजम्, ऋगादिः वेदत्रयात्मा।।१७।।

गतिर् भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजम् अव्ययम्।।१८।।

गतिः मोक्षादिफलरूपः. **भर्ता** पोषकः. **प्रभुः** समर्थः सर्वनियन्ता. **साक्षी** द्रष्टा इति अर्थः. **निवासः** स्थानं सर्वदेहस्वरूपात्मकः इति. **शरणम्**

अभयदाता मृत्युप्रभृतिभयरक्षकः. **सुहृद्** अप्रार्थितहितकर्ता. **प्रभवः** प्रकर्षेण भवति अस्माद् इति जगत्स्रष्टा. प्रलयः प्रकर्षेण लीयते अस्मिन् इति लयस्थानम्. **स्थानं** तिष्ठति अस्मिन् इति स्थानं सकलाधारः. **निधानं** निधीयते स्थाप्यते अनेन इति निधानं, रक्षकः इति अर्थः. **अव्ययं बीजम्,** अविनाशि बीजं मूलकारणम् इति अर्थः।।१८।।

तपाम्यहम् अहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहम् अर्जुन।।१९।।

तपामि रसास्वादनार्थं सर्वेषां तापं करोमि. यदा **तपामि** तदा वर्षं रसात्मकं **निगृह्णामि** आकर्षामि स्वस्मिन् स्थापयामि. **च** पुनः तद्दानसमये पुनः **उत्सृजामि**. **अमृतं** जीवनम् अक्षयम्. **मृत्युश्च** मृत्युरूपः. **सत्** स्थूलं परिदृश्यमानम्. **असत्** सूक्ष्मम् अदृश्यम्. **हे अर्जुन!** एतत्सर्वं पूर्वोक्तम् अहमेव इति अर्थः. एवं बहुधा माम् उपासते इति पूर्वेणैव सम्बन्धः।।१९।।

एवं बहुप्रकारकं यत् स्वस्वरूपम् उक्तं तम् अज्ञात्वा[१७] ये यज्ञादिकम् अन्यथा कुर्वन्ति सकामाः ते जन्ममरणात्मके संसारे तिष्ठन्ति इति आह द्वाभ्याम् **त्रैविद्या** इति.

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यम् आसाद्य सुरेन्द्रलोकम्
अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।२०।।

त्रैविद्याः वेदत्रयीनिरूपितकर्मकर्त्तारः. **सोमपाः** यज्ञशेषामृतपातारः. **पूतपापाः** कर्मिणां पापसम्भवाद् विधूतकल्मषाः. यज्ञैरेव वा विधूतकल्मषाः. **मां यज्ञैः इष्ट्वा** मदाज्ञारूपत्वेन भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वम् अज्ञात्वा तत्स्वरूपं च अज्ञात्वा **स्वर्गतिम्** इन्द्रादिलोकं **प्रार्थयन्ते. ते पुण्यं** पुण्यात्मकं[१८] **सुरेन्द्रलोकम् आसाद्य** प्राप्य **दिवि** स्वर्गे[१९] **दिव्यान्** तल्लोकोद्भवान् **देवभोगान् अश्नन्ति** भुञ्जते.।।२०।।

ते तं भूक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

[२०]**ते तं** पूर्वोक्तं पुण्यात्मकं **स्वर्गलोकं विशालं** सकलविषयभोगयोग्यं भुक्त्वा भोगेन **पुण्ये क्षीणे** सति **मर्त्यलोकं विशन्ति** प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. **एवं** प्रकारेण **त्रयीधर्मम्** इष्टं[२१] परित्यज्य **कामकामाः** सन्तो **अनुप्रपन्नाः गतागतं** जन्ममरणात्मकप्रवाहं **लभन्ते** प्राप्नुवन्ति इति अर्थः।।२१।।

अथ ये पूर्वोक्तसर्वस्वरूपं मदंशबलयुक्तं ज्ञात्वा सर्वं परित्यज्य मां भजन्ति, तेषां सर्वम् अहमेव करोमि, ते उत्तमाः इति तत्स्वरूपम् आह **अनन्याः** इति.

अनन्याश् चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अनन्याः न विद्यते अन्यो लौकिकालौकिकादिषु प्रार्थ्यत्वेन येषां, वा मत्सेवनातिरिक्तं फलं येषां ते तथाभूताः सन्तो **माम्** एकं **चिन्तयन्तः** सर्वतो मनोनिरोधेन मां स्मरन्तो **ये** दुर्लभाः **जनाः** जन्मभाजो मत्सेवार्थक-जन्मज्ञानवन्तः **पर्युपासते** परितः सर्वात्मभावेन सेवन्ते इति अर्थः. **तेषां नित्याभियुक्तानां** नित्यस्वरूपस्य मम सेवनपराणां[२२] मम नित्यम् अभियुक्तानां सम्मतानां **योगं** सेवार्थधनादिसम्पत्तिलाभं सेवने मद्योगं वा, **क्षेमं** तत्पालनं भक्त्युन्मुखीकरणात्मकं मद्भावरूपं वा **अहं** पुरुषोत्तमः **वहामि** पालयामि इति अर्थः. वहनोक्त्या तदशक्तौ स्वशक्त्याविर्भावेन तत्करोमि इति व्यञ्जितम्।।२२।।

ननु अन्यदेवभजनकर्त्तारोऽपि त्वदंशत्वात् त्वद्भजनमेव कुर्वन्तीति कथं न तेषु त्वत्कृपा? तद्भजनं च कथं भोगएव क्षीयते? इति अतः आह **येऽपि** इति.

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

येऽपि श्रद्धयान्विता: श्रद्धायुक्ताः **भक्ताः** तद्दासत्वधर्मयुक्ताः[२३] **अन्यदेवता** यज्ञादिसाधनैः तदधिष्ठातृरूपेण मदंशाज्ञानेन भजन्ति **तेपि**[२४] तेषु मदंशत्वाद् **मामेव** भजन्ति, परन्तु मत्स्वरूपाज्ञानाद् अविधिपूर्वकं भजन्ति, अतः तेषां तद्भजनानुरूपं क्षयिष्ण्वेव फलं भवति; अहं च न कृपां करोमि इति अर्थ:. अतएव स्मृतिषु अविधिकरणनिषेध: **''विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत्, तद् हरन्त्यसुरास्तस्य सुमूढस्याऽकृतात्मन:''** (   ) इति।।२३।।

विधिहीनरूपम् आह **अहम्** इति.

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु माम् अभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

हि निश्चयेन **सर्वयज्ञानां भोक्ता** तदधिष्ठातृदेवानां मदंशत्वात् तद्रूपेण अहं भोक्ता. **च**कारेण तद्रूपोऽपि. **प्रभुरेव च** फलदाता च इति अर्थ:. **एव**कारेण द्वितीय'**च**'कारेण च सर्वप्रभुत्वेन भोक्तृत्वेऽपि मदेकांशप्रीणनमेव भवति, **नतु** सर्वप्रभुमत्प्रीतिः इति ज्ञापितम्. एतादृशं **मां** तु पुनः **तत्त्वेन** मूलरूपेण **न अभित:** सर्वप्रकारेण **जानन्ति ''यावान् यश्चास्मि (तत्त्वत:) यादृश:''**(भग.गीता १८।५५) इति. अतः **ते च्यवन्ति** पर्यावर्तन्ते. मत्तो वा च्यवन्ति भ्रश्यन्ति.

अत्र अयं भाव: **:** भगवदंशदेवताभजनत्वेन यज्ञादिना वा यत् फलं भवति तद् महाप्रभुभजनेन भवति 'मूलनिषेक: शाखायामपि' इतिन्यायेन प्रभुभजने तेऽपि प्रसीदन्ति, तद्भजने तएव प्रसीदन्ति तदंशप्राकट्यं च भवेद्[२५]. अतएव युधिष्ठिरेण श्रीभागवते **''क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनी:, यक्ष्ये विभूतीर् भवतः तत्सम्पादय न: प्रभो''** (भाग.पुरा.१०।७२।३) इति विज्ञापितम्. तेन भगवदिच्छया भगवद्भजनं कुर्वता तदिच्छां ज्ञात्वा तदंशप्राकट्यं चेत् तदा तद्रीत्यैव कार्यम् अन्यथा न कार्यम् एतदज्ञानात् तत्त्वज्ञानाभाव:।।२४।।

ननु त्वदंशाज्ञाने यजनकर्त्तारः च्यवन्ति, येषान्तु त्वदंशज्ञानेन तद्देवयजनकर्तृत्वं तेषां[२६] किं फलम्? इत्यतः आह **यान्ति** इति.

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रता:।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

देवव्रताः इन्द्रादिषु मदंशज्ञानेन तद्रूपेषु सनियमाः. **देवान्** तानेव **यान्ति** प्राप्नुवन्ति. **पितृव्रताः** श्राद्धादिविधिभिः पितृयाजकाः **पितॄन् यान्ति** प्राप्नुवन्ति. **भूतेज्याः** विनायक-दुर्गादिपूजकाः **भूतानि** तान्येव **यान्ति**. अत्र अयम् अर्थः **:** तत्तद्देवान् प्राप्य तत्सङ्गेन परम्परया **मां** प्राप्नुवन्ति. **मद्याजिनः** कर्मादिभिः तदाधिदैविकरूपं मद्यजनकर्त्तारोऽपि[२७] मां प्राप्नुवन्ति. ते परम्परया मां प्राप्नुवन्ति. एते साक्षाद् इति विशेषः. **'अपि'**शब्देन कर्माङ्गत्वेन भजनेऽपि मुक्त्यात्मक-स्वप्राप्तिरूपविशेषो व्यञ्जितः।।२५।।

भक्तेषु विशेषम् आह **पत्रम्** इति.

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

पत्रं तुलस्यादीनां प्रियरूपम्. **पुष्पम्** अलङ्कारात्मकम्. **फलं** सामग्रीरूपम्. **तोयं** सामग्रीभेदरूपम्. **यो मे** मम **भक्त्या** स्नेहेन, नतु विहितत्वेन, **प्रयच्छति** प्रकर्षेण भावात्मकतया समर्पयति, **तत्** पूर्वोक्तं सर्वं **भक्त्युपहृतं** स्नेहेन समर्पितं **प्रयतात्मनः** मदेकपरतया वशीकृतचेतसः **अहं** पुरुषोत्तमः **अश्नामि** भुनज्मि इति अर्थः. अनायासप्राप्त्यर्थं पत्रादिकम् उक्तम्. अशनोक्त्या तदङ्गीकारेण अग्रे स्वभोगयोग्य-सर्वसामग्रीसम्पादनं व्यज्यते. अतएव सुदामार्थं स्वसम्पद्दाने पृथुकमुष्टिम् अङ्गीकृतवान्।।२६।।

यत् करोषि यद् अश्नासि यज् जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

यद् लौकिकं वैदिकं **करोषि, यद् अश्नासि** भुङ्क्ते, **यद् जुहोषि** होमं करोषि **यद् ददासि** दानं [२८]**यत् तपस्यसि** तपस्यां करोषि **तत्** सर्वं **मदर्पणं** मयि समर्पितं कुरुष्व. अयम् अर्थः **:** देहादिधर्मान् विवाहपुत्रोत्पत्त्यर्थकामादीन् निद्रा-जागरणमूत्रपुरीषादिकान् तानपि भगवत्सेवाद्यर्थ-प्रतिबन्धाभावार्थविचारेण कुर्याद्, नतु स्वसुखेच्छया. तथा भोजनादिकमपि तत्र प्रसादजपुष्ट्या सेवार्थबलाप्त्यर्थम्.

होमश्च तद्वियोगजदु:खाप्त्यर्थं.[३०] दानं च तदीयत्वेन द्रव्यशुद्ध्या भगवद्विनियोग-प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थम्. तपश्च भगवत: कारुण्योदयार्थम्. एवम् एतत् सर्वं भगवत्समर्पितं भवति।।२७।।

एवं मत्समर्पितेषु तत्कृतबन्धो न भविष्यतीति आह **शुभाशुभफलैः** इति.

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो माम् उपैष्यसि।।२८।।

एवं मत्समर्पणेन **शुभाशुभफलैः** शुभानि पशुपुत्रादीनि[३१], अशुभानि क्लेशदारिद्र्यादीनि यानि कर्मजानि फलानि तैः **मोक्ष्यसे** मुक्तो भविष्यसि इति अर्थ:. तानि फलानि मत्सेवौपयिकान्येव भविष्यन्ति इति भाव:. तत: **सन्न्यासयोगयुक्तात्मा** सन्न्यास: कर्मणां मत्समर्पणं तेन यो योगो मद्भक्त्यात्मकः तेन युक्तः आत्मा अन्त:करणं यस्य तादृश: सन् **कर्मबन्धनैः विमुक्तो माम् उपैष्यसि** प्राप्स्यसि इति अर्थ:।।२८।।

एवं कर्मसमर्पणेन तद्बन्धनिवृत्त्युक्त्या असमर्पकाणां च बन्धएव पर्यवसितः तेन स्ववैषम्यम् आशङ्कमानम् आह **समो अहम्** इति.

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय:।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

अहं सर्वभूतेषु सम:. न मे द्वेष्य: कोऽपि अस्ति[३२] **न प्रिय:.** अत्र अयं भाव: **:** स्वक्रीडार्थं सर्वभूतानि मया सृष्टानि, अतः तेषु सर्वेषु अहं सम: तेषु[३३] ये क्रीडार्थकत्वम् अज्ञात्वा अन्यथाकर्मादिकर्तारो मयि विषमत्वं कुर्वन्ति, अतः तेषान्तु आत्मदोषेणैव बन्धादिकं भवति; **ये तु मां भक्त्या** स्नेहेन क्रीडारूपं ज्ञात्वा **भजन्ति ते** स्वभजनात्मकधर्मेण **मयि तिष्ठन्ति तेषु अहं** तत्कृतितुष्टः तिष्ठामि, तेन न वैषम्यम् इति भाव:।।२९।।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

चेत् सुदुराचारोऽपि अनन्यभाग् मां भजते सः साधुरेव मन्तव्यः. अत्र अयं भावः : विषयादिमहापापौघाचरणशीलः तन्निवृत्तिनिमित्तान्यदेवभजन–प्रायश्चित्तादिधर्मानुपायज्ञानेन अन्यभजनरहितः तत्त्यागाशक्तः त्यक्तुकामः स्वदैन्याविर्भावेन यो मां भजते सः साधुरेव मान्यः. त्वया इति शेषः. ''अपि चेत्'' इत्यनेन तादृशाचारस्य अनन्यभजनत्वे[३४] दुर्लभत्वं ज्ञापितम्. कुतः ? इत्यतः आह **सम्यग्व्यवसितः सः** पूर्वोक्तः सम्यग् अध्यवसायं निश्चयं यतः कृतवान्; यन्मम महापातकनिवारकः श्रीकृष्णं विना न अन्यः इति. **'हि'**इति निश्चयार्थम्. अत्र सन्देहो नास्ति इति अर्थः।।३०।।

एवं प्रवृत्तस्य दुराचारादिकं नश्यति इति आह **क्षिप्रम्** इति.

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

क्षिप्रं शीघ्रं **धर्मात्मा** मत्सेवनयोग्यो **भवति** ततः **शश्वच्छान्तिं** शाश्वतीं शान्तिं मद्रूपां **नितरां** भावात्मरूपेण **गच्छति** प्राप्नोति इति अर्थः. तस्मात् **हे कौन्तेय!** मत्कृपापात्र तथा दुराचरणशीलेऽपि मद्भक्ते निर्दोषभावेन साधुत्वं मत्वा मद्भक्ते दोषदृष्टिषु **प्रतिजानीहि** प्रतिज्ञां कुरु; **यद् मे भक्तो** दुराचारादिदोषैः **न प्रणश्यति** दोषाएव नश्यन्ति इति अर्थः. एवं मद्भक्ताधिक्यवर्णनेन अहं तुष्टो भविष्यामि इति भावः।।३१।।

ननु एवं भक्ते हीनाधिकारित्वं स्याद् इत्यतः आह **मां हि** इति.

मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

हे पार्थ! मातृसम्बन्धेन उत्पन्नभक्तिरूप! **'हि'** इति निश्चयेन **मां व्यपाश्रित्य** विशेषेण आश्रित्य संसेव्य **ये पापयोनयोऽपि स्युः** नीचयोनयः अन्त्यजादयो म्लेच्छादयश्च, **स्त्रियः** परतन्त्रैकयोनयः, **वैश्याः** केवलं कृष्यादिपरा उदरम्भराः **तथा शूद्राः** शोकेन द्रवीभूताः अनुपदेश्याः **तेऽपि परां गतिं** मोक्षं

सायुज्यं **यान्ति** प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. तत्र **'ये'**इतिपदेन स्वसेवार्थोत्पादिता-तिरिक्ता इति ज्ञापितम्।।३२।।

यत्र हीनाधिकारिणः परमां गतिं प्राप्नुवन्ति, तत्र उत्तमाधिकारिणां किं वक्तव्यम्? इति आह **किं पुनः** इति.

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

पुण्याः वेदोक्तमत्स्वरूपज्ञानार्थं पूर्वं वेदाध्ययनकारिणां **ब्राह्मणाः** तथा पुण्यधर्मादिकरणेन प्रजाप्रतिपालकाः[३५] **राजर्षयः** राजानः क्षत्रियाः भूत्वा ऋषयः ब्रह्मकर्मनिष्ठा उत्तमाधिकारिणो **भक्ताः** सन्तः परां गतिं प्राप्नुवन्तीति किं पुनः वक्तव्यम्? तेषान्तु साक्षाद् भजनौपयिकत्वमेव भवति इति भावः. एतेन उत्तमाधिकारिणान्तु भवत्येव. यत्र हीनाधिकारिणामपि भवति इत्यनेन "अधिकं तत्रानुप्रविष्टं नतु तद्धानिः" इत्ययं न्यायः प्रदर्शितः. एतेन उत्तमानाम् एतदभावे हीनत्वमेव इति व्यञ्जितम्. यतः उत्तमाधिकारिणाम् आवश्यकम् अतः तव क्षत्रियत्वात् स्वधर्मनिष्ठत्वाद् भक्तपुत्रत्वाच्च उत्तमाधिकारित्वेन अवश्यं कर्त्तव्यम् इति आह **अनित्यम्** इति. **इमं** लोकम् अधिकरणं देहं **प्राप्य** अनित्यम् **असुखं** संसारं त्यक्त्वा ज्ञात्वा वा इति शेषः **मां भजस्व**।।३३।।

भजने प्रकारम् आह **मन्मना** इति.

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायणः।।३४।।

मय्येव मनो यस्य तादृशो भूत्वा **मद्भक्तो** मयि स्नेहयुक्तश्च सन् **मद्याजी** मत्पूजकः परिचर्याकरणशीलो **मां नमस्कुरु**. मनोनिवेशनेन मनोभजनम् उक्तम्. पूजनेन कायिकम्. नमनोक्त्या वाचिकम्. ततः कायवाङ्मनोभिः भजनं कुरु इति उक्तम्. एवं **मत्परायणः** सन् आत्मानं मयि **युक्त्वा** युक्तं कृत्वा [३६]आवेश्य **मामेव** पुरुषोत्तमम् **एष्यसि** प्राप्स्यसि. **'एव'**कारेण अक्षरांशादिप्राप्तिः निवारिता।।३४।।

एवं स्वभक्तिमाहात्म्यं भजनार्थं ससाधनम् ।
प्रोवाच नवमेऽध्याये श्रीकृष्णो ह्यर्जुनाय तु।।९।।

इति श्रीभगवद्गीताटीकायाम् अमृततरङ्गिण्यां नवमो अध्याय:

पाठभेदा:

१. ''पाण्डवाय वै'' इति मां.पाठः.
२. ''...लभ्य-स्व-स्वरूप...'' इति मां.पाठः.
३. ''कृपया -कथयामीति'' इति मां.पाठः.
४. ''उच्यमानं **राजविद्या**'' इति मुद्रितपाठः.
५. ''**अव्ययं कर्तुं** सुखं अक्षयफलं कर्तुं **सुसुखं** परमसुखरूपम्'' इति मां. पाठः.
६. 'भावान्' इति मुद्रितपाठः.
७. ''प्रकटयतीति भावः'' इति मुद्रितपाठः.
८. ननु भगवद्गतानां भवति स्थितानां नाश: कथम्?'' इति मुद्रितपाठः.
९. ''स्वभा-वं वा आश्रिताः'' इति मां.पाठः.
१०. 'दैवानाम्' इति मां.पाठः.
११. 'श्रवणादिकमपि' इति मां.पाठः.
१२. 'ते च ज्ञानिन' इति मुद्रितपाठः.
१३. ''इत्याशङ्क्य ते तत्तदात्मकम्'' इति मां. पाठः.
१४. 'अग्निहोत्रादियज्ञात्मकोऽहम्' इति मुद्रितपाठः.
१५. ''उत्पादकः. माता'' इति मुद्रितपाठः.
१६. 'वेद्यम्' इति मां.पाठः.
१७. 'तदज्ञात्वा' इति मुद्रितपाठः.
१८. ''ते पुण्यात्मकम्'' इति मुद्रितपाठः.
१९. ''**दिवि** स्वर्गे **स्वर्गलोकं विशालं** सकलविषयभोगयोग्यम्'' इति मुद्रितपाठः.
२०. ''**ते तं** पूर्वोक्तं पुण्यात्मकम्'' इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.
२१. ''त्रयीधर्मं मन्निष्ठं परि... '' इति मां.पाठः.
२२. 'नित्यस्वरूपमत्सेवनपराणाम्' इति मां. पाठः.
२३. ''श्रद्धायुक्ताः तदासक्तत्वधर्मयुक्ताः'' इति मुद्रितपाठः.
२४. 'तेपि' इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.
२५. ''प्रसीदन्ति तदपि तदंशप्राकट्यं चेत्. अत एव'' इति मां.पाठः.
२६. 'तद्देवयजनकर्तृणाम्' इति मां.पाठः.

२७. ‘मद्यज्ञ’ इति मां.पाठः.

२८. ‘‘दानं करोषि तत्’’ इति मुद्रितपाठः.

२९. ‘‘मत्समर्पितं **कुरुष्व.** देहादिधर्मान्’’ इति मुद्रितपाठः.

३०. ‘‘तद्वियोगजदुःखास्ये (दुःखमुखे)’’ इति मुद्रितपाठः.

३१. ‘शुभपुत्रादीनि’ इति मुद्रितपाठः.

३२. ‘‘कोपि न प्रियः’’ इति मुद्रितपाठः.

३३. ‘‘समः ये’’ इति मुद्रितपाठः.

३४. ‘अनन्यभजने’ इति मां.पाठः.

३५. ‘‘तथा **पुण्याः** धर्मादिकारणेन प्रजापरिपालकरः राजर्षयः’’ इति मां.पाठः.

३६. ‘अवश्यम्’ इति मां.पाठः.

V

विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः

नवमे भक्तिरूपं यद् उक्तं तत्सिद्धये हरिः ।

स्वविभूतिं स्वरूपं[1] च कृपया दशमेऽब्रवीत्।।१।।

पूर्वाध्याये सर्वकर्मसमर्पणम् उक्तं, ततः च भक्तिकरणम् आज्ञप्तम्, तत् च स्वरूपाज्ञानेन कृतमपि अकृतप्रायम् इति स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपं स्वविभूतिरूपं वदन् पार्थं श्रवणार्थं सावधानतया सम्मुखीकुर्वन् प्रतिजानीते **भूयएव** इति.

श्रीभगवान् उवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।

यत् तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

हे महाबाहो! भजनौपयिककृपया[2] शक्तिमन् **भूयएव** पुनरपि [3]मद्वचनश्रवणेन **प्रीयमाणाय** परमानन्दं प्राप्नुवते **ते हितकाम्यया यद्** अहं **वक्ष्यामि** तत् **परमं** परो मीयते ज्ञायते अनेन इति परमार्थरूपम् उत्कृष्टं **मे वचः शृणु**. 'प्रीयमाणाय' इतिपदेन अन्येभ्यो अवक्तव्यत्वं गोप्यत्वं च ज्ञापितम्. 'हितकाम्यया' इतिपदेन परमकृपा [4]प्रदर्शिता ।।१।।

अथ स्वकृपां विना अस्य उक्तस्वस्वरूपस्य अतिदुर्ज्ञेयत्वेन दुर्लभत्वम् आह **न मे** इति.

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

अहम् आदिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

मे मम **प्रभवं** प्रकृष्टं भवं जन्म प्रादुर्भावम् इति यावत् **सुरगणाः** ब्रह्मेन्द्रादयो **महर्षयो** भृग्वादयो **न विदुः** न जानन्ति. **अहं देवानां** ब्रह्मादीनां **सर्वशः** सर्वप्रकारैः आधिदैविकत्वेन देवत्वेन च **आदिः** मूलभूतः. **च** पुनः तथैव महर्षीणाम्. **हि** इति निश्चयेन सन्देहाभावार्थं देवत्वाद् ऋषित्वात् स्वमूलभूतत्वेन ज्ञानम् आवश्यकं, तथापि भूभारहरणार्थं स्वरक्षार्थं धर्मरक्षार्थं प्रादुर्भावं जानन्ति; परं यदर्थं यद्रूपश्च प्रादुर्भावः तं मत्कृपां विना न जानन्ति इति भावः।।२।।

एवं स्वकृपां विना स्वाज्ञानाद् देवानां देवत्वमपि जातं व्यर्थमेव इति उक्त्वा स्वकृपया ज्ञानेन मनुष्याणामपि उत्तमत्वं भवति इति आह **यो माम् अजम्** इति.

यो माम् अजम् अनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

यो मां मनुष्येषु च **अजं** जन्मादिदोषरहितम्, **अनादि** लीलादिभिः नित्यम् एवम्भूतमेव **लोकमहेश्वरं** लोकानां परमेश्वरं कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थम्, **असम्मूढः** प्रमादरहितः सन् जानाति; **सः सर्वपापैः** मद्भक्तिप्रतिबन्धरूपैः **प्रमुच्यते** प्रकर्षेण मुच्यते; मनुष्यभावरहितो देवरूपो भवति इति अर्थः।।३।।

एवं ये जानन्ति तेषाम् अन्येषाम् अजानतां च सर्वेश्वरत्वाद् मत्तएव नानाविधाः भावाः तत्तज्ज्ञानानुरूपाः भवन्ति इति आह द्वयेन **बुद्धिः ज्ञानम् असम्मोह** इति.

बुद्धिर्ज्ञानम् असम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।

बुद्धिः धर्मज्ञानकौशलं **ज्ञानं** स्वरूपात्मकम्, **असम्मोहो** मायाविलासेषु, **क्षमा** दुष्टादिकृतिसहिष्णुता, **सत्यम्** आपदादिष्वपि यथार्थभाषणं, **दमः** इन्द्रियनिग्रहः **शमः** परमानन्दाप्तिरूपा शान्तिः **सुखं** मद्भावानन्दरूपं, **दुःखम्** आनन्दतिरोधानात्मकं **भवः** संसारात्मकः **अभावो** नाशः **भयं** मृत्युकालादीनाम्. **च**कारेण यमयातनादयः. **अभयं** मच्चरणाप्त्या कालादिभयाभावः।।४।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अहिंसा दयात्मिका, **समता** सर्वत्र मद्भावः, **तुष्टिः** सदा मद्भावसन्तोषः **तपो** मदर्थक्लेशसहनं **दानं** मदुपदेशादीनां **यशो** मत्सेवकत्वेन सत्कीर्तिः, **अयशो** दुष्टत्वादिलक्षणात्मिका अपकीर्तिः. **भूतानाम्** एते **भावाः**

पृथग्विधाः भिन्नाः मत्कृपाविशिष्टमज्ज्ञानवतां बुद्ध्यादयः सर्वे **भवन्ति.** अन्येषाम् अयशस्सहितदुःखादिचतुष्टया भावाः भवन्ति इति भावः।।५।।

ननु कृष्यादिप्रयुक्तधर्माचरणादिभिः सर्वेषां तत्तत्फलरूपा भावाः भवन्ति, तत्कथं भवतएव ? इति आकाङ्क्षायाम् आह **महर्षयः** इति.

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

महर्षयः सप्त भृग्वादयः, ततः **पूर्वे** अन्ये **चत्वारो** महर्षयः तथा स्वायम्भुवादयो **मनवः,** हिरण्यगर्भात्मनो मम **मानसा मद्भावा** मदीयो अनुभावो मत्क्रीडार्थरूपो येषु तादृशाः **जाताः. येषां लोके इमाः प्रजाः** तदुक्तप्रवर्तमानाः भवन्ति इति अर्थः. अतोऽपि मत्तएव भवन्ति इति भावः।।६।।

एतन्निरूपणप्रयोजनम् आह **एताम्** इति.

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

एतां मदनुभावरूपां भृग्वादिलक्षणां तां **मम विभूतिं** क्रीडार्थैक-प्रकटिताम्; **च** पुनः क्रीडार्थप्रकटितसामग्र्या **मम योगं तत्त्वतः** मल्लीलारूपेण **यो वेत्ति सः अविकम्पेन** निश्चलेन मद्वियोगादिरहितेन **योगेन** मत्संयोगेन भक्तिरूपेण **युज्यते** युक्तो भवति इति अर्थः. **न अत्र संशयः** अत्र सन्देहो नास्ति इति अर्थः. अनेन सन्देहे सति न भवतीति ज्ञापितम्।।७।।

एवं ज्ञानिनो भक्तियुक्तत्वं विशदयति **अहम्** इति चर्तुभिः.

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः उत्पत्तिस्थानं, सर्वं जगद् **मत्तः** ''**बुद्धिर्ज्ञानम्**''(१०।४) इत्यादिरीत्या भृग्वाद्युक्तधर्मादिरीत्या च **प्रवर्तते** मत्क्रीडार्थकभावयुक्तं भवति इति अर्थः. **भावसमन्विताः** मत्सेवनैकप्रयत्नवन्तः

सन्तो **बुधाः** पण्डिताः विवेकिनः इति अमुना प्रकारेण क्रीडात्मकतया प्रकटीभूतरूपं **मां भजन्ते** सेवन्ते।।८।।

भजने प्रकारम् आह **मच्चित्ता**ः इति.

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

मय्येव चित्तं येषां ते मच्चिन्तनपराः लीलावस्थमत्स्वरूपविचारणपराः. **मद्गतप्राणाः** मय्येव गताः प्राप्ताः प्राणाः येषां ते मद्दुःखदुःखिताः मत्सुखसुखिताः इति अर्थः. तादृशाः सन्तः **परस्परं** तादृशानेव माम् एतादृशं स्वानुभवप्रमाणादिभिः **बोधयन्तः** तदनुकथयन्तः कीर्तनरीत्या **कीर्तयन्तः**. **च**कारेण अन्यकीर्त्तनं शृणवन्तः. **च** पुनः. तद्भाने[६] सति **तुष्यन्ति** ज्ञानेन वा रमन्ति[७] च. स्वयं कीर्त्तनेन आनन्दयुक्ताः भवन्ति इति अर्थः. यद्वा मानविप्रयोगादिलीलावस्थासु मां नित्यं कथयन्तः सन्तः परस्परं बोधयन्तः तुष्यन्ति रमन्ति च. तोषम् आनन्दं च प्राप्नुवन्तीति भावः[८] ।।९।।

एवम्भावेन भजताम् अहं फलं ददामि इति आह **एवम्** इति.

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

एवम् अमुना प्रकारेण **सततयुक्तानां** निरन्तरं मत्कृपाविशिष्टानां **प्रीतिपूर्वकम्** अनुद्वेगेन **भजतां तं बुद्धियोगं** मत्स्वरूपानुभवात्मकभक्त्युपायरूपं **ददामि येन ते माम् उपयान्ति** प्राप्नुवन्ति. उपसर्गेण तथा यान्ति यथा तद्भावच्युतिः कदापि न भवतीति ज्ञापितम्।।१०।।

ननु अन्यबोधने तेषाम् अज्ञत्वाद् बहुकालव्यासङ्गेन सेवावियोगक्लेशः स्याद् इति कथं बोधनं स्याद्? इति आशङ्क्य आह **तेषामेव** इति.

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

तेषामेव भक्तानामेव **अनुकम्पार्थं** दयार्थं[९] मत्सेवाविप्रयोग-क्लेशाभावार्थम्, आत्मभावस्थेषु तेषु स्वीयत्वभावयुक्तो **अहम्** अन्येषाम् **अज्ञानजं तमः** संसारात्मकं **भास्वता** स्फुरद्रूपेण **ज्ञानदीपेन नाशयामि**. ततः संसाराज्ञानविमुक्तानां शीघ्रं स्वरूपबोधात् पुनः परस्परं मद्गुणकथनेन परमानन्दएव भवति, नतु क्लेशः इति भावः।।११।।

एवं **''न मे विदुः सुरगणाः''**(१०।२) इत्यादिना सर्वेषां स्वावेदनम् उक्त्वा[१०] **''यो माम् अजम् अनादिं च''**(१०।३) इत्यादिना स्वज्ञानस्य उत्तमत्वं प्रतिपादितम्. ततः सर्वभावोत्पत्तिं स्वतः उक्ता स्वकृपया स्वविभूतिज्ञस्य[११] स्वभजने स्वप्राप्तिम् उक्तवान्, एतत्सर्वजिज्ञासुः अर्जुनः प्रभुं विज्ञापयति सप्तभिः. विज्ञप्तेरपि भगवदात्मत्वाय षड्गुणधर्मिसमसङ्ख्यैः श्लोकैः विज्ञापयति अर्जुनः उवाच. **परं ब्रह्म** इति.

अर्जुनः उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवम् अजं विभुम्।।१२।।

परं पुरुषोत्तमाख्यं **ब्रह्म** बृहद् व्यापकं **परं धाम** पुरुषोत्तमात्मकतेजोरूपं रमणात्मक-गृहात्मकं[१२] वा, **परमं पवित्रं** सर्वोत्कृष्टं सर्वपावनम्, एतत्सर्वरूपो **भवान्** त्वमेव[१३] इति अर्थः. कथम् एवम् अवगतम् ? इत्यतः आह पुरुषम् इति. **पुरुषं** पुरुषोत्तमम्. अन्यत्रापि तथात्वम् आशङ्क्य **शाश्वतं** नित्यम् इति. अक्षरादिष्वपि तथात्वम् आशङ्क्य **दिव्यम्** इति आह क्रीडनैकरूपम्. अवतारादिष्वपि तथात्वम् आशङ्क्य आह **आदिदेवम्** इति. मूलरूपम् इति अर्थः. परिदृश्यमानजन्माद्याशङ्कायाम् आह **अजम्** इति. जन्मरहितम्. जन्माभावे जन्मप्रतीतिः कथम्? इत्यतः आह **विभुम्** इति. समर्थम् इति अर्थः. तथाप्रतीतिकरणसमर्थम् इति भावः।।१२।।

एवंविधं त्वां सर्वे वदन्ति इत्यनेन अवगतम् इति आह **आहुः** इति.

आहुस्त्वाम् ऋषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

सर्वे ऋषयो भृग्वादयः तथा **देवर्षिः** देवानामपि मन्त्रद्रष्टा **नारदः** सर्वमोक्षदः. **असितः** भगवद्धर्मरूपः **देवलः** देवानुग्रहकृत् **व्यासः** ज्ञानावतारः **च** पुनः स्वयमेव त्वमेव साक्षाद् **मे** मह्यम् ''**अहमादिर्हि देवानाम्**''(१०।२) इत्यादिना **ब्रवीषि.** अतः त्वां तथा जानामि इति अर्थः।।१३।।

परोक्ते स्वानुभवाभावे न विश्वासः स्याद् इत्यतः आह **सर्वम् एतद्** इति.

सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये यन् मां वदसि केशव!।

न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

सर्वं पूर्वोक्तं ''**परं ब्रह्म**''(१०।१२) इत्यादि अहं स्वानुभवाद् **ऋतं** सत्यं **मन्ये**. किञ्च ''**न मे विदुः**''(१०।२) इत्यादिना **देवाः** क्रीडारूपाः. **दानवा**विरोधेऽपि मोक्षदातुः **हे भगवन् ते व्यक्तिं** प्राकट्यं स्वरूपं वा **न विदुः** इति. **केशव!** दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक **यद् मां वदसि** एतत् सर्वं हि निश्चयेन ऋतं मन्ये।।१४।।

यतो अन्ये न विदुः अतः स्वस्वरूपं स्वयमेव जानासि इति आह **स्वयमेव** इति.

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम!।

भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते!।।१५।।

स्वयं स्वेच्छयैव, न केनचित् प्रेरितः. **आत्मना** स्वस्वरूपेणैव **आत्मानं** यादृशो असि तादृशं त्वमेव **वेत्थ** जानासि इति अर्थः. अन्यथाज्ञानहेतुभूतत्वेन सम्बोधयति **हे पुरुषोत्तम!** इति. केन कथं वा ज्ञातुं योग्यः इति अर्थः. अतएव ब्रह्माण्डपुराणे ''**नैष भावयितुं योग्यः केनचित् पुरुषोत्तम**'' (   )इति उक्तम्. ननु तर्हि ''**यो मामजमनादिं च वेत्ति**''(१०।३) इति कथम् उक्तम् ? इति आशङ्क्य आह तत्कृपया स्ववेदनात्मकस्वशक्तिदानेन ज्ञापयतीति ''**ददामि बुद्धियोगं तम्**''(१०।१०) इत्यादिना उक्तम्. तथात्वेनैव सम्बोधयन् आह **भूतभावन** इत्यादिभिः. **हे भूतभावन** भूतानि भावयसि स्वभावयुक्तानि करोषीति

तथा. कथम् एवं करोति इत्यतः आह **भूतेश** तेषां स्वामी नियामक: तेन स्वीयत्वेन करोति इति भाव:. ईशत्वेऽपि कथम् एवं करोति? इत्यतः आह **देवदेव** पूज्यानामपि पूज्य तत्पूजादिसन्तुष्टः तथा करोति इति भाव:. तर्हि देवेष्वेव तथोचितं, नतु सर्वेषु इत्यतः आह **जगत्पते** इति. जगत: सर्वस्यैव पति: पालको रक्षकः इति यावद् रक्षार्थं तथा करोति इति भाव:।।१५।।

एवं सम्बोध्य जगत्पतित्वेन स्वस्यापि पतित्वं सम्पाद्य इदानीं स्वीयत्वेन अनुग्रहं कुरु यथा अहं पूर्वोक्तं त्वत्स्वरूपं ज्ञात्वा प्रपन्नो भवामि इति आह **वक्तुम् अर्हसि** इति.

वक्तुम् अर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय:।
याभिर्विभूतिभिर्लोकान् इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

दिव्याः क्रीडारूपाः **आत्मविभूतय:** स्वविभूतयः कार्यार्थं स्वयमेव अंशरूपाः[१४] **अशेषेण वक्तुं** त्वमेव **अर्हसि** योग्यो असि. योग्यत्वोक्त्या विभूतिज्ञानमपि न अन्यस्य यत्र तत्र साक्षात् त्वदज्ञाने किं वाच्यम् इति व्यञ्जितम्. यतः त्वमेव योग्यो असि अत: कृपया वद इति भावः. **याभिः विभूतिभि: इमान् लोकान् व्याप्य** स्वीयत्वेन अङ्गीकृत्य **तिष्ठसि** ताः **वक्तुम् अर्हसि** इति अर्थ:।।१६।।

कथनप्रयोजनम् आह **कथम्** इति.

कथं विद्याम् अहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया।।१७।।

हे योगिन् सर्वव्यापक सर्वकरणसमर्थ **अहं** प्रकटरूपम् आनन्दमयं **त्वां सदा परिचिन्तयन्** परितो बाह्याभ्यन्तरभेदेन चिन्तयन्[१५] विभूती: कथं विद्यां जानामि इति अर्थ:. अत्र अयं भाव: **:** साक्षाद्भगवच्चिन्तने विभूतिज्ञाने तत्र मनोनिवेशने चिन्तनविच्छेदो भविष्यतीति कथं जानामि? ननु तर्हि प्रश्न: किमर्थम् ? इति आशङ्क्य यत् पूर्वम् उक्तम् ''**एतां विभूतिं**''(१०।७) इत्यारभ्य ''**येन मामुपयान्ति ते**''(१०।७) इत्यन्तं तेन त्वत्प्राप्त्यर्थं पृच्छामि, तत्रापि

स्वाधिकारानुसारेण यत् स्वस्य आवश्यकं तत्कथय इति विज्ञापयति **केषु** इति. केषु लोकेषु, च पुनः **केषु भावेषु** पदार्थेषु भगवन् षड्गुणैश्वर्य पूर्णगुणैः सर्वव्यापक **मया चिन्तनीयो असि ?**।।१७।।

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

यच्चिन्तनात् त्वां प्राप्नोमि याथातथ्येन जानामि तादृशम् **आत्मनो योगं** पदार्थेषु क्रीडात्मकं योगम्. **च** पुनः. तादृशीमेव विभूतिं **हे जनार्दन** सर्वाविद्यानाशक पूर्वं सङ्क्षेपकथितामपि **भूयो** विस्तारेण **कथय**. **हि** यस्माद् **अमृतं** मोक्षात्मकं मरणनिवर्तकम् आनन्दरूपं त्वद्वाक्यं **शृण्वतो मे तृप्तिः** अलम्भावो न भवति इति अर्थः।।१८।।

एवं जिज्ञासुना अर्जुनेन प्रार्थितः आह **हन्त** इति.

श्रीभगवान् उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

स्वस्वरूपज्ञानार्थकतादृक्प्रार्थनया **हन्त** इति हर्षे. **हे कुरुश्रेष्ठ!** भक्तवंशोद्भव **दिव्याः** क्रीडारूपाः **विभूतयः ते प्राधान्यतः** त्वद्योग्याः त्वदर्थं **कथयिष्यामि.** ननु विस्तरेण कथं न उच्यते? इत्यतः आह **नास्ति** इति. **मे विभूतीनां** विस्तरस्य **अन्तो** नास्ति. अतः त्वत्पृष्टत्वाद् योग्याएव कथयिष्यामि इति भावः।।१९।।

एवं कथनं प्रतिज्ञाय प्रथमं सर्वत्र स्वयोगम् आह **अहम्** इति.

अहम् आत्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः।

अहम् आदिश्च मध्यं च भूतानाम् अन्त एव च।।२०।।

अतन्द्रितभावेन श्रवणार्थं सम्बोधयति **हे गुडाकेश!** सर्वभूतानाम् आशयेषु अन्तःकरणेषु स्थितः **आत्मा अहम्,** तेन मदात्मकात्मसम्बन्धेन सर्वेषां

जीवानां विषयानन्दम् आरभ्य ब्रह्मानन्दानुभवान्तानन्दानुभवो भवति इति अर्थः. त्वयाऽपि तेषु [१६]आनन्दानुभवार्थकमदंशात्मकसंयोगात्मको अहं चिन्तनीयः इति भावः. एतच्चिन्तनं च माहात्म्यज्ञानाय उपयोक्ष्यति इति भावः. ननु त्वदात्मसंयोगे नाशः कथं भवति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **अहम्** इति. **भूतानाम् आदिः** उत्पत्तिस्थानं च **अहम्, च** पुनः **मध्यं** स्थितिः. **अन्तश्च** [१७]लयस्थानम् अहमेव. यतो मदिच्छया मत्क्रीडार्थम् उत्पादिताः यावत्क्रीडनं च रक्षिताः क्रीडोपसंहारेच्छायां च लयं प्रापिताः अतो न दोषः इति भावः. मया उत्पादितानां मदात्मांशसंयुक्तानाम् अन्यतो नाशे अन्यलीनत्वे दोषः स्याद्, नतु मयि लीनानाम्. इदमेव एवकारेण द्योतितम्. अतएव निर्दोषभावेन मदंशात्मसंयोगं सर्वेषु चिन्तय इति भावः।।२०।।

योगम् उक्त्वा[१८] विभूतीः कथयति **'आदित्यानाम्'** इत्यारभ्य यावद् अध्यायसमाप्ति.

आदित्यानाम् अहं विष्णुर् ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुताम् अस्मि नक्षत्राणाम् अहं शशी।।२१।।

आदित्यानां द्वादशानां मध्ये **विष्णुः** व्यापकधर्मात्मको बिम्बप्रकाशको अहं **ज्योतिषां** बहिः जगत्प्रकाशकानां मध्ये **अंशुमान्** सर्वप्रकाशकरश्मियुक्तो **रविः** सूर्यो अस्मि इति अर्थः. **मरुतां** वायूनां मध्ये **मरीचिः** नाम कश्चन सर्वसुखोत्पादनरूपो वायुः अस्मि. **नक्षत्राणां** मध्ये शशी चन्द्रोऽस्मि. 'शशी' इति नाम्ना रोहिण्यासक्तिजलाञ्छनवत्त्वेन रसात्मकासक्तिधर्मरूपशृङ्गाररसात्मकत्वं व्यञ्जितम्।।२१।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवनाम् अस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानाम् अस्मि चेतना।।२२।।

वेदानां चतुर्णामपि मध्ये **सामवेदो अस्मि**. गानात्मकमाधुर्यरसवत्त्वेन आधिक्यं तत्र इति भावः. **देवानां** मध्ये **वासवः** इन्द्रो **अस्मि,** शतमखत्वेन सर्वक्रियांशभोक्तृत्वेन राज्यभोक्तृत्वेन च. **इन्द्रियाणाम्** आधिदैविकेन्द्रियरूपो

अस्मि. च पुनः सर्वप्रेरकत्वाद् **मनो अस्मि**. **भूतानां** चेतनानां **चेतना** ज्ञानशक्तिः **अस्मि**।।२२।।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणाम् अहम्।।२३।।

रुद्राणां तामसानाम् एकादशानां च मध्ये **शङ्करः** सुखकरः सर्वेषां भक्तिज्ञानोपदेशको अस्मि. **यक्षरक्षसां वित्तेशः** कुबेरो **अस्मि**. **वसूनां** मध्ये मुख्यतया द्रोणो अस्मि. अतएव "**द्रोणो वसूनां प्रवरः**" (भाग.पुरा. १०।८।४८) इति श्रीभागवते उक्तम्. **च** पुनः **पावकः** अग्निः अस्मि. **शिखरिणां** शिखरवताम् उच्चानां मध्ये **मेरुः** अहम् अस्मि।।२३।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ! बृहस्पतिम्।
सेनानीनाम् अहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

हे पार्थ! पुरोधसां च मध्ये **मुख्यं बृहस्पतिं मां** विद्धि. 'पार्थ' इति सम्बोधनेन यथा पृथासम्बन्धेन[१९] त्वयि कृपां करोमि तथा निन्दिते पौरोहित्येऽपि देवक्रियया[२०] तस्मिन् बुद्ध्यादिशक्तिरूपेण तिष्ठामि, तेन मत्स्वरूपं विद्धि इति व्यञ्जितम्. **सेनानीनां** सेनापतिनां[२१] मध्ये देवसेनापतित्वात् **स्कन्दो अस्मि**. **सरसां** रसयुतानां स्थिरजलानां मध्ये **सागरः** समुद्रो अस्मि, रत्नाकरः इति अर्थः।।२४।।

महर्षीणां भृगुरहं गिराम् अस्म्येकम् अक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

महर्षीणां सर्ववेदात्मको **भृगुः** अस्मि. **गिरां** पदात्मिकानां[२२] मध्ये एकाक्षरम् ॐकारात्मकम् अहम् **अस्मि**. **यज्ञानां** कर्मणां मध्ये **जपयज्ञो अस्मि**. **स्थावराणाम्** अचलानां **हिमालयो** अस्मि।।२५।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

सर्ववृक्षाणां मध्ये **अश्वत्थः** पिप्पलो अस्मि. **देवर्षीणां** देवमन्त्रदृष्टृणां मध्ये मदिङ्गितोपदेशकत्वाद् **नारदो** अस्मि. **गन्धर्वाणां** गायकानां मध्ये **चित्ररथो** अस्मि. **सिद्धानाम्** अधिगतपरमार्थानां मध्ये स्वतो अधीतपरमार्थरूपः **कपिलो मुनिः** अस्मि।।२६।।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माम् अमृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।।२७।।

अश्वानाम् अमृतमथने अमृतसङ्गोत्पन्नम् **उच्चैःश्रवसं** मदंशं विद्धि. **गजेन्द्राणाम् ऐरावतं** विद्धि. **नराणां** मध्ये पालकं नराधिपं राजानं विद्धि।।२७।।

आयुधानाम् अहं वज्रं धेनूनाम् अस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः।।२८।।

आयुधानां शस्त्राणां मध्ये **वज्रम्** अस्मि. **धेनूनां** दोग्ध्रीणां **कामधुक्** कामधेनुः अस्मि. **प्रजनः** प्रजोत्पादकः **कन्दर्पश्च** कामो अस्मि. **च**कारेण केवलसम्भोगहेतुः निवारितः. **सर्पाणां** विषधराणां गतिमतां वा **वासुकिः** अस्मि।।२८।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसाम् अहम् ।
पितॄणाम् अर्यमा चास्मि यमः संयमताम् अहम् ।।२९।।

नागानाम् अविषाणां स्थिराणां मध्ये **अनन्तः** तेषाम् अधीशः शेषो अस्मि. **यादसां** जलचराणां पतिः **वरुणो** अस्मि. **पितॄणां** मुख्यः **अर्यमा च अस्मि. च**कारेण सर्वेषां पितृरूपत्वमपि ज्ञापितम्. **संयमतां** नियमं कुर्वतां मुख्यो **यमो** अस्मि।।२९।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयताम् अहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

दैत्यानां च असम्भावितत्वाद् मध्ये दैत्यकुलोद्धारकः **प्रह्लादो अस्मि**. **कलयतां** व्याकुर्वतां **कालो अहम्** अस्मि. **मृगाणां मृगेन्द्रः** सिंहः. **पक्षिणां** पक्षवतां मध्ये **वैनतेयः** तेषां राजा गरुडो अस्मि।।३०।।

पवनः पवताम् अस्मि रामः शस्त्रभृताम् अहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसाम् अस्मि जाह्नवी ।।३१।।

पवतां वेगवतां मध्ये **पवनः** वायुः **अस्मि**. **शस्त्रभृतां रामः** दशरथात्मजो **अस्मि**. **झषाणां** मध्ये **मकरः** मत्स्यजातिविशेषो **अस्मि**. **स्रोतसां** प्रवहज्जलानां मध्ये **जाह्नवी** गङ्गा **अस्मि**।।३१।।

सर्गाणाम् आदिरन्तश्च मध्यं चैवाहम् अर्जुन! ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदताम् अहम्।।३२।।

सर्गाणाम् इति. सृज्यन्ते इति सर्गाः भूतादयश्च. सः च सर्गो त्रिविधः कार्यसर्गः, कारणसर्गः, लीलात्मकश्च. तत्र कार्यसर्गो लौकिको बहिस्सृष्टिरूपः सच जीवनाशरूपत्वात् प्रलयात्मकः. कारणसर्गस्तु मोक्षात्मकत्वाद् अलौकिकः. तृतीयो भगवल्लीलात्मकः. तत्राऽपि अवान्तरभेदाः तत्त्व–काल–जीवादिरूपाः सन्ति; तेषां **सर्गाणां** मध्ये **आदिः** कारणरूपो **अहम्**. **च** पुनः. **अन्तः** रजोगुणात्मकब्रह्मकृतो अन्तात्मकोऽपि **अहम्**. **मध्यं** लीलात्मसर्गो **अहमेव च** मत्स्वरूपमेव इति अर्थः. **हे अर्जुन!** मुक्त्यधिकारजातीयासताम् अमुक्त्यर्थमेव सर्गत्रयं मद्रूपत्वेन चिन्तय इति अर्थः. **अध्यात्म** इति. **विद्यानां** सर्वासां मध्ये **अध्यात्मविद्या अहम्** अस्मि. **प्रवदतां** वादिनां वादवितण्डाजल्पपक्षत्रयमध्ये **वादः** तत्त्वस्वरूपनिर्णयात्मको **अहम्** अस्मि।।३२।।

अक्षराणाम् अकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः।।३३।।

अक्षराणां वर्णानां मध्ये **अकारो अस्मि,** सर्वाक्षरगतत्वात्. **सामासिकस्य** समाससमूहस्य मध्ये **द्वन्द्वः** 'गोपीमाधवौ' इत्यादिः अस्मि.

अक्षयः लीलात्मको अलौकिकः **कालो** अहमेव अस्मि. **एव**कारेण तस्य साक्षात्स्वरूपात्मकत्वाद् विभूतित्वे किं वाच्यम् इति ज्ञापितम्. विधातॄणां मध्ये **विश्वतोमुखः** सर्वतोमुखः चतुर्मुखो **धाता** अलौकिकसृष्टिकर्त्ता **अहम्** अस्मि इति अर्थः।।३३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहम् उद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

मृत्युः इति. संहारिणां मध्ये सर्वहरः सर्वसंहारको अहम्[२४]. **च** पुनः मृत्युरपि. भविष्यतां निखिलानां प्राणिनां पदार्थानाम् **उद्भवो** अभ्युदयः भाग्यरूपो अहम्. **कीर्तिः** इति. **कीर्तिः** धर्मस्य स्त्री, लक्ष्मीः, **वाक्** सरस्वती श्रीभागवतादिरूपा, **स्मृतिः** भगवत्स्मरणात्मिका, **मेधा** बुद्धिः भगवद्गुणैकनिष्ठा, **धृतिः** आपत्सु धर्मैकनिष्ठता, **क्षमा** सर्वातिक्रमसहनरूपा, **नारीणां** मध्ये एताः मद्विभूतिरूपाः।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसाम् अहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

साम्नां सामऋचां मध्ये **बृहत्साम** मद्विभूतिः इति अर्थः. **छन्दसां** मध्ये **गायत्री** मद्विभूतिः. **मासानां** मध्ये **मार्गशीर्षो अहम्. ऋतूनां** मध्ये **कुसुमाकरो** वसन्तो अस्मि।।३५।।

द्यूतं छलयताम् अस्मि तेजस्तेजस्विनाम् अहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि
सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम्।।३६।।

द्यूतम् इति. **छलयतां** वञ्चकानां मध्ये **द्यूतम् अस्मि,** येन क्रीडाक्षात्रादिधर्मज्ञानेन मोहितो जानन्नपि वञ्चयति[२५]. **तेजस्विनां** प्रभावतां मध्ये **तेजः** प्रभा **अहम्** अस्मि. जयतां मध्ये **जयो अस्मि**. व्यवसायिनाम् उद्यमवतां निश्चयवतां वा **व्यवसायः** उद्यमः निश्चयो वा **अस्मि. सत्त्ववतां** सात्त्विकानां मध्ये **सत्त्वम्** अहम्।।३६।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनाम् उशना कविः।।३७।।

वृष्णीनाम् इति. **वृष्णीनां** यादवानां सर्वेषां मध्ये हृदये **वासुदेवः** सर्वमोक्षदाता क्रीडार्थम् अंशैः **अस्मि,** सर्वे यादवाः मद्विभूतिरूपाः इति अर्थः. **पाण्डवानां** मध्ये **धनञ्जयः** त्वमेव अस्मि. **मुनीनां** ब्रह्ममननशीलानां मध्ये **व्यासः** कृष्णद्वैपायनो अस्मि. **कवीनां** निर्दुष्टस्वरशब्दप्रदर्शिनां[२६] मध्ये **उशना कविः** शुक्रो अस्मि।।३७।।

दण्डो दमयताम् अस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्।।३८।।

दण्डः इति. **दमयतां** दमकारिणां मध्ये **दण्डो अस्मि,** सर्वदोषहरत्वेन इति भावः. **जिगीषतां** जेतुम् इच्छतां **नीति**ः अस्मि. **गुह्यानां** गोप्यानां मध्ये **मौनम्** अवचनम् अस्मि. **ज्ञानवतां** ज्ञानिनां मध्ये **ज्ञानम् अहम्** अस्मि।।३८।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तद् अहम् अर्जुन! ।
न तदस्ति विना यत्स्याद् मया भूतं चराचरम्।।३९।।

यद् इति. **यत् सर्वभूतानां बीजम्** उत्पत्तिकारणं **तदपि अहमेव.** **'अपि'**शब्देन योनिः तद्रूपं च अहमेव इति व्यञ्जितम्. **यत् चराचरं भूतं** तज्जातं **तन्मया विना** किञ्चिद् **नास्ति।**।३९।।

एवं विभूतिम् उक्त्वा उपसंहरति **न अन्तो अस्ति** इति.

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप!।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

मम स्वच्छन्दचारिणो **दिव्यानां** क्रीडात्मिकानां **विभूतीनाम् अन्तो नास्ति. परन्तप!** इति सम्बोधनं विश्वासार्थम्. ननु अन्ताभावे कथम् एताएव उक्ताः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **एषः** इति. **एषः तु उद्देशतः** सङ्क्षेपतो **विभूतेः विस्तरो मया प्रोक्तः**. प्रोक्तत्वेन अन्येषाम् एतावज्ज्ञानेऽपि असामर्थ्यं द्योतितम्।।४०।।

ननु मया सर्वस्वरूपज्ञानेन सर्वत्र त्वच्चिन्तनार्थं विभूतिविस्तारः पृष्टः तस्य अन्ताभावोक्त्या मया कुत्र कथं चिन्तनीयः ? इति आकाङ्क्षायाम् आह **यद्यद्** इति.

यद्–यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

यत् यत् सत्त्वं वस्तुमात्रं **विभूतिमद्** ऐश्वर्ययुक्तं **श्रीमत्** सम्पत्तियुक्तं **ऊर्जितमेव** केनापि प्रकारेण उत्कृष्टतां प्राप्तं रमणीयतरं **वा तत्तद् एवं मम तेजोंऽशसम्भवं** मम अनुभावसम्भूतम् अवगच्छ जानीहि।।४१।।

एवं विभूत्यादिमत्सु भगवदंशज्ञानेन अन्यत्र हेयत्वादिबुद्धौ सर्वस्य भगवदात्मकत्वं भज्येतेति अन्यं प्रकारम् आह **अथवा** इति.

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन!।
विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अथवा पक्षान्तरेण. **हे अर्जुन! तव बहुना** नानाविधेन **ज्ञातेन किं** कार्यम्? न किमपि इति अर्थः. यतः एतेन नानाज्ञानेन न किञ्चित् कार्यम्, अतः कार्योपयोगिस्वरूपम् आह **इदं** परिदृश्यमानं **जगत् कृत्स्नं** सम्पूर्णम् **एकांशेन** क्रीडात्मकेन **विष्टभ्य** धृत्वा **स्थितो** अस्मि **अहमेव** इति अर्थः. अनेन सर्वं मत्क्रीडारूपमेव चिन्तय इति भावो बोधितः।।४२।।

प्रतीयते जगन्नानाविधं स्वाज्ञानभावतः।
विभूतिरूपं श्रीकृष्णस्तन्नाशायाऽब्रवीत् नरम्।।१०।।

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां दशमो अध्यायः

पाठभेदाः

१. 'स्वविभूतिस्वरूपम्' इति मुद्रितपाठः.
२–३. ''भजनौपयिककृपाशक्तिमन् **भूयएव** पुनरपि मम वचन...'' इति मुद्रितपाठः''.
४. 'दर्शिता' इति मुद्रितपाठः.

५. ‘कर्तुम् अन्यथाकर्तुम्’ इति मुद्रितपाठः.

६. ‘‘चकारेणाऽन्यकीर्त्तने शृणवन्तः. च पुनः तद्‌ज्ञाने’’ इति मां.पाठः.

७. ‘रमन्ते’ इति मुद्रितपाठः.

८. ‘‘**रमन्ते** वा तोषम् आनन्दं च प्राप्नुवन्ति इति भावः. यद्वा मां विप्रयोगादिलीलावस्थासु नित्यं कथयन्तः सततं परस्परं बोधयन्तः’’ इति मुद्रितपाठः.

९. ‘दयार्थम्’ इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.

१०. ‘‘सर्वेषां स्वावेदनयुक्तानाम्’’ इति मुद्रितपाठः.

११. ‘‘सर्वभावोत्पत्तिः स्वतः उक्ता स्वरूपा या, स्वस्वविभूतिज्ञस्य’’ इति मुद्रितपाठः.

१२. ‘रमणात्मगृहात्मकम्’ इति मुद्रितपाठः.

१३. ‘सत्यमेव’ इति मुद्रितपाठः.

१४. ‘स्वावेशरूपाः’ इति मां.पाठः.

१५. ‘‘यन्/त् विभूतयः’’ इति मां.पाठः.

१६. ‘आनन्दानुभवदानार्थक… ’ इति मां.पाठः.

१७. ‘अन्तस्थानम्’इति मां.पाठः.

१८. ‘योगयुक्ता’ इति मुद्रितपाठः.

१९. ‘यथा’ इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.

२०. देवकृपया’ इति मां. पाठः.

२१. सेनानां मध्ये’ इति मुद्रितपाठः.

२२. ‘पदात्मकानाम्’ इति मां. पाठः.

२३. ‘‘पालकं नरम्’’ इति मुद्रितपाठः.

२४. ‘‘मध्ये सर्वसंहारको अहम्’’ इति मुद्रितपाठः.

२५. ‘वञ्चति’ इति मुद्रितपाठः.

२६. ‘निर्दुष्टसरसशब्द’ इति मां.पाठः.

V

विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः

कृष्णात्मत्वं हि जगतो विभूतिकथनान्नरः।

अवगत्य च[1] तद्रूपं द्रष्टुं हरिमथाऽब्रवीत्।।१।।

पूर्वाध्यायान्ते **''विष्टभ्याहम्''**(१०।४२) इत्यनेन स्वक्रीडात्मकत्वेन विश्वस्य स्वात्मकत्वं प्रतिपादितं, तद्रूपदर्शनेच्छुः अर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति **मदनुग्रहाय** इति चतुर्भिः.

अर्जुनः उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यम् अध्यात्मसञ्ज्ञितम्।

यत् त्वयोक्तं वचस् तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

मदनुग्रहाय मम स्वीयत्वेन ग्रहणाय **परमं** परः पुरुषोत्तमो मीयते अनुमीयते यस्मात् तादृशम्. अतएव **गुह्यं** सर्वेषाम् अनाख्येयम्. **अध्यात्म–सञ्ज्ञितम्** आत्मानात्मविवेकविषयत्वेन सर्वात्मरूपं **यत् त्वया वचो** विष्टभ्याहम् इति **उक्तं तेन मम अयं** रूपो **मोहो**[2] मे **विशेषेण गतो** नष्टः इति अर्थः।।१।।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

किञ्च **भवाप्ययौ** इति **भूतानां भवाप्ययौ** उत्पत्तिनाशौ **''अहम् आदिश्च''**(१०।२०) इत्यादिना **हे कमलपत्राक्ष!** दृष्ट्यैव तापनाशक **त्वत्तो मया विस्तरशः श्रुतौ अव्ययं** स्थितिरूपं पालनरूपं **माहात्म्यं** महत्त्वं नाशानन्तरपालनरूपं चापि श्रुतं, तेन मोहो नष्टःइति पूर्वेणैव अन्वयः।।२।।

कथं ज्ञातव्यं मोहो नष्टः इति? इति आशङ्क्य नष्टमोहानां भगवद्वाक्ये विश्वासो नियतः इति तद् आह **एवम्** इति.

एवम् एतद् यथाऽऽत्थ त्वम् आत्मानं परमेश्वर!।

द्रष्टुम् इच्छामि ते रूपम् ऐश्वरं पुरुषोत्तम!।।३।।

हे परमेश्वर! सर्वाधीश **यथा त्वम् आत्मानं** स्वस्वरूपम् **आत्थ** वदसि

“**न मे विदुः**”(१०।२) इत्यनेन सर्वाज्ञातत्वं, “**विष्टभ्याहम्**”(१०।४२) इत्यनेन सर्वात्मत्वं “**ददामि बुद्धियोगं तम्**”(१०।१०) इत्यादिना स्वकृपयैव ज्ञातत्वम्[३], एवम् एतद् यथार्थमेव इति अर्थः. यथार्थत्वोक्त्या पूर्वम् अज्ञातस्वरूपो अहम्, अधुना विभूतिनिरूपणेन विष्टभ्याहम् इति कृपोक्त्या च तच्चिन्तनेन सर्वात्मत्वज्ञानयुक्तो जातः इति स्वानुभवो व्यञ्जितः. अथातो ज्ञातस्वरूपः तद्रूपं दर्शय इति आह द्रष्टुम् इति. **हे पुरुषोत्तम ते** तवैव तत्सम्बन्धिनाम् ऐश्वरं नानाविलासकं[४] **रूपं द्रष्टुम् इच्छामि**।।३।।

स्वेच्छायां सत्यामपि भगवदिच्छाभावे च द्रष्टुमपि निर्बन्धेन न फलतीति विज्ञापयति **मन्यसे** इति.

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम्।।४।।

हे प्रभो सर्वकरणसमर्थ **यदि** तद्रूपं **मया द्रष्टुं शक्यं** दर्शनानन्तरं फलरूपं भवति तथा चेद् **मन्यसे** फलरूपं भवतु इति, **तदा योगेश्वर** योगिनः स्वयोगबलेन सामर्थ्यं प्रकटयन्ति तेषां योगः आगन्तुको धर्मः, त्वन्तु योगस्यापि ईश्वरः तेन मम दर्शनसामर्थ्यमपि कृपया दत्त्वा **दर्शय**. एवं प्रार्थनायां प्रभुः तद्रूपं दर्शयित्वा तत्रैव लीनं कुर्यात् तदा भक्तिरसानुभूतपुरुषोत्तमरूपानुभवो न भवेद् अतो विज्ञापयति **ततः** इति. **ततः** एतन्मनोरथपूर्त्यनन्तरम्. **अव्ययम्** अविनाशिनम् **आत्मानं** पुरुषोत्तमम् आनन्दमयं **दर्शय** इति भावः।।४।।

एवं प्रार्थितः सन् तद्रूपं दर्शयिष्यन् अर्जुनं सावधानं करोति भगवान् **पश्य** इत्यादिचतुर्भिः.

श्रीभगवान् उवाच

पश्य मे पार्थ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

हे पार्थ भक्तपुत्र कृपया दर्शयामीति सम्बोधनम्. अन्यथा पुरुषोत्तम-दर्शनवतो[५] अन्यदर्शनेच्छायाम् एतद्रसानुभवमपि न कारयेद् इति भावः. **मे** मम

शतशः सहस्रशः असङ्ख्यातानि, शतशः सहस्रशः यावद् इच्छसि तावद् वा, **नानाविधानि** नानाफलकारकाणि[६] रूपाणि यस्य नानाविधान्यपि **दिव्यानि** अलौकिकानि क्रीडात्मकानि, नतु प्रदर्शनार्थमेव कृतानि; **च** पुनः तथैव **नानावर्णाकृतीनि** नाना अनेके वर्णाः शुक्ललोहितादयः आकृतयः अवयवादिविशेषाश्च येषां तानि।।५।।

तान्येव पश्येति नामभिः विशेषेण आह **पश्य** इति.

पश्याऽदित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत।।६।।

आदित्यान् द्वादशात्मकान् **वसून्** अष्टसङ्ख्याकान्, **रुद्रान्** एकादशसङ्ख्यान्, **अश्विनौ** अश्विनीकुमारौ, **मरुतः** देवगणविशेषाः[७]; **तथा बहूनि** असङ्ख्येयानि **अदृष्टपूर्वाणि** सर्वैः **आश्चर्याणि** अलौकिकानि हे **भारत!** उत्तमवंशोद्भव योग्यत्वात् **पश्य**।।६।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुम् इच्छसि।।७।।

किञ्च **इह** इति. कोटिजन्मभिरपि सम्पूर्णं द्रष्टुम् अशक्यं **कृत्स्नं** समस्तं **जगद्** विरुद्धत्वेन परिदृश्यमानमपि **मम देहे एकस्थम्** एकत्र स्थितं **सचराचरं** जडजीवसहितम् **इह** अस्मिन्नेव जन्मनि. **अद्य** तत्कालमेव **यत् च अन्यत्** सर्वेषां विभूतित्वेन कथं मारयामीति विचारेण मरणमारणादिरूपं यद् **द्रष्टुम् इच्छसि** तत् पश्य।।७।।

एवम् उक्ते दर्शनोद्यतं प्रत्याह **नतु** इति.

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

तु पुनः एवमेव **द्रष्टुं न शक्यसे** न शक्तो असि. अतः ते **दिव्यम्** अलौकिकं **चक्षुः ददामि**. तेन स्वचक्षुषा मत्कृपादृष्ट्या **मां** पुरुषोत्तमं **पश्य**. अतो

दृष्टपुरुषोत्तमेन **अनेनैव मे ऐश्वरं** करणाकरणान्यथाकरणसामर्थ्यरूपं योगयुक्तं पश्य. पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञानदर्शनाभावे सर्वस्वरूपदर्शनं न स्यात्, पुरुषोत्तमदर्शनं च असाधारणदृष्ट्या भवेद् इति तथोक्तम् इति भाव:[८] ।।८।।

एवम् उक्त्वा अर्जुनाय स्वरूपं दर्शयामास भगवान् इति धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जयः आह **एवम्** इति.

सञ्जयः उवाच

एवम् उक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपम् ऐश्वरम्।।९।।

राजन्याभिमानेन [९]दिव्यदृष्ट्यदानेन तद्दर्शनाभावाय सम्बोधनं **हे राजन्**. **हरिः** अकारणसर्वदुःखहर्त्ता आसुरावेशिभीष्मादिमारणेन सर्वदुःखनिराकरणार्थं **महायोगेश्वरः** सर्वकरणसमर्थः [१०]स्वकृपात्मकयोगबलेन **एवम् उक्त्वा** अलौकिकीं दृष्टिं दत्त्वा **पार्थाय** स्वाङ्गीकृताय **परमं रूपं** पुरुषोत्तमरूपं **दर्शयामास**. ततः तद्दर्शनानन्तरम् ऐश्वरं रूपं दर्शयामास।।९।।

उभयोः स्वरूपम् आह **अनेक** इति.

अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन् तद्, निखिललीलात्मकरूप-सहितम्. **अनेकाद्भुतदर्शनम्** अनेकानि अद्भुतानि अलौकिकानि[११] लीलामयानि दर्शनानि यस्मिन् तत्. अनेकानि दिव्यानि अलौकिकानि आभरणानि यस्मिन् तत्. **दिव्यानि** अलौकिकानि **अनेकानि उद्यतानि** सकलदुःखनिवारकाणि **आयुधानि** शङ्खगदादीनि यस्मिन् तत्।।१०।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवम् अनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

दिव्यानि क्रीडोपयुक्तानि **माल्यानि अम्बराणि** बिभर्तीति तथा. दिव्यः

क्रीडोद्भूतो गन्धो यस्य तादृशम् अनुलेपनं यस्य तत्. **सर्वाश्चर्यमयं** दुर्वितर्क्यं **देवं** सर्वपूज्यम्, **अनन्तम्** अपरिच्छिन्नम् व्यापकम्. **विश्वतोमुखं** सर्वं पश्यन्तं सर्वसन्मुखम्।।११।।

तस्य स्वरूपस्य अप्रमेयं तेजस्स्वरूपम् आह **दिवि** इति.

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

दिवि स्वर्गे **सूर्यसहस्रस्य युगपद्** एकदैव उदितस्य युगपदेव **उत्थिता भाः** प्रभा **यदि** भवेत् **सा तस्य महात्मनः** पुरुषोत्तमस्य अनेकात्मस्वरूपस्य[१२] **भासः सदृशी स्यात्**. किन्तु न स्यादेव इति काकूक्तिः. एतादृशं स्वरूपम्।।१२।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तम् अनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

तत्र तस्मिन्नेव रूपे, **एकस्थम्** एकत्र स्थितं **कृत्स्नं** सम्पूर्णं **जगद् अनेकधा प्रविभक्तं** नानाप्रकारविभागयुक्तं दर्शयामास इति पूर्वेणैव अन्वयः. यदा दर्शितं तदा **देवदेवस्य** पूज्यानामपि पूज्यस्य **शरीरे** पूर्वप्रतीयमानसूक्ष्मरूपएव **पाण्डवः** अर्जुनः **अपश्यद्** दृष्टवान्।।१३।।

दर्शनानन्तरं किं कृतवान् इत्यतः आह **ततः** इति.

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

ततः तदनन्तरं **सः** पूर्वोक्तः प्राप्तदिव्यदृष्टिः **विस्मयाविष्टः** आश्चर्यरसनिमग्नः **हृष्टरोमा** उत्पुलकिताङ्गः अन्तरानन्दयुक्तः **धनञ्जयः** प्रादुर्भूतविभूतिरूपः **शिरसा** मस्तकेन **देवं** पूज्यं नमस्करणीयं **प्रणम्य** नमस्कृत्य कृताञ्जलिः विनीतः सन् **अभाषत** विज्ञप्तिं कृतवान्।।१४।।

तद्वाक्यमेव आह **पश्यामि** इति सप्तदशभिः.

अर्जुनः उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

हे देव पूज्य **तव देहे** उपचितस्वरूपे **देवान्** इन्द्रादीन् क्रीडामयान् **तथा** क्रीडात्मकानेव **सर्वान् भूतविशेषाणां** चतुर्विधानां **सङ्घान्** समूहान्. **दिव्यान्** क्रीडार्थप्रकटितान् **ऋषीन्** नारदादीन्, च[१३] पुनः तामसान्, **उरगान्** शेषादीन्, तन्मूलभूतं **कमलासनस्थं** नाभिपद्मस्थं **ब्रह्माणम् ईशं** महादेवम्, एवम् एतान् **सर्वान् पश्यामि**।।१५।।

यस्य देहे न एतान् पश्यामि तादृशं त्वां च पश्यामि इति आह भ्रमाभावाय **अनेक** इति.

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

अनेकानि बाह्वादीनि यस्य. सर्वतो अनन्तानि रूपाणि यस्य एतादृशं त्वां पश्यामि. तादृशानेकरूपस्यापि तव अन्तं पूर्णभावं, मध्यं स्थितिस्थानम्, आदिम् उत्पत्तिस्थानं न पश्यामि. **हे विश्वेश्वर** विश्वपरिपालक किं बहुना? विश्वरूपं पश्यामि।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

किञ्च **किरीटिनं** मुकुटालङ्कारयुक्तं रसात्मकम्. **गदिनं** सकलप्राणाधिदैविकधर्मधारिणम्. **चक्रिणं** तेजोरूपसुदर्शनधारिणम्. **च**कारेण तद्वद् मोक्षदानार्थमपि चक्रधारित्वं ज्ञापितम्. **तेजोराशिं** तेजःपुञ्जात्मकम्. **सर्वतो दीप्तिमन्तं** परितः उद्दीपककिरणयुक्तम्. तेजोयुक्तत्वे दीप्तियुक्तत्वे च दृष्टान्तम् आह **दीप्तानलार्कद्युतिं** दीप्तौ यौ अनलार्कौ तयोः द्युतिरिव द्युतिः यस्य तादृशम्. **अप्रमेयं** प्रमातुम् अयोग्यं त्वां **समन्ताद् दुर्निरीक्ष्यं पश्यामि**।।१७।।

एवम्भूतस्वरूपदर्शनेन स्वज्ञानार्थं निवेदयति **त्वम्** इति.

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

अक्षरम् अक्षरस्वरूपं त्वमेव **परमं** ब्रह्म. **त्वं वेदितव्यं** भक्तानां ज्ञानिनां ज्ञेयरूपः त्वमेव. अक्षरत्वेन सर्वोत्पत्तिकारणता निरूपिता. लयस्वरूपम् आह **त्वम् अस्य विश्वस्य परम्** उत्कृष्टं मोक्षरूपं **निधानं** निधीयते अस्मिन् इति लयस्थानम्. पालकत्वम् आह शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य **गोप्ता** पालको रक्षकः त्वम्. एवमपि न गुणात्मकः, किन्तु **अव्ययो** अविनाशी नित्यः. एवं सर्वधर्मान् उक्त्वा मुख्यं [१४]स्वनिश्चितम् आह **सनातनः पुरुषः** पुरुषोत्तमो **मे** मम **मतः** सम्मतः इति अर्थः।।१८।।

एवं पुरुषोत्तमम् उक्त्वा दृष्टं विश्वरूपम् आह **अनादि** इत्यादिद्वयेन.

अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

अनादिमध्यान्तं न विद्यते आदिः मध्यम् अन्तश्च यस्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयरहितम् **अनन्तं वीर्यं** पराक्रमो यस्य तम्. **अनन्तबाहुम्** अनन्ताः क्रियाशक्तयो यस्य **शशिसूर्यनेत्रं** शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य, **दीप्तहुताशवक्त्रं** दीप्तो धूमादिरहितो हुताशः अग्निः वक्त्रेषु यस्य तम्, **स्वतेजसा इदं** परिदृश्यमानं **विश्वं तपन्तं** तेजोयुक्तं कुर्वन्तं[१६] त्वां **पश्यामि**।।१९।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दष्ट्वाऽद्भुतं रूपम् उग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।२०।।

किञ्च **द्यावापृथिव्यो**ः इति. **इदं** द्यावापृथिव्योः **अन्तरम्** अन्तरिक्षम् **एकेन त्वया व्याप्तम्. च** पुनः **दिशः सर्वा**ः त्वया व्याप्ताः पश्यामि. किञ्च **हे महात्मन्** इतोऽपि अधिकप्रकटनसमर्थ **तव इदम् अद्भुतम्** अलौकिकम् **उग्रम्** अदृष्टं **रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं** प्रकर्षेण **व्यथितं** भीतं पश्यामि इति पूर्वेण[१७] अन्वयः।।२०।।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीता: प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा:
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभि: पुष्कलाभि:।।२१।।

किञ्च **अमी हि** इति. अमी **सुरसङ्घा:** देवसमूहा: **त्वां** त्वत्समीपे **विशन्ति** शरणम् आगच्छन्ति इति अर्थ:. **हि** इति युक्तमेव पुरुषोत्तमशरणागमनं देवानाम्. **केचिद्** इतरे असुराः इति अर्थ: **भीता:** सन्त: **प्राञ्जलयो** बद्धाञ्जलिपुटा: **गृणन्ति** 'रक्ष' इति वदन्ति इति अर्थ:. **महर्षिसिद्धसङ्घा:** महर्षीणां सिद्धानां च समूहा: ''**स्वस्ति** अस्माकम् अस्तु'' इति **उक्त्वा पुष्कलाभि**ः पूर्णाभि: **स्तुतिभि**ः **त्वां स्तुवन्ति**।।२१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

किञ्च **रुद्र** इति. रुद्रा: एकादश **आदित्या:** द्वादश **वसव:** अष्ट **च** पुन: **ये साध्या:** देवगणविशेषा: **विश्वे** विश्वेदेवा: **अश्विनौ** देवौ **मरुत:** मरुद्गणा: **उष्मपा:** ऊष्माणं पिबति इति उष्मपा: पितर: **गन्धर्वयक्षा** गन्धर्वाश्च यक्षाश्च सुराश्च सिद्धसङ्घाश्च **त्वां सर्वे वीक्षन्ते च** पुन: **विस्मिताएव** आश्चर्याविष्टाएव इति अर्थ:।।२२।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरूपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोका: प्रव्यथितास्तथाऽहम्।।२३।।

किञ्च **रूपम्** इति. **हे महाबाहो** महत्कृपाशक्तियुक्त **ते रूपं दृष्ट्वा लोका**ः त्वत्स्वरूपएव स्थिता: **प्रव्यथिता:** भीताः इति अर्थ:. **तथा अहं** च प्रव्यथित:. भयजनकत्वेन रूपं वर्णयति **'बहु'**इत्यादिविशेषणै:. बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिन्. बहव: बाहवः ऊरव: पादाश्च यस्मिन्. बहूनि उदराणि यस्मिन्. बह्वीभिः दंष्ट्राभि: करालं भयानकम्. वक्त्रबाहुल्येन गिलनसामर्थ्यं, नेत्रबाहुल्येन सर्वतो दर्शनसामर्थ्यं तेन निलायनाद्यशक्यत्वम्[१८], क्रियाबाहुल्येन ग्रहणसामर्थ्यम्, ऊरुपादबाहुल्येन धावनसमार्थ्यं तेन पलायनाद्यशक्तत्वम्;

उदरबाहुल्येन जारणसामर्थ्यम्, दंष्ट्राबाहुल्येन चर्वणसामर्थ्यं द्योतितम्. अतः एवंविधं दृष्ट्वा त्वद्रूपस्थाः चेद् लोकाः प्रव्यथिताः तदा मम कः सन्देहः इति तथेति पदेन द्योतितम्।।२३।।

किञ्च केवलस्वाधिष्ठितदेहाध्यासेन जीवस्यैव न भयं, किन्तु त्वदंशस्य अन्तरात्मनोऽपि भयं समुत्पन्नम् इति आह **नभःस्पृशम्** इति.

नभस्स्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।२४।।

नभः आकाशं स्पृशति तदाकाशव्यापि ज्ञातुम् अशक्यम्. **दीप्तं** प्रज्वलत्तेजोराशिं ध्यानैकयोग्यम्. **अनेकवर्णम्** अनेके शुक्ललोहितादयो वर्णाः यस्य तं निश्चययोग्यम्. **व्यात्ताननं** व्यात्तानि प्रसारितानि आननानि यस्य तं प्रार्थनायोग्यम्, **दीप्तविशालनेत्रं** दीप्तानि ज्वलद्रूपाणि विशालानि नेत्राणि यस्य तं दर्शनायोग्यम्. एतादृशं त्वां दृष्ट्वा **प्रव्यथितः** अतः आत्मा यस्य तादृशो **हि** निश्चयेन **धृतिं** धैर्यं **शमं** च शान्तिं **न विन्दामि** न प्राप्नोमि इति अर्थः. स्वरक्षणार्थं **विष्णो!** इति सम्बोधनम्।।२४।।

किञ्च भयाधिक्येन पुनः विज्ञापयति **दंष्ट्राकरालानि** इति.

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।२५।।

हे देवेश सर्वपूज्य **ते मुखानि** दंष्ट्राभिः करालानि भयोत्पादकानि. **च** पुनः **कालानलसन्निभानि** प्रलयाग्निसन्निभानि **दृष्ट्वैव** भयाद्दिशो **न जाने** गत्वा प्राप्यस्थानं न जानामि. **शर्म** त्वदवलोकनरूपं च सुखं **न लभे**. अतो **हे जगन्निवास** जगत्पालक जगतः सुखस्थितिरूप **प्रसीद** प्रसन्नो भव; प्राप्यं स्थानं दर्शय इति भावः।।२५।।

एवं भगवत्स्वरूपस्थं जगद्दृष्ट्वा विज्ञाप्य यच्चान्यद्रष्टुमिच्छसि (११।७) इति भगवतोक्तं तदर्थं बाह्यस्थः स्वपरसैन्यस्वरूपज्ञानदर्शनेच्छया तद्[११]

दृष्ट्वा विज्ञापयति **अमी च** इति पञ्चभिः.

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

च पुनः. बाह्यास्थाः **अमी** परिदृश्यमानाः **धृतराष्ट्रस्य पुत्राः** आलोचनरहिताः **सर्वे अवनिपालसङ्घैः** जयद्रथादिसमूहैः **सह भीष्मो** भक्तः योद्धा च, **द्रोणः** शस्त्रविशारदः[२०] **सूतपुत्रः** कर्णः अस्मदीयैरपि **योधमुख्यैः** धृष्टद्युम्नादिभिः सह।।२६।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

त्वरमाणाः वेगवत्तराः **दंष्ट्राकरालानि** स्वतोऽपि **भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति** प्रविशन्ति. प्रवेशानन्तरं दृष्टम् आह **केचिद्** एके **दशनान्तरेषु** दन्तच्छिद्रेषु **विलग्नाः** लम्बमानाः **चूर्णितैः** चूर्णीकृतैः **उत्तमाङ्गैः** सन्दृश्यन्ते।।२७।।

प्रवेशे दृष्टान्तम् आह **यथा** इति.

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

यथा नदीनां बहुधा प्रसरन्तीनां **बहवो अम्बुवेगाः** जलप्रवाहाः **समुद्रमेव** स्वलयस्थानमेव **अभिमुखाः** सन्मुखाः सन्तो **द्रवन्ति** प्रविशन्ति **तथा अमी नरलोकवीराः अभिविज्वलन्ति** परितो दीप्यमानानि **तव वक्त्राणि विशन्ति**।।२८।।

नदीदृष्टान्ते प्रकटतया नाशो न दृश्यते इति नाशार्थप्रवेशे दृष्टान्तान्तरम् आह **यथा** इति.

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।

तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः

तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

यथा पतङ्गाः सूक्ष्मकीटाः[२१] शलभाः स्वपक्षवेगमदावलिप्ताः **नाशाय** मरणार्थं **प्रदीप्तं** दीप्यमानं[२२] ज्वलनम् अग्निं विशन्ति तथैव **समृद्धवेगाः** मदावलिप्ताः एते **लोकाः** पूर्वोक्ताः **नाशाय** मरणाय **तवापि वक्त्राणि विशन्ति**।।२९।।

ननु भगवान् न नाशयेत् तदा किं तत्प्रवेशेन? इत्यतः आह **लेलिह्यसे** इति.

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।३०।।

ग्रसमानः ग्रासं कुर्वन् **समन्तात्** सर्वतः **समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिः** देदीप्यमानैः **वदनैः लेलिह्यसे** भक्षयसि. तवापि तन्नाशेच्छैव दृश्यते इति भावः. भगवान् एवं कथं कुर्याद्? अत आह **हे विष्णो!** सर्वपालक सात्त्विकरक्षणार्थमेव **उग्राः** प्रतपनसमर्थाः **तव भासः** किरणाः **तेजोभिः** स्फुरत्कान्तिभिः **समग्रं जगद् आपूर्य प्रतपन्ति** सन्तापयन्ति. अत्र अयं भावः **:** विष्णुः सात्त्विकाधिष्ठाता सात्त्विकरक्षणार्थमेव दुष्टनाशं करोति अतः उचितमेव तथाकरणम्।।३०।।

एवं समग्रजगत्तापनेन ममाऽपि सन्तापो भवति अतो मयि प्रसन्नो भव इति आह **आख्या हि** इति.

आख्याहि मे को भवान् उग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

भवान् पूर्वरूपेण परिदृश्यमानः कः? **उग्र रूपः** कः? एतद् **मे** मह्यं **हि** निश्चयेन **आख्याहि** वद. तव आख्याने किं साधनम्? इत्यतः आह **हे देववर** देवश्रेष्ठ देवाः पूजनेन तुष्यन्ति, त्वन्तु तेषामपि श्रेष्ठः प्रभुः अतः **ते नमो अस्तु.** **''किमासनं ते गरुडासनाय''** इत्यादिवाक्यैः तव प्रसादे नमस्कारएव साधनम् इति अर्थः. अतः **प्रसीद** प्रसन्नो **भव**. ननु प्रसादे स्वरूपाख्यानं किम्प्रयोजनकम्?

इत्यतः आह **विज्ञातुम्** इति. **आद्यं** पुरुषोत्तमं मूलभूतं **भवन्तं विज्ञातुं** विशेषेण सलीलं ज्ञातुम् **इच्छामि** वाञ्छामि. यतः **तव प्रवृत्तिम्** अत्र प्राकट्यरूपां चेष्टां लीलां हि निश्चयेन **न प्रजानामि**; स्वरूपज्ञाने सति तज्ज्ञानमपि भविष्यति इति अर्थः. एवं सलीलं त्वज्ज्ञानेन भजनं करिष्यामि अतो विज्ञातुम् इच्छामि इति भावः।।३१।।

एवं विज्ञप्तः सन् श्रीभगवान् उवाच **कालो अस्मि** इति त्रयेण.

श्रीभगवान् उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

लोकक्षयकृद् लोकानां विनाशकः **प्रवृद्धः** ऊर्जितः, **लोकान्** प्राणिनः, **इह** बाह्यतः **समाहर्तुं** संहर्तुं स्वलीनं[२३] कर्तुं **प्रवृत्तः कालो अस्मि**. यद् दशनान्तरेषु **योधाः** त्वया दृष्टाः तत्कालात्मकं मत्स्वरूपम् इति भावः. त्वां द्रष्टारं मत्कृपापात्रम् **ऋते** विना **प्रत्यनीकेषु** अनीकानि प्रत्यवस्थिताः ये योधाः **ते सर्वेऽपि न भविष्यन्ति** न स्थास्यन्तीति. यतो अहं कालरूपः सर्वसंहारार्थं प्रवृत्तो अस्मि. त्वाम् ऋते सर्वे न भविष्यन्तीति उक्त्या त्वदर्थमेव एते मारिताः इति ज्ञापितम्।।३२।।

अतएव त्वम् अनायासेन यशो गृहाण इति आह **तस्माद्** इति.

तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।३३।।

हे सव्यसाचिन् सव्येन वामेन हस्तेन सचितुं सन्धातुं शीलं यस्य तादृशः **त्वम् उत्तिष्ठ** युद्धार्थं सज्जो भव. **यशो लभस्व** सव्यहस्तेनैव सर्वे मारिताः इत्यादिरूपम्. **शत्रून्** दुर्योधनादीन् **जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व. एते मया पूर्वमेव** त्वन्मारणात् प्रथममेव **निहताः** मारिताः अतो **निमित्तमात्रं भव** लोककथनार्थम् अर्जुनेन सर्वे मारिताः इति।।३३।।

द्रोणो ब्राह्मणत्वाद् भगवता कथं वध्य:? तथा भीष्मो भक्त: तथैव जयद्रथ: शिवात् प्राप्तप्रसाद: कर्ण: कुन्तीपुत्र: एतेषाम् अमारणे कथं जयो भवेद्? अतः तन्नाम्ना प्राह **द्रोणं च** इति.

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

च पुन:. ब्राह्मणमपि **द्रोणं भीष्मं च** भक्तमपि **जयद्रथं च**कारेण प्राप्तवरमपि, **कर्णं च** कुन्तीपुत्रमपि तथाभूतान् अन्यानपि **योधवीरान्** युद्धविशारदान् **मया हतान् त्वं जहि** मारय. स्वहतत्वोक्त्या इषुभि: कथं पूजार्हान् प्रति योत्स्यामि(२।४) इति यत् पूर्वम् उक्तं सः दोषो अत्र आनुकूल्यकरणेन[२४] निवारत:. यतः एते मया हता अतो निश्शङ्कं **युद्ध्यस्व रणे सपत्नान्** शत्रून् **जेतासि** जेष्यसि।।३४।।

ततो अर्जुन: किं कृतवान् ? इति आकाङ्क्षायां सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रत्याह **एतद्** इति.

सञ्जयः उवाच

एतत् श्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमान: किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीत: प्रणम्य।।३५।।

एतत् पूर्वोक्तं **केशवस्य** ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदातुः **वचनं श्रुत्वा किरीटी** अर्जुन: **वेपमान:** भगवता राजभोगे विनियुक्तः तद् अयुक्तं मन्वानो मोक्षाभि-लाषवत्त्वात् कम्पमानो जात:. ततो विज्ञापनार्थं **कृताञ्जलि: भीतभीत**ः इति भगवदाज्ञायां पुनः विज्ञापने कदाचिद् अप्रसन्नो भवेद् इति महाभीत: सन् **प्रणम्य** प्रकर्षेण मनसा नमस्कृत्य **कृष्णं** सदानन्दं **सगद्गदं** प्रेमोपरुद्धकण्ठं यथा तथा भूय: पुन: नमस्कृत्यैव अतीव दीनो भूत्वा आह विज्ञप्तिं कृतवान् इति अर्थ:।।३५।।

किम् अर्जुनो विज्ञापितवान्? इति आकाङ्क्षायाम् अर्जुनवाक्यानि आह अर्जुनः उवाच **स्थाने** इति एकादशभि:.

अर्जुनः उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।३६।।

एकादशेन्द्रियैरपि शुद्धैः विज्ञाप्यम् इति एकादशभिः विज्ञापयति. **हे हृषीकेश!** यतः त्वं सर्वेन्द्रियप्रेरकः तस्मात् **स्थाने** स्थितौ **तव प्रकीर्त्या** तव गुणसङ्कीर्तनेन **जगत् प्रहृष्यति** हर्षम् आप्नोति. **च** पुनः. अन्यत् कीर्तनश्रवणेन **अनुरज्यते** अनुरागयुक्तं भवति ननु बाधकेषु विद्यमानेषु कीर्तनं कर्तुं कथं शक्यम्? इति आशङ्क्य कीर्तनेनैव बाधनाशो भवति इति आह **रक्षांसि** इति. तव कीर्तनेनैव **भीतानि** सन्ति रक्षांसि **दिशः** प्रति **द्रवन्ति** पलायन्ते. तथा **सिद्धसङ्घाः** सिद्धानां प्राप्तज्ञानानां समूहाः **नमस्यन्ति** प्रणमन्ति इति अर्थः।।३६।।

ननु सिद्धाः किमिति नमन्ति? इत्यतः आह **कस्माद्** इति.

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

हे महात्मन् महताम् आत्मस्वरूप यस्मात् तेषां भक्तानां स्वरूपं त्वमेव अतः **ते** तुभ्यं **कस्माद् न नमेरन्** न नमस्कुर्युः? कीदृशाय? **गरीयसे** गुरवे. **ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे** जनकाय. किञ्च. **हे अनन्तदेवेश** अनन्तानां देवानाम् ईशः प्रभो **हे जगन्निवास** सकलाश्रय **अक्षरं** त्वमेव, **सद् असच्च** सर्वं त्वमेव यत् **परं** पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्मतत्त्वम् अतो नमन्ति इति अर्थः।।३७।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।३८।।

किञ्च **त्वम् आदिदेव** इति. **त्वं** देवानाम् आदिः तथा त्वं ब्रह्मणोऽपि असि इत्यतः आह **पुरुषः**. तत् त्वम् अक्षरेऽपि वर्तसे इत्यतः **पुराणः** पुरुषोत्तमः इति अर्थः. पुरुषोत्तमधर्मानेव आह **त्वम् अस्य** परिदृश्यमानस्य **विश्वस्य परम्** उत्कृष्टम् आधिदैविकरूपेण स्वस्मिन् स्थानं स्वरतीच्छारूपं **निधानं** लयस्थानं परं

विश्वस्य स्वक्रीडर्थाप्रकटितस्वरूपज्ञानेन[२५] सर्वत्र रमणकर्ता त्वम् असि **विश्वस्य** विश्वस्मिन् वा. **वेद्यं** ज्ञेयं **त्वं च** त्वमेव इति अर्थ:. **च** पुन: **परं धाम** वैकुण्ठाख्यं तेजोरूपं पुरुषोत्तमगृहात्मकं वा त्वम्. **हे अनन्तरूप!** इदं **विश्वं त्वया ततं** व्याप्तं त्वद्रूपमेव इति अर्थ:. 'अनन्तरूपम्' इति[२६] पाठे विश्व विशेषणं अनन्तरूपत्वमेव विवृणोति ।।३८।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुण: शशाङ्क: प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व: पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

वायु: इति. वायु: सर्वप्रेरक: सर्वप्राणरूप: **यम:** सर्वनियमन: **अग्नि:** सर्वाधार: **वरुण:** जलाधिप: सर्वरसपूरक: **शशाङ्क:** सर्वानन्दकर: **प्रजापति:** सर्वोत्पादक:. **च** पुन: **प्रपितामह:** ब्रह्मणोऽपि पिता अत: सर्वरूपः त्वं तस्मात् पूर्वोक्ता: कथं तुभ्यं न नमस्कुर्यु:? यत:[२७] सर्वरूपत्वाद् आधिदैविकत्वात् त्वमेव नमस्य: अतो अहमपि नमस्करोमि सहस्रकृत्व: सहस्रश: **ते** तुभ्यं **नमो नमो अस्तु**. 'अस्तु' इति पदेन त्वम् अङ्गीकुरु इति ज्ञापितम्. **पुनश्च** अङ्गीकारानन्तरमपि **भूय:** वारंवारं **ते नमो नम:** करोमि इति अर्थ:।।३९।।

नम: पुरस्ताद् अथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:।।४०।।

किञ्च **नम**: इति. **हे सर्व** सर्वात्मन् **पुरस्तात्** पूर्वदिशि **पृष्ठत:** पश्चिमायां **सर्वत:** दक्षिणोत्तरकोणादिषु सर्वासु दिक्षु **ते नमो** नमएव **अस्तु**. ''**किमासनं ते गरुडासनाय**'' इत्यादिवाक्यैः न अन्यत् किञ्चिदपि कर्तुं शक्यम् इति भाव:. इदमेव 'एव'कारेण व्यञ्जितम्. यद्वा पृष्ठत: पश्चात् सर्वत: दक्षिणो–त्तरादिभागेषु नम: कुतो नमस्कार: ते पुरस्तादेव पूर्वभागएव सन्मुखएव अस्तु इति[२८] वा अर्थ:. ननु पश्चाद्भागकृतो नमस्कारः कथं पूर्वभागीय: स्याद्? अतः आह **अनन्त** इति. **अनन्तं वीर्यं** सामर्थ्यम् **अमितो** बहुतर: पराक्रमो यस्य तादृशः त्वं **सर्वं** जगत् **समाप्नोषि** तत्तद्रूपनामभेदेन सर्वरूपो भूत्वा वर्तसे तत: सर्वः सर्वरूपः त्वम् असि. अत: पृष्ठतोऽपि नमस्कृतौ पूर्वभागो न बाध्यते इति अर्थ:।।४०।।

एवं नमस्कृत्य पूर्वाज्ञानजापराधान् क्षमापयति **सखा** इति द्वयेन.

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि।।४१।।

मया तव इदं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वरूपात्मकरूपं[२९] **महिमानम् अजानता प्रमादाद्** अनवधानतया **प्रणयेन** स्नेहेन **वाऽपि प्रसभं** बलात्कारेण अकार्येषु योजनार्थं **हे कृष्ण** [३०]इदं पुरुषोत्तमत्त्वेन सर्वरूप इति नामत्वेन श्यामत्वेन वा नतु सदात्मकत्वेन; **हे यादव** इति तत्कुलोद्भवत्वेन, नतु तदुद्धारार्थप्रकटत्वेन; **हे सखा** इति मित्रत्वेन लौकिकबुद्ध्या, नतु परमात्मत्वेन यद् उक्तम्।।४१।।

यच्चावहासार्थम् असत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

च पुन:. सखेति मत्वा **अवहासार्थं** मिथ्यावादादिभि: एक: एकल: मां विहायपि[३१] विहारादिकं करोषि इत्यादिभि:. **अथवा तत्समक्षं विहारे** द्यूतमृगयादिषु [३२]स्वजयम् उद्भावयता, **शय्यायां** सहशयनेन, **आसने** सहोपवेशेन, **भोजने** सहभुञ्जता, इत्यादिषु यद् **असत्कृतो असि** अवमानितो असि **हे अच्युत** च्युतिरहित स्वाङ्गीकृतपरिपालक. **अहं त्वाम् अप्रमेयं** प्रमातुम् अयोग्यं **तत्** सर्वं **क्षामये** क्षमां कारयामि अप्रमेयत्वेन अज्ञानजापराधनिवृत्ति: सूचिता।।४२।।

क्षमापने सम्बन्धस्य आवश्यकत्वाय आह **पिता** इति.

पिताऽसि लोकस्य चराचस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक: कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

अस्य चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य ब्राह्मणक्षत्रिययोः वा **पिता** उत्पादक:, **च** पुन: **गरीयान् पूज्य:** देवोत्तम: तद्द्रष्टा गुरु: त्वम् असि. तर्हि **त्वत्समो** भविष्यतीति **न** इति आह **हे अप्रतिमप्रभाव** उपमारहितानुभाव **लोकत्रये** अन्यः त्वत्समोऽपि नास्ति; कुतो अभ्यधिको भवेद् येन त्वं तत्सम: स्या: ?।।४३।।

यतः सर्वेषां पिता गुरुः पूज्यश्च त्वमेव अतो ममापि सर्वं त्वमेवेति मदपराधं क्षन्तुम् अर्हसि इति विज्ञापयति **तस्माद्** इति.

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायाऽर्हसि देव सोढुम्।।४४।।

तस्मात् कारणाद् अहं **त्वाम् ईशं** प्रभुम् **ईड्यं** स्तुत्यं **कायं प्रणिधाय** दण्डवत् पतित्वा **प्रणम्य** नत्वा **प्रसादये** प्रसादयामि. **हे देव** जगत्पूज्य त्वं पूर्वोक्तान् मम अपराधान् सोढुम् अर्हसि क इव? **पुत्रस्य पितेव सख्युः** मित्रस्य सखाइव, **प्रियायाः** प्रीतियोग्यायाः स्त्रियाः प्रियइव।।४४।।

एवं क्षमाप्य विज्ञापयति **अदृष्टपूर्वम्** इति द्वयेन.

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अदृष्टपूर्वं तव **रूपं** विश्वात्मकम् अनेकलीलायुतं **दृष्ट्वा हृषितो अस्मि** हर्षं प्राप्तो अस्मि. **च** पुनः **मे मनः भयेन प्रव्यथितं** प्रकर्षेण व्यथां प्राप्तम्. अयं भावः द्रष्टुकामस्य तादृशं रूपं दर्शयित्वा पुरुषोत्तमदर्शनवतो अन्यरूपदर्शनाभिलाषापराधिनः पुनः पुरुषोत्तमरूपं[३३] दर्शयिष्यति न वा इति भयम् अभूत्, अतः प्रसादं प्रार्थयित्वा तद्दर्शनं प्रार्थयति. हे **देवेश** देवानामपि इन्द्रादीनाम् ईशः नियामक **जगन्निवास प्रसीद** प्रसन्नो भव. प्रसन्नो भूत्वा **हे देव** सेवनार्थं **तदेव** पुरुषोत्तमरूपं **दर्शय**।।४५।।

रूपं विशिनष्टि **किरीटिनम्** इति.

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम् इच्छामि त्वां द्रष्टुम् अहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

किरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं **त्वाम् अहं तथैव** पूर्ववदेव **द्रष्टुम् इच्छामि**. अतो **हे सहस्रबाहो** अगणितक्रियाशक्तिमन् **विश्वमूर्ते तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण भव** प्रकटो भव इति अर्थः।।४६।।

एवं प्रार्थितो अर्जुनम् आश्वासयन् स्वस्वरूपं[३४] दर्शयामास, तत्र पूर्वम् आश्वासनम् आह श्रीभगवान् उवाच **मया** इति.

श्रीभगवान् उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन् मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

हे अर्जुन मया सर्वदा त्वयि **प्रसन्नेन** आत्मयोगात् स्वकीयत्वयोगाच्च **तव परम्** इच्छया **इदं रूपं दर्शितम्**. कीदृशं? **तेजोमयं विश्वं** विश्वात्मकम्, **अनन्तम्** अन्तरहितम्, **आद्यं** सनातनं, **यद् मे** रूपं **त्वदन्येन** त्वां विना केनाऽपि **दृष्टपूर्वं न**. तादृशं रूपं त्वदिच्छया दर्शितम् इति अर्थ:।।४७।।

एवं त्वदिच्छयैव इदं रूपं दर्शितम्, इदानीं च पूर्वतनमेव रूपं पश्य, दर्शनीयस्य रूपस्य दुर्लभत्वाय अर्जुने कृपाधिक्यम् आह **न वेद** इति.

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रै:।

एवंरूप: शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

न वेदयज्ञाध्ययनै: वेदानां सार्थकशब्दात्मकानां यज्ञानाम् आनुपूर्व्यादि-सहितविद्याक्रियाणां **अध्ययनै:, न दानै:** तुलापुरुषादिभि: **नच क्रियाभि:** अग्निहोत्रादिरूपाभि: **न तपोभि: उग्रै:** कृच्छ्रचान्द्रायणादिभि: **नृलोके** मनुष्यलोके **एवंरूप: अहं** पुरुषोत्तम: **हे कुरुप्रवीर** भक्तकुलश्रेष्ठ **त्वदन्येन** त्वाम् अपहाय **अन्येन द्रष्टुं** पूर्वोक्तै: साधनैरपि **न शक्य:** न समर्थ:।।४८।।

यद् अन्येन न शक्य: तत: पूर्वोक्तभयाशङ्कादिरहित: तदेव रूपं पश्य इति आह **मा ते** इति.

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरम् ईदृङ् ममेदम्।

व्यपेतभी: प्रीतमना: पुनस्त्वं तदेव मे रूपम् इदं प्रपश्य।।४९।।

ते व्यथा न दर्शयिष्यामि इत्यादिरूपा **मा** अस्तु. **च** पुन: **मम घोरं** भयानकम्, **ईदृक्** सर्वग्रसनादिधर्मयुक्तम्, **इदं** परिदृश्यमानं **दृष्ट्वा विमूढभाव:** मोहरूपो **मा** अस्तु. **व्यपेतभी:** विगतभय: **प्रीतमना:** सन् तदेव पूर्वदृष्टमेव **मे** इदं

रूपं प्रपश्य प्रकर्षेण यथाभिलाषं भक्तियुत: **पश्य** इति अर्थ:।।४९।।

एवम् उक्त्वा स्वरूपं दर्शयामास इति सञ्जयः आह **इति** इति.

सञ्जयः उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूय:।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुन: सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

अमुना प्रकारेण **वासुदेवो** मोक्षदाता परमकृपालुः **अर्जुनं** तथा पूर्वप्रकारेण **उक्त्वा स्वकं** स्वीयं पुरुषोत्तम**रूपं भूय:** पुन: **दर्शयामास**. एवं दर्शयित्वा[३५] **सौम्यवपुः भूत्वा च** पुनः पूर्वरूपदर्शन**भीतम् एनं** अर्जुनं पुनः **आश्वासयामास**. ननु एवं वारं वारं कथं कृतवान् इत्यतः आह **महात्मा** इति. महान् च असौ आत्मा च तेन कृपया तथा कृतवान् इति भावः. यद्वा महतां भक्तानां आत्मा अतो भक्तत्वात् तथा कृतवान् इति अर्थ:।।५०।।

दर्शितस्वरूपं दृष्ट्वा अर्जुनो विज्ञापयति **दृष्ट्वा** इति.

अर्जुनः उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन!।
इदानीम् अस्मि संवृत्त: सचेता: प्रकृतिं गत:।।५१।।

हे जनार्दन! अविद्यानाशक **इदं** पुरतो दृश्यमानं **मानुषं** मनुष्यैः द्रष्टुं योग्यं **सौम्यं** दयापरीतं दयायुक्तं **तव रूपं दृष्ट्वा इदानीम्** अधुना **सचेता:** सावधानचित्त: **संवृत्त:** जातो **अस्मि**. **प्रकृतिं** भक्तिरूपां **गत:** प्राप्तो अस्मि (च)।।५१।।

स्वस्य अस्य[३६] रूपस्य स्वानुग्रहैकसाध्यत्वेन परमदुर्लभत्वम् आह श्रीभगवान् उवाच **सुदुर्दर्शम्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

सुदुर्दर्शम् इदं रूपं दृष्टवान् असि यन् मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिण:।।५२।।

इदं परिदृश्यमानं **मम रूपं सुदुर्दर्शं** सुष्ठु दुःखेनाऽपि द्रष्टुम् अशक्यं यत् त्वं **दृष्टवान् असि**. **देवाअपि** मत्क्रीडायोग्याः मदंशाअपि **अस्य** रूपस्य नित्यं[३७] प्रत्यहं **दर्शनकाङ्क्षिणः** दर्शनेच्छवः तिष्ठन्ति इति अर्थः.

अत्र अयं भाव**: :** ब्रह्मादयो देवाः श्रीदेवकीगृहे स्तुत्वा गताः तदा गर्भएव प्राकट्यं, न बहिः, बहिः प्राकट्यानन्तरन्तु मातृप्रार्थनया तिरोहितं कृत्वा ध्यानास्पदत्वेन स्थापितं देवादीनान्तु तद्वृत्तान्ताज्ञानाद् वेदोक्तरीत्या भजनात् तादृक्स्वरूपदर्शनमेव भवति, इदं च स्वरूपं भावात्मकं वेदाद्यगम्यं भक्तमुखात् श्रुतत्वाच्च आकाङ्क्षिणः तिष्ठन्तीति तथा।।५२।।

ननु ते वेदाद्युक्तसाधनैः कथं न पश्यन्ति? इत्यतः आह **न अहम्** इति.

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।

शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

यथा त्वं **मां दृष्टवान् असि एवंविधः** पुरुषोत्तमो अहं परिदृश्यमान**वेदैः** वेदोक्तसाधनैः वेदैरेव वा **न**. अतएव ''**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'' (तैत्ति.उप.२।४।६, २।९।१) इति उक्तम्. **तपसा** क्लेशात्मकेनाऽपि **न दानेन** सर्वस्वदक्षिणात्मकेन **न इज्यया** यागेन न **द्रष्टुं शक्यः**।।५३।।

तदा कथं द्रष्टुं शक्यः? इति अतः आह **भक्त्या** इति.

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।५४।।

हे अर्जुन! हे परन्तप! इति स्नेहेन वीप्सया सम्बोधनम्. **एवंविधो अहम् अनन्यया** न विद्यते अन्यः पारलौकिकैहिकयत्नो यस्यां तादृश्या **भक्त्या तत्त्वेन** याथार्थ्यस्वरूपेण **ज्ञातुं च** पुनः अलौकिकभावदृष्ट्या **द्रष्टुं च** पुनः **प्रवेष्टुम्** अलौकिकरूपेण लीलासु सेवनार्थं शक्यः अस्मि इति शेषः।।५४।।

ननु अनन्यभक्तः कथं ज्ञेयः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **मत्कर्मकृद्** इति.

मत्कर्मकृन् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैर: सर्वभूतेषु य: स मामेति पाण्डव।।५५।।

मदर्थं स्वस्य सहजदासत्वेन, नतु कामनया, **कर्म** सेवादिरूपं करोति सः तथा. **मत्परम:** अहमेव परम: सर्वस्वं यस्य. **मद्भक्त:** मद्भजनकृद् मदाश्रितो वा. **सङ्गवर्जित:** पुत्रादिलौकिकावैष्णवादिसङ्गवर्जितः. **सर्वभूतेषु निर्वैर:** द्वेषरहितः. **हे पाण्डव!** उत्पत्त्यैव भक्त एवंविधो **य: सः माम् एति** प्राप्नोति, सो अनन्यो ज्ञातव्यः इति भावः।।५५।।

प्रदर्श्य विश्वरूपं स्वं दृढीकृत्याऽर्जुनाय वै।।
श्रीकृष्ण: साधनासाध्यं स्वस्वरूपम् अदर्शयत्।।१।।

इति श्रीगीतामृततरङ्गिण्यां विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्याय:।।११।।

पाठभेदाः

१. ''अवयत्य च'' इति मां. पाठः.
२. ''रूपे मोहो विशेषेण'' इति मुद्रितपाठः.
३. 'ज्ञातवत्वम्' इति मां.पाठः.
४. 'नानाविलासात्मकं' इति मां.पाठः.
५. 'पुरुषोत्तमदर्शनतो' इति मुद्रितपाठः.
६. 'नानप्रकारकाणि' इति मां.पाठः.
७. 'देवगणविशेषान्' इति मुद्रितपाठः.
८. ''भवेद् इति भाव:'' इति मुद्रितपाठः.
९. ''दिव्यदृष्ट्यसुरावेशिभीष्मादिमारणेन'' इति मुद्रितपाठः.
१०. 'सर्वात्मकयोगबलेन' इति मुद्रितपाठः.
११. ''अनेकानि अलौकिकानि'' इति मुद्रितपाठः.
१२. 'अनेकात्मरूपस्य' इति मुद्रितपाठः.
१३. 'च' इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.
१४. 'स्वनिश्चितताम्' इति मुद्रितपाठः.
१५. ''अनादि इत्यादिना'' इति मुद्रितपाठः.
१६. ''तेजोयुक्तं त्वाम्'' इति मुद्रितपाठः.
१७.'पूर्वेणैव' इति मां पाठः.
१८. ''दर्शनसामर्थ्येन न निलायनाद्यशक्यात्वम्'' इति मां.पाठः.

१९. ''...च्छया दृष्ट्वा'' इति मुद्रितपाठः.
२०. ''भीष्मो योद्धा च, द्रोण: शास्त्रविशारद:'' इति मुद्रितपाठः.
२१. 'पक्ष्मकीटा:' इति मां.पाठः.
२२. ''मरणार्थं दीप्यमानम्'' इति मुद्रितपाठः. २८६
२३. 'स्वलीनान्' इति मुद्रितपाठः.
२४. ''दोषोस्यानुकूल्यकरणेन'' इति मां. पाठः.
२५. ''विश्वस्य क्रीडाप्रकटितस्वरूपज्ञानेन'' इति मुद्रितपाठः.
२६. '' 'अनन्तरूपम्' इति'' इति मुद्रितपाठः.
२७. 'अत:' इति मुद्रितपाठः.
२८. ''इति प्रार्थनेत्यर्थ:'' इति मां.पाठः.
२९. मया तव पालकरूपं महिमानमजानता'' इति मां.पाठः.
३०. ''हे कृष्ण इति नामत्वेन, न तु सदात्मकत्वेन'' इति मुद्रितपाठः.
३१. ''एक: केवलो मां विहाय'' इति मुद्रितपाठः.
३२. 'स्वजनत्वम्' इति मुद्रितपाठः.
३३. ''पुरुषोत्तमं रूपम्'' इति मां.पाठः.
३४. 'स्वरूपम्' इति मुद्रितपाठः.
३५. ''एवं ज्ञापित्वा'' इति मां.पाठः.
३६. ''स्वस्य रूपस्य'' इति मुद्रितपाठः.
३७. ''अस्य नित्यम्'' इति मुद्रितपाठः.

V

भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्याय:

पुरुषोत्तमभक्तानामक्षराभिनिवेशिनाम्।
स्वरूपतारतम्यार्थं[१] श्रीकृष्णं ह्यर्जुनोऽब्रवीत्।।१।।

पूर्वाध्यायान्ते "**मत्कर्मकृद्**"(११।५५) इत्यनेन भक्तानां स्वभजनैकनिष्ठानां स्वप्राप्तिः उक्ता, पूर्वं च अष्टमाध्याये "**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति**"(८।११) इत्यारभ्य "**स याति परमां गतिम्**"(८।१३) इत्यन्तम् अक्षरोपासकानां परमगतिः उक्ता, एतदुभयोः तारतम्यजिज्ञासुः अर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति **एवम्** इति.

अर्जुनः उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा:।।१।।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वसङ्गपरित्यागेन अनन्यभक्ताः **ये त्वां** प्रकटम् आनन्दरूपं **पर्युपासते**[२] परित: सर्वभावेन सेवन्ते ध्यायन्ति च. **ये चापि अव्यक्तम्** अप्रकटम् **अक्षरं पर्युपासते** ध्यायन्ति **तेषाम्** उभयेषां मध्ये **के योगवित्तमा:** अतिशयितत्वत्संयोगविद: श्रेष्ठा: इति अर्थ:. तान् कृपया आज्ञापयेति भाव:।।१।।

तत्र ये प्रकटपुरुषोत्तमरूप-मद्भजनकर्तारः ते उत्तमाः इति आशयेन उत्तरम् आह श्रीभगवान् **मयि** इति.

श्रीभगवान् उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता:।।२।।

मयि प्रकटरूपे सम्यग् निष्कामतया **मन:** सर्वदैकरूपम् **आवेश्य** आसमन्तात् सर्वात्मभावेन निवेश्य **ये** भाग्यवन्तो **नित्ययुक्ता:** मत्सेवैकतत्परा: **परया** प्रेमैकलक्षणया **श्रद्धया उपेता:** युक्ताः सन्तो[३] **माम् उपासते** सेवन्ते **ते युक्ततमा**ः उत्तमा: **मे मता:** सम्मताः इति अर्थ:।।२।।

एवं स्वभक्तानाम् उत्तमत्वम् उक्त्वा अक्षरोपासकानां स्वरूपम् आह **ये तु अक्षरम्** इति द्वयेन.

ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम्।।३।।

ये तु. 'तु'शब्देन स्वाभिमतत्वं निराकृतम्. ये **अनिर्देश्यं** शब्दाविवेच्यम्, **अव्यक्तम्** अप्रकटरूपं **सर्वत्रगं** ध्यानादिदशायामपि हृदये अस्थिरस्वभावम्. अतएव **अचिन्त्यं** चिन्तनायोग्यं रूपाद्यभावाद् अस्थिरत्वाच्च **कूटस्थं** प्रपञ्चा-धिष्ठितम्, **अचलं** मच्चरणात्मकम् अतएव **ध्रुवं** नित्यम् एतादृशम् अक्षरम्।।३।।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य वशीकृत्य **सर्वत्र** मयि देवादिषु लौकिकेषु सुखदुःखेषु वा **समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताः** सन्तो **ये पर्युपासते** ध्यायन्ति **ते मामेव प्राप्नुवन्ति**. **'एव'**कारेण अक्षरसम्बन्धव्यवहिताः प्राप्नुवन्ति इति भावः स्वयुक्ततमत्वाभावश्च ज्ञापितः।।४।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

किञ्च मदभिमताभावात् परम्पराप्राप्तावपि तेषां [४]क्लेशाधिक्यं भवति इति आह **क्लेश** इति. **तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्** अप्रकटरूपासक्तचित्तानां सेवार्थप्रकटित-सर्वेन्द्रियवैफ[५]ल्यात् क्लेशः अधिकतरो भवति, आसक्तचित्तत्वाद् दर्शनाद्यभिलाषे सति तदभावाद् आधिक्यं भवति [६]साधनदशायामपि अतएव **अधिकतरत्वम्** उक्तम्. फलमपि दुःखेन प्राप्यते इति आह **अव्यक्ता** इति. **देहवद्भिः** देहात्मसेवमानवद्भिः **अव्यक्ता गतिः** अव्यक्तनिष्ठा गतिः **दुःखं** दुःखेन **अवाप्यते** प्राप्यते. **हि** इति युक्तत्वाय. भगवत्सेवैकयोग्यदेहस्य व्यर्थगमनेन सा गतिः दुःखेनैव प्राप्यते. प्राप्त्यनन्तरमपि अलौकिकदेहाद्यभावाद् अव्यक्ततया प्रवेशे तदात्मकांशस्य पूर्वानुभूत-लौकिकेन्द्रियरसस्मरणेन जले निमग्नस्य

जलपानवद्दुःखं प्राप्यते इति भावः।।५।।

अक्षरोपासकानां साक्षात्कारेऽपि क्लेशः मद्भक्तानान्तु मत्स्वरूपध्यानेन मत्प्रतिमादिसेवतामपि अहम् उद्धारं करोमि इति आह **येतु** इति द्वाभ्याम्.

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

येतु सर्वाणि लौकिक-वैदिकादीनि **मयि** मन्निमित्तं **सन्न्यस्य** त्यागं कृत्वा, **मत्पराः** अहमेव परः उत्कृष्टः प्राप्यो येषां तादृशाः सन्तो **अनन्येनैव योगेन,** न विद्यते अन्यो भजनीयो यस्मिन् तादृशेन भक्तियोगेन **मां ध्यायन्तः** मद्ध्यानं कुर्वन्तः **उपासते** सेवन्ते; मूर्त्यादिषु इति शेषः।।६।।

तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

हे पार्थ! मद्भक्तः मयि आसमन्तात् सर्वभावेन आवेशितं चेतो येषां **तेषां मृत्युसंसारसागराद्** वारंवारं मरणधर्मयुक्तशरीरप्रापकरूपाद् अलौकिक-भजनौपयिकस्वरूपदानेन **उद्धर्ता. न चिरात्** शीघ्रमेव अहं **भवामि,** ध्याने मूर्तौ वा प्रकटो भवामि इति अर्थः।।७।।

यतो ध्यानादिभिः सेवतामपि उत्तमफलप्राप्तिः भवति, तत्र साक्षाद् मद्भजनकर्तॄणां किं वाच्यम्? अतः त्वं मत्परो भव इति आह **मयि** इति.

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

मय्येव प्रकटरूपएव **मनः** सङ्कल्पविकल्पात्मकम् **आधत्स्व** आसमन्तात् स्थैर्येण सर्वतः आकृष्य स्थापय. **बुद्धिं** व्यवसायात्मिकां **मय्येव** निवेशय. **अतः ऊर्ध्वं** बुद्धिप्रवेशानन्तरं **मय्येव** पुरुषोत्तमे निवसिष्यसि नितरां सेवादियोग्यतया निकटएव स्थास्यसि. **न संशयः** अत्र न सन्देहः. सशयं मा कुर्य्याः इति अर्थः।।८।।

ननु मनः चञ्चलत्वात् कथं त्वयि स्थिरं स्याद्? अतः आह **अथ** इति.

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय।।९।।

हे **धनञ्जय** इति सावधानार्थं सम्बोधनम्. **अथ** चेद् **मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं** स्थापयितुं **न शक्नोषि** समर्थो न भवसि, तदा **अभ्यासयोगेन** मच्छ्रवणानुस्मरणादिरूपेण **माम् आप्तुं** प्राप्तुम् **इच्छ** यतस्व. विचार्य प्रयत्नपरो भव इति अर्थः।।९।।

एवं चित्तधारणार्थम् अभ्यासः साधनत्वेन उक्तः तत्साधनमपि आह **अभ्यासे** इति.

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिम् अवाप्स्यसि।।१०।।

अभ्यासे निरन्तरानुस्मरणे **अपि** चेद् **असमर्थो** असि तदा **मत्कर्मपरमः** मत्प्रीतिहेतुपूजादिरूपाणि यानि तदनुष्ठानमेव परमम् उत्कृष्टं यस्य, तादृशो **भव**. एवं **मदर्थं** मत्प्रीत्यर्थं, नतु फलकामनया **कर्माण्यपि कुर्वन् सिद्धिम्** अभ्याससिद्धिं प्राप्स्यसि।।१०।।

एतत्प्राप्त्यर्थम् अतिसुगमोपायम् आह **अथ एतद्** इति.

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

अथ चेद् **एतदपि** मदर्थकं **कर्तुम् अशक्तो असि** न समर्थो असि, स्वरूपाज्ञानात् तदा **मद्योगं** मम योगः संयोगो यस्मिन् यस्य वा तादृशं भक्तम् **आश्रितः** सन् **यतात्मवान्** तदेकपरचित्तो भूत्वा **सर्वकर्मफलत्यागं** सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां स्वर्गादिरूपफलानां त्यागं **कुरु**, चिन्तनं त्यज इति अर्थः. तत्फलानभिलाषे मदाज्ञया करणात् कर्मभिः चित्तशुद्ध्या मद्भक्तोपदिष्टं ज्ञानं स्थिरीभविष्यति, तेन मत्कर्मसिद्धिः भविष्यति इति भावः।।११।।

एवम् उक्तानाम् उत्तरोत्तरकर्त्तव्यानां स्वरूपम् आह **श्रेय**ः इति.

श्रेयो हि ज्ञानम् अभ्यासाद् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागात् शान्तिरनन्तरम्।।१२।।

अभ्यासात् केवलं[१०] चित्ताकर्षणेन अनुस्मरणरूपाद् **ज्ञानं श्रेयः** श्रेष्ठम् इति अर्थः. अतो ज्ञानयुक्तो अभ्यासः उत्तमः इति भावः. **ज्ञानात्** केवलाद् **ध्यानं** मत्स्वरूपानुचिन्तनात्मकं [११]**विशिष्यते** विशिष्टं भवति इति अर्थः. तेन ज्ञानाभ्यासयुक्तं ध्यानम् उत्तमम् इति भावः. **ध्यानात्** केवलात् **कर्मफलत्याग**ः उत्तमः. तेन ज्ञानाभ्यासध्यानसहितमदर्थकर्ममत्कर्म[१२]करणम् उत्तमम् इति अर्थः. यतः एवम् अतः तादृश**त्यागाद् अनन्तरं** शीघ्रमेव **शान्ति**ः मद्भक्तिस्थितिरूपा भवेद् इति शेषः।।१२।।

तस्य स्वरूपम् आह **अद्वेष्टा** इति.

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

सर्वभूतानां प्राणिमात्राणां मत्क्रीडात्मकत्वाद् **अद्वेष्टा** आधिक्यादिदर्शने द्वेषरहितः **मैत्रः** भक्तेषु मित्रतया वर्त्तमानः **करुणः** भक्तिरहितेषु संसारदुःखनिश्चयात् करुणः उपदेशादिदानार्थं करुणावान्. '**एव**'कारेण न कदाचित् कर्कशः तिष्ठेद् इति ज्ञापितम्. **निर्ममः** उपदेशदानानन्तरं तेषु सर्वत्र च ममत्वरहितः **निरहङ्कारः** स्वस्य उत्तमत्वज्ञानेन अहङ्काररहितः **समदुःखसुखः** समे दुःखसुखे वियोगसंयोगात्मके यस्य **क्षमी** क्षमावान् दुष्टकृताव-मानादिसहनशीलः।।१३।।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिः यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

किञ्च **सन्तुष्ट**ः इति. **सततं सन्तुष्टः** निरन्तरं हृदयस्थित–मत्स्वरूपेण आनन्दयुक्तः **योगी** मच्चिन्तनशीलः **यतात्मा** वशीकृतस्वभावः **दृढनिश्चयः** दृढः कामाद्यनुपहतो मत्परीक्षित–दुःखादिषु अचलो मयि सर्वकरणसमर्थत्वेन

निश्चयो यस्य, **मयि अर्पिते** समर्पिते[१३] **मनोबुद्धी** येन, **यः** एतादृशः **सः मद्भक्तः मे प्रियः** मदिङ्गितकरणाद् इति भावः।।१४।।

यस्माद् नोद्विजते लोको लोकाद् नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

किञ्च **यस्माद्** इति. **यस्मात्** सकाशाद् **लोकः न उद्विजते** ध्रुवादिवत् सकामभजनादिना लोकः क्लेशं न आप्नोति. च पुनः **लोकात्** स्वस्योत्सादनार्थं तपआदियत्नवतो यो **न उद्विजते** भयं न प्राप्नोति इति अर्थः. **च** पुनः **हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः** हर्षः स्वेष्टाप्त्या तद्राहित्येन सर्वत्र भगवदात्मकत्वेन इतरास्फूर्त्या सर्वदैव हर्षात्मकएव इति अर्थः अमर्षः परोत्कर्षासहिष्णुता, तद्राहित्येन भगवल्लीलात्मकज्ञानवान् इति अर्थः. भयं त्रासः, तदभावेन भगवद्रक्षणसामर्थ्यज्ञानवान् इति अर्थः. उद्वेगः चित्तलोभः तेन सेवादिसमये चित्तचाञ्चल्यरहितः इति अर्थः. एतादृशो **यः सः मे प्रियः**।।१५।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

किञ्च **अनपेक्षः** सेवादौ स्वमनो अतिरिक्तापेक्षारहितः समर्थः इति यावत्. **शुचिः** मत्स्मरणवान् **दक्षः** भजनस्वरूपज्ञानवान् **उदासीनः** लोकेषु **गतव्यथः** मानसिक-क्लेशरहितः **सर्वारम्भपरित्यागी** दृष्टश्रुतफलक-कर्माऽनुद्यमानस्वभावः. एतादृशो **मद्भक्तः** मद्भजनकर्त्ता **सः मे प्रियः**।।१६।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।१७।।

किञ्च **यो न** इति. **यः** लौकिकप्रियाप्त्या **न हृष्यति**, तथैव अप्रियादिना **न द्वेष्टि**; तथाच सेवार्थवस्तुनाशे **न शोचति, न** तद् **आकाङ्क्षति**. **शुभाशुभे** स्वर्ग-नरकादिरूपे **त्यजति**. सर्वत्र भगवदिच्छां ज्ञात्वा लीलात्वेन व्यवहरति इति अर्थः. एतादृशो **यो भक्तिमान्** मद्भक्तियुक्तः[१४] **सः मे प्रियः**।।१७।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।

किञ्च **समः** इति. **शत्रौ** द्वेषकर्तरि, **मित्रे** अनुरागवति समः स्वतो द्वेषानुरागरहितः इति अर्थः. **तथा मानापमानयोरपि** समः. **शीतोष्णयोः** दैहिकयोः **सुख–दुःखयोः** पुत्रजन्म–मरणादिरूपयोः **समः**. **सङ्गविवर्जितः** लौकिकासक्तिरहितः।।१८।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् मे प्रियो नरः।।१९।।

तुल्ये निन्दास्तुती यस्य, निन्दितो न व्यथति, स्तुतो न हृष्यति स्वयं च न कञ्चन निन्दति नच स्तौति. **मौनी** वशवाक्. **येनकेनचिद्** भगवदिच्छाप्राप्तेन **सन्तुष्टः**. **अनिकेतः** गृहाद्यासक्तिरहितः. **स्थिरमतिः** मयि इति अर्थः. एतादृशो यो **भक्तिमान्** भक्तियुक्तो **नरः** सः **मे प्रियः** प्रियो भवति इति अर्थः।।१९।।

उक्तभक्तिरूपम् उपसंहरति **येतु** इति.

ये तु धर्म्यामृतम् इदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

'यः' इति सामान्योक्त्या न अत्र वर्णादिनियमः किन्तु **ये** केचन भाग्यवन्तः **इदं** पुरतः उक्तं **धर्म्यामृतम्** [१५]धर्मेषु अमृतम् अक्षयं मत्प्रसादात्मकफलरूपं **यथोक्तं** श्रद्दधानाः मदुक्तं सत्यम् इति ज्ञानवन्तो **मत्परमाः** मदेकनिष्ठाः सन्तः **पर्युपासते** मां सेवन्ते **ते भक्ताः मे अतीव** स्वात्मनः **प्रियाः** भवन्ति इति अर्थः. ''**नाऽहम् आत्मानम् आशासे**''(भाग.पुरा.९।४।६४) इतिवत्।।२०।।

एवमर्जुनमासिञ्चद् भक्तियोगामृतोक्तिभिः।
सर्वसंशयमाच्छिद्य लोकोद्धारपरो हरिः।।१।।

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां द्वादशो अध्यायः

पाठभेदाः

१. स्वरूपतारतम्यायम्' इति मां.पाठः.

२. ''पर्युपासते ध्यायन्ति'' इति मुद्रितपाठः.

३. 'ततो' इति मुद्रितपाठः.

४.''तेषां क्लेशः अप्रकट...'' इति मुद्रितपाठः.

५. 'वैकल्यात्' इति मुद्रितपाठः.

६. ''भवति असाधन...'' इति मुद्रितपाठः.

७. ''नैव अन्यो'' इति मुद्रितपाठः.

८. 'सावधानार्थे' इति मुद्रितपाठः.

९. ''समाधातुं स्थापयितुं न'' इति मुद्रितपाठः.

१०.'केवल' इति मुद्रितपाठः.

११.''मत्स्वरूपानुचिन्तनात्मकं विशिष्यते विशिष्टम्'' इति मुद्रितपाठः.

१२.'मदर्थकमत्कर्म' इति मुद्रितपाठः.

१३. 'अर्पिते मनोबुद्धिः'' इति मुद्रितपाठः.

१४. ''भक्तिमान् भक्तियुक्तः'' इति मुद्रितपाठः.

१५. ''पुरतोक्तं धर्मामृतम् अक्षयम्'' इति मुद्रितपाठः.

V

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगाख्यः त्रयोदशो अध्यायः

ये यथोक्तप्रकारेण मां भजन्ति विचक्षणाः।
अनन्यमनसस्ते मे प्रियास्तान् उद्धराम्यहम्।।१।।
इत्युक्तिं समुपाकर्ण्य तज्जिज्ञासुर्धनञ्जयः।
प्रभुं विज्ञापयामास प्रेमविह्वलितः सुधीः।।२।।

अथ प्रपञ्चादिसर्वस्वरूपज्ञानाभावे भक्तिः कथं स्याद्? इति तज्ज्ञानं पृच्छति **प्रकृतिम्** इति.

अर्जुनः उवाच

***प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।**
एतद् वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।१।।

प्रकृतिं पूर्वोक्तां स्वशक्तिरूपां **पुरुषं च** स्वांशं जीवं **क्षेत्रं** सर्वोत्पत्तिस्थानं **क्षेत्रज्ञं** तत्स्वरूपज्ञं **ज्ञानं** ज्ञानस्वरूपं **ज्ञेयं** तेन ज्ञानेन प्राप्यम् [१]एतत्सर्वं **हे केशव** ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षद **अहं** भक्त्यर्थं **वेदितुम् इच्छामि।**।१।।

भगवान् कृपया अत्र उत्तरम् आह **इदम्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्रम् इत्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।२।।

हे कौन्तेय कृपापात्र **इदं शरीरं** परिदृश्यमानं रसवशेन शीरणादिधर्मयुक्तं[२] **क्षेत्रं** ज्ञानादिप्ररोहस्थानं लीलार्थं स्वांशजीवोत्पत्तिस्थानं तद्विदा[३] **अभिधीयते** कथ्यते इति अर्थः. **एतद्** याथातथ्येन **यो वेत्ति तं तद्विदः** क्षेत्रविदो ज्ञानिनः **क्षेत्रज्ञं प्राहुः**. अन्योक्तिकथनेन तथा न भवति इति ज्ञापितम्।।२।।

अथ अर्जुनज्ञानार्थं स्वमते यथा तत्स्वरूपम् अस्ति तथा आह **क्षेत्रज्ञम्** इति.

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।३।।

क्षेत्रज्ञं बीजम्. 'अपि'शब्देन अणुरूपमपि **मां** मदंशं रसानुभवार्थं सर्वक्षेत्रेषु **'च'**कारेण मद्रूपेषु स्थितं **विद्धि** जानीहि. **भारत!** इति सम्बोधनं विश्वासार्थम्. **क्षेत्र–क्षेत्रज्ञयोः** मदंशत्वेन लीलार्थकत्वेन[४] **यज्ज्ञानं तद् मम मतं** सम्मतम् इति अर्थः. एतद्विपरीतं देहादीनां कर्मादिजन्यत्वं तज्ज्ञानवत्वं जीवस्य क्षेत्रज्ञत्वम् असम्बद्धम् इति अर्थः स्वमतोक्त्या ज्ञापितः।।३।।

एवं प्रतिज्ञाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपं सभेदकं कथयामि तत् शृणु इति आह **तत् क्षेत्रम्** इति.

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद् विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत् प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु।।४।।

तद् मदुक्तं **क्षेत्रं यद्** मत्सत्तात्मकं जडादिरूपमपि **यादृग्** यादृशं मल्लीलेच्छात्मकम्. **यद्विकारि** विचित्रक्रीडेच्छया नानाविकारयुक्तम्. **यतः च** मदंशात्मकमत्क्रीडार्थप्रकृतिपुरुषसंयोगजम्. **तत्** स्थावरजङ्गमपक्ष्यादि–विचित्ररूपम्. **स च** क्षेत्रज्ञः[५] स्वरूपतो मदंशरूपो **यत् प्रभावः** सूक्ष्मोऽपि व्यापकादिसेवनयोग्याद्यचिन्त्यप्रभाववान् तदन्यैः याथातथ्यस्वरूपाज्ञानाद् बहुविधम् उक्तं **तत्** सर्वं **समासेन** सङ्क्षेपतो **मे** मत्तः **शृणु**।।४।।

बहुधा [६]अन्योक्तं भ्रमाभावाय प्रपञ्चयति **ऋषिभिः** इति.

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।५।।

ऋषिभिः स्वानुभवोत्पन्नफलनिरूपणेन **बहुधा** बहुप्रकारेण **गीतम्.** किञ्च **छन्दोभिः** वेदैः **विविधैः** कर्मज्ञानोपासनकाम्यादिभिः **पृथग्** भिन्नतया अधिकारपरत्वेन गीतम्. तथैव **ब्रह्मसूत्रपदैश्च** ब्रह्म सूत्र्यते [७]सूच्यते एभिः इति ब्रह्मसूत्राणि **''जन्माद्यस्य यतः''**(ब्र.सू.१।१।२) इत्यादीनि. तथाच ब्रह्म प्रपद्यते गम्यते एभिः इति पदानि **''एको देवो बहुधा निविष्टः''**(तैत्ति.आर.३।१।४) इत्यादीनि तैः बहुधा श्रुत्यनुसारेणैव गीतम्. कीदृशैः तैः? **हेतुमद्भिः** सहेतुकैः **''को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्''**(तैत्ति.उप.२।७)

‘एष ह्येव तं साधु कर्म कारयति’’(कौषि.उप.३।९) इत्यादिभिः. **विनिश्चितैः** निस्सन्दिग्धैः स्वानुभवप्रतिपादकैः इति अर्थः. एवं विस्तरेण एतैः उक्तं दुर्बोधं याथातथ्येन तत् समासेन मे मत्तः उक्तं शृणु. कथयामि इति अर्थः।।५।।

तत्क्षेत्रस्वरूपम् आह द्वयेन **महाभूतानि** इति.

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।६।।

महाभूतानि पृथिव्यादीनि. **अहङ्कारः** तत्कारणात्मकः. **बुद्धिः** विज्ञानात्मिका. **अव्यक्तं** मूलप्रकृतिः. **इन्द्रियाणि दश च** पुनः **एकं** मनः. **इन्द्रियगोचराः** तन्मात्रात्मकाः शब्दादयः **पञ्च**. एवं चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रतिपादितानि।।६।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारम् उदाहृतम्।।७।।

इच्छा अभिलषितार्थरूपा, **द्वेषः** प्रतीपस्फूर्त्या, **सुखं** स्वाभिलषितप्राप्त्या, **दुःखं** स्वाज्ञानकल्पितं **सङ्घातः** शरीरं **चेतना** ज्ञानरूपा मनोवृत्तिः **धृतिः** धैर्यम्. इच्छादयोऽपि मनोधर्माः अतः **सविकारम्** इन्द्रियादि-विकारसहितं **क्षेत्रं** सर्वोत्पत्तिस्थानं सङ्क्षेपेण सम्यक्प्रकारेण **उदाहृतं** लीलार्थं प्रकटितम् इति ज्ञानार्थं कथितम् इति अर्थः।।७।।

एवं क्षेत्रस्वरूपम् उक्त्वा ससाधनं ज्ञानस्वरूपम् आह पञ्चभिः **अमानित्वम्** इति.

अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः।।८।।

अमानित्वं स्वगुणोत्कर्षवर्णन-प्रबोधराहित्यम्ं. **अदम्भित्वं** लोकदर्शनार्थधर्माद्यनुष्ठानाभावत्वम्. **अहिंसा** परपीडाराहित्यम्. **क्षान्तिः** दुष्टाद्यतिक्रमसहनम्. **आर्जवम्** अकौटिल्यम्. **आचार्योपासनं** गुरुसेवनम्. **शौचं**

बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधम्; बाह्यं मृत्तिकाजलादिना, आभ्यन्तरं भगवत्स्मरणात्मकम्. **स्थैर्यं** क्लेशादिष्वपि भगवत्परतया स्थितिः. **आत्मविनिग्रहः** क्षुधाशीतादिसहनेन शरीरसंयमः।।८।।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।९।।

इन्द्रियार्थेषु इन्द्रियभोगेषु **वैराग्यम्. अनहङ्कारएव च, च** पुनः अहङ्काराराहित्यम्. **'एव'**कारेण अस्य आवश्यकत्वं ज्ञापितम्. जन्मादिषु दुःख-दोषयोः **अनुदर्शनं** विचारः. तथाहि **जन्म** अजन्मनो ब्रह्मांशस्यापि योनिमलादिसम्बन्धः. **मृत्युः** भगवद्विस्मरणम्, **जरा** शक्तिह्रासः, **व्याधिः** रोगादिक्लेशः।।९।।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।१०।।

किञ्च **असक्तिः** इति. पुत्रदारगृहादिपदार्थेषु असक्तिः आसक्तिराहित्यम्. **अनभिष्वङ्गः** तेषु समदुःखसुखतया तन्मयत्वाभावः. **इष्टानिष्टोपपत्तिषु** इष्टानिष्टप्राप्तिषु नित्यं भगवदिच्छाविचारेण **समचित्तत्वम्** ।।१०।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर्जनसंसदि।।११।।

च पुनः **मयि अनन्ययोगेन** लौकिकालौकिकेषु मच्छरणतया **अव्यभिचारिणी** अन्यत्र सद्बुद्धिराहित्येन **भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वं** भगवत्परिपन्थिरहिततद्देशसेवनशीलत्वम्, **अरतिः जनसंसदि** जननादिक्लेश-युक्तलौकिकजीवसभायां **अरतिः** प्रतिष्ठाद्यनाकाङ्क्षा।।११।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानम् इति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१२।।

अध्यात्मज्ञाने आत्मस्वरूपज्ञाने नित्यभाव:. तत्त्वज्ञानस्य अर्थात्मको भगवान् मोक्षो वा तस्य **दर्शनम्** आलोचनरीत्या विचार:. **एतत्** पञ्चश्लोकोक्तं **ज्ञानमिति प्रोक्तम्.** एतद्युक्तो ज्ञानवान्. **अतो अन्यथा** यद् विपरीतत्वं मानित्वादिभावयुक्तं तद् **अज्ञानं** [१०]न ज्ञानम् इति अर्थ:. सज्ज्ञानर्हा एतेऽपि त्याज्या:।।१२।।

एवं ज्ञानस्वरूपम् उक्त्वा तेन ज्ञेयस्वरूपम् आह **ज्ञेयम्** इत्यादिषड्भि:.

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते।।१३।।

स्वगुणरूपैः **एवं** पूर्वोक्तसाधनैः **यद् ज्ञेयं तत्** प्रकर्षेण सर्वाङ्गयुक्तं **वक्ष्यामि** कथयामि इति अर्थ:. तत्कथनप्रयोजनम् आह **यद् ज्ञात्वा अमृतं** मोक्षम् **अश्नुते** प्राप्नोति. एवं कथनं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपम् आह **अनादि** इति. न विद्यते आदिः उत्पत्तिः यस्य तादृशं, **मत्परम्** अहमेव परो यस्य मत्स्थानभूतं **ब्रह्म** बृहत् व्यापकं च. तदेव आह **न सत्** सद् न भवति. तर्हि असद् [११]भविष्यति? इति चेद् इति आशङ्क्य आह **तद् असद् न उच्यते**. सदसदनिश्चयोक्त्या दुर्ज्ञेयत्वेन ब्रह्मत्वं प्रतिपादितम्।।१३।।

एवं सर्वाविषयत्वे ज्ञेयत्वं बाध्यते इति ज्ञेयत्वेन स्वरूपम् आह **सर्वत** इति.

सर्वत: पाणिपादं तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति।।१४।।

सर्वत: पाणयः पादाश्च यस्य **तत्**. एवं विशेषणद्वयेन सर्वत्र क्रियाशक्तिक्तिमत्वं सर्वसेव्यत्वं[१२] च निरूपितम्. **सर्वत:** अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य. एवं विशेषणत्रयेण सर्वज्ञानवत्वं सर्वमुख्यत्वं [१३]सर्वसन्मुखत्वं ज्ञापितम्. **सर्वतः श्रुतिमत्** सर्वत: श्रवणेन्द्रिययुक्तम्. अनेन भक्तादिस्तुतिश्रवणे योग्यत्वेन कृपालुत्वं प्रदर्शितम्. **लोके** स्वकीयः इति शेष:. तर्हि परिच्छिन्नं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **सर्वम् आवृत्य** व्याप्य सर्वेन्द्रियादियुक्तमेव **तिष्ठति** इति भाव:।।१४।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१५।।

किञ्च **सर्वेन्द्रियगुणाभासम्** इति. सर्वेषाम् इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां गुणेषु रूपादिषु भासमानम्. अनेन यत्र सौन्दर्यादिकं यत्किञ्चिदपि तद् भगवत्सम्बन्धादेव इति ज्ञापितम्. तर्हि लौकिकेन्द्रियादियुक्तं भविष्यति? इति अतः आह **सर्वेन्द्रियैः विवर्जितं** रहितम् इति अर्थः. अनेन इन्द्रियाणां पूर्वोक्तानाम् अलौकिकत्वं ज्ञापितम्. एतदेव विवेचयति **असक्तम्** इत्यादिना. असक्तं सर्वत्र आसक्तिरहितं तेन सङ्गाभावः सूचितः. च पुनः तादृशमेव **सर्वभृत्** सर्वाधारभूतम्. सर्वधारणेन सगुणत्वम् आशङ्क्य आह **निर्गुणं** सत्त्वादिगुणरहितम्. एवं गुणवैयर्थ्यम् आशङ्क्य आह **गुणभोक्तृ च** गुणेषु स्थित्वा तद्भोगं करोति इति अर्थः. चकारेण तत्पालकमपि इति ज्ञापितम्।।१५।।

एवं भोगकर्तृत्वे व्यापकत्वं बाध्यते इति अतः आह **बहिः** इति.

बहिरन्तश्च भूतानाम् अचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१६।।

भूतानां चराचराणां बहिः भोक्तृत्वेन **अन्तः** तद्रूपेण आत्मरूपेण वा तदेव, एवं **बहिः** अन्तःस्थत्वे सति भिन्नत्वेन व्यापकत्वहानिम् आशङ्क्य आह **अचरं** स्थावरं **चरमेव च** जङ्गमं च. **'एव'**कारेण स्थावरत्वसहितमेव जङ्गमत्वं जङ्गमत्वसहितमेव स्थावरत्वं बोधितं[१४], तेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं ज्ञापितम्. एवं सति सर्वज्ञेयत्वमेव स्यात्. पूर्वोक्तसाधनवत्सु को विशेषः? इत्यतः आह **सूक्ष्मत्वाद्** इति. **तद्** ब्रह्म तत्र तत्र लीलार्थरूपेण सूक्ष्मत्वात् साधनाभावे **अविज्ञेयं** विशेषेण ज्ञातुम् अशक्यम् इति अर्थः. एतदेव आह **दूरस्थं च अन्तिके च** तद् बहिर्मुखानां दूरस्थं, भक्तानां च अन्तिके निकटे स्थितम् इति अर्थः. **'च'**कारद्वयेन एतदुभयस्यापि लीलात्मकत्वं ज्ञापितम्. यद्वा मर्यादास्थानां **दूरस्थं** पुष्टिस्थानाम् **अन्तिके** स्थितम्. यद्वा पुष्टिमार्गीयाणामेव विरहदशायाम् अतितापेन पुरस्कृतं[१४] तत् च विरहरीत्या दूरस्थमेव, अन्तिके हृदये परोक्षरीत्या. तदज्ञानेन तज्जीवनार्थं निकटे च स्थितम्. ''मया परोक्षं भजता तिरोहितम्''(भाग.पुरा.१०।३२।२१)

इति रीत्या इति भावः।।१६।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१७।।

किञ्च **अविभक्तम्** इति. **भूतेषु** स्थावरजङ्गमेषु स्वलीलार्थं स्वस्वरूपात्मकत्वेन सर्वस्य प्रकटितत्वाद् अभिन्नं रसार्थं द्वितीयरूपेण कृतत्वाद् **विभक्तमिव** भिन्नमिव **स्थितम्. 'इव'**पदेन स्वेच्छया तथा प्रदर्शयतीति ज्ञापितम्. किञ्च तत् पूर्वोक्तं ज्ञेयं भूतानां **भर्तृ** रक्षकं पोषकम्. **'भर्तृ'**पदेन रमणशीलत्वं ज्ञापितं, तेन रमणार्थमेव स्थितिकाले रक्षकम् इति अर्थः. वियोगात्मकप्रलयकाले **ग्रसिष्णु** ग्रसनशीलं स्वस्मिन् अवरोधकम् इति अर्थः. **च** पुनः सृष्टिकाले लीलात्मक-रसदानात्मके **प्रभविष्णु** नानास्वरूपैः प्रभवनशीलम् ।।१७।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१८।।

किञ्च **ज्योतिषाम्** इति. **ज्योतिषां** रविचन्द्रादीनाम् अन्यप्रकाश-मानानामपि[१५] तदेव **ज्योतिः** प्रकाशकम् इति अर्थः. अत्र अयं भावः ''न तत्र सूर्यो भाति''(कठोप.५।१५) इत्यादिश्रुत्या तत्र एतेषाम् अभानम् उक्तं, तथाच तत्प्रकटनवैयर्थ्यं स्यात् तदर्थं तत्प्रकाशनेन तत्र शोभादिकारकम् इति अर्थः. अन्यथा अन्यत्र सर्वप्रकाशकत्वमपि न भवेद् (इति) तर्हि मुख्यतमोरूपं सर्वप्रकाश्यत्वेन भविष्यति इत्यतः आह **तमसः परम्** इति. तमसः मुख्यतमसोऽपि परम् उपरि उत्कृष्टं वा **उच्यते** श्रूयते इति अर्थः. अतएव श्रुतिरपि **''तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्''**(ऋक्सं.८।७।१७।३) इति आह. ननु स्वप्रकाश्यत्वे स्वस्यैव नानास्वरूपात्मके सर्वेषां कथं न तज्ज्ञानम्? इत्यतः आह **ज्ञानम्** इति. ज्ञानबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्त्यात्मकं च तदेव. तेन यत्र ज्ञापनेच्छा तत्रैव तद्रूपेण आविर्भवति इति अर्थः. तथैव **ज्ञेयं** ज्ञेयरूपेण आविर्भूतम् इति अर्थः. तथाऽपि पुरुषोत्तमगृहात्मकमेव इति आह **ज्ञानगम्यम्** इति. ज्ञाने ज्ञानेन पूर्वोक्तरूपेण गम्यं प्राप्यं तेन अक्षरात्मकत्वं ज्ञापितम्. ननु पूर्वं ज्ञानरूपत्वेन सर्वागम्यत्वम्

उक्तं तत्कथं ज्ञानगम्यम्? इति आह **हृदि** इति. सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि **धिष्ठितम्** अधिष्ठितम् इति अर्थ:. सर्वप्रेरकत्वेन स्थितं तेन यत्र तथेच्छा तत्र ज्ञानरूपेण आविर्भवति, यत्र न ज्ञापनेच्छा तत्र आच्छादकत्वेन भवति इति भाव:।।१८।।

उपसंहरति **इति** इति.

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासत:।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१९।।

इति अमुना प्रकारेण महाभूतानि(१३।६) इत्यादिना **क्षेत्रं** ''**अमानित्वं**'' (१३।८) इत्यादिना **ज्ञानं** ''**अनादिमत्परं ब्रह्म**''(१३।१३) इत्यादिना **ज्ञेयं** '**च**'कारेण सर्वम् अक्षरात्मकं **समासत:** सङ्क्षेपेण सौकर्यबोधार्थम् उक्तम्. यदर्थम् उक्तं तद् आह **मद्भक्त**: इति. एतदुक्तरूपं **विज्ञाय** विशेषेण मद्विभूत्यक्षरात्मकं ज्ञात्वा मद्भक्तो मद्भजनशील: सन् **मद्भावाय** भावात्मक–स्वरूपलाभाय **उपपद्यते** योग्य: समर्थो वा भवति इति अर्थ:।।१९।।

एवं पूर्वप्रतिज्ञातं ''**तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च**''(१३।४) इति निरूपितम्; स्वांशत्वेन तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंज्ञा[१६] कथम्? इति आशङ्क्य ''**यद्विकारि**''(१३।४) इत्यादिना पूर्वमेव प्रतिज्ञातम् उभयो: स्वरूपं निरूपयन्ति[१७] **प्रकृतिम्** इत्याद्यै: पञ्चभि: पद्यै:.

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।२०।।

प्रकृतिं सर्वजननसमर्थां[१८] व्यापकत्वादिधर्मयुतां भगवच्छक्तित्वाद् अनादिं[१९], **पुरुषं च** तद्रसभोक्तारं भोक्त्रंशरूपं भगवदंशत्वाद् **अनादिम्**[२०], एवम् **उभावपि अनादी विद्धि** जानीहि. अत्र अयं भाव: **:** पूर्वं ब्रह्मप्रकृतिपुरुषरूपेण विचित्ररसभोगार्थम् आविर्भूय तत: सर्वं कृतवान्, स्वांशानां जीवानां ज्ञापनार्थं तत्र मोहकस्वभाव–मायासम्बन्धाद् अन्यथा ज्ञानेन सम्बन्धो भवति, तदभावाय अनादिस्वभगवच्छक्तिभगवदंशादिज्ञानेन मोहो न भवेद् इति अर्थ:. एवं तौ अनादी

ज्ञात्वा **विकारान्** देहेन्द्रियादीन् सेवौपयिकान् **गुणान्** सुखदुःखमोहात्मकान् **प्रकृतिसम्भवानेव विद्धि**.

अत्र अयं भावः **:** कयाचिद् अवस्थया अवस्थित-स्वस्वरूपेण स्वरसानुभवार्थं देहादीन् सत्तात्मकान् शक्तितः प्रकटीकरोति, तथैव सङ्गम-सुखानुभवविरहदु:खानन्दानुभवासक्त्यात्मकानन्दमोहात्मकान् गुणानपि प्रकटयति, अतः तथा विद्धि. एवं ज्ञानप्रयोजनं च अग्रे स्फुटीभविष्यति।।२०।।

एतदेव विशदयन्ति[२१] **कार्य** इति.

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२१।।

कार्यस्य स्वरसानुभवात्मकस्य कारणानि देहगुणादीनि तेषां **कर्तृत्वे** प्रकटकरणे **हेतुः प्रकृतिः** पूर्वोक्तरूपा शक्तिः **उच्यते**. तथैव **पुरुषः सुखदुःखानां** सङ्गमविरहात्मकादीनां **भोक्तृत्वे** तद्रसज्ञत्वे **हेतुः** कारणम् उच्यते।।२१।।

ततः किम् अतः आह **पुरुषः** इति.

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२२।।

पुरुषः पुरुषरूपेण प्रकटो भगवान्, **प्रकृतिस्थः** स्वरसानुभव-स्थानास्थितः सन् **प्रकृतिजान्** पूर्वोक्तान्[२२] **गुणान् भुङ्क्ते** इतरसम्भोगं करोति इति अर्थः. ननु पुरुषरूपस्य भगवद्रूपत्वेन सदसद्योनिषु कथम् उत्पत्तिः? इत्यतः आह **कारणम्** इति. अस्य पुरुषस्य **सदसद्योनि**-देवतिर्यगादिरूप-**जन्मसु सङ्गः** विचित्रः गुणरसभोगेच्छा **कारणं** हेतुः इति अर्थः।।२२।।

एवं रसभोगेच्छां कारणत्वेन उक्त्वा तत्र देहादिषु प्रविष्टस्य स्वल्पांशस्य अविद्यात्मकजीवस्य भोगादिदर्शने पुरुषस्य कथं भोगः? कथं तेन जीवस्य संसारः? इति आशङ्कायां[२४] समाधत्ते **उपद्रष्टा** इति.

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।।२३।।

परः पुरुषः पुरुषोत्तमः **अस्मिन् देहे उपद्रष्टा** उप समीपे द्रष्टा साक्षी तथा **अनुमन्ता** अनुमोदिता **भर्त्ता** धारकः, **भोक्ता** रक्षकः **महेश्वरः** महान् च असौ ईश्वरश्च सः. तथैव **परमात्मा**. **'च'**कारेण प्राणजीवादि**रपि उक्त**ः इति अर्थः.

अयं भावः : देहादिकं सर्वं भगवति निवेद्य तद्दत्तप्रसादत्वेन सेवार्थोपयोगिभोगकर्तुः साक्षी मुख्यसेवायां तदुपयोगकारयिता. एवमेव कृतसमर्पणमोदे अनु पश्चाद् मोदिता. एवमेव भर्त्ता पतित्वेन धारकपोषकः इति अर्थः. तथैव भोक्तृत्वेन स्वीयत्वज्ञानेन रक्षकः. तथैव महेश्वरः कर्तॄणां ब्रह्मादीनामपि प्रभुः तेन तादृग्वस्तुकर्त्ता इति अर्थः. तथैव परमात्मा तादृग्धर्मवतो मित्ररूपः इति अर्थः।।२३।।

एवम् अनूद्य एवंविदः संसाराभावम् आह **यः एवम्** इति.

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२४।।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **यः पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह** भगवद्रूपं **वेत्ति** जानाति, ज्ञात्वा तथा **सर्वथा वर्तमानोऽपि** तथा आचरणशीलो यो भवति, **सः भूयो न अभिजायते** संसारे न उत्पन्नो भवति. किन्तु मुक्तएव भवति इति अर्थः।।२४।।

ननु एवं ज्ञानेनैव मुक्तिः चेत् तदा अन्यसाधनानाम् अप्रयोजकत्वं स्याद् इति आशङ्क्य अन्यसाधनस्वरूपम् आह **ध्यानेन** इति द्वयेन.

ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिद् आत्मानमात्मना।

अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२५।।

केचिद् ज्ञानिनः **ध्यानेन** स्वरूपपरिकल्पनेन आत्मनि हृदये[२५] आत्मना मनसा आत्मानम् आत्मस्वरूपं[२६] भगवन्तं **पश्यन्ति. अन्ये साङ्ख्येन** नित्यानित्य-वस्तुविवेकात्मकेन **योगेन** तथा **पश्यन्ति. अपरे कर्मयोगेन** कर्मसु

तदात्मक–प्राकट्यरूपयोगेन पश्यन्ति तद्रूपम्।।२५।।

अन्ये त्वेवम् अजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२६।।

अन्येतु मूर्खाः **अजानन्तः अन्येभ्यो** गुरुभ्यः **श्रुत्वा** विनैव अनुभवम् एवं पूर्वोक्तप्रकारैः **उपासते** उपासनां कुर्वन्ति, **तेऽपि च** सर्वे **मृत्युम् अतितरन्त्येव**; मुक्ताः भवन्ति इति अर्थः. कथम्? इत्यतः आह **श्रुतिपरायणाः** श्रुत्युक्त–प्रकारत्वात् श्रद्धया करणाद् इति अर्थः. अयम् अर्थः : स्ववाक्यसत्यत्वाय तानपि तारयामि निर्बन्धेन, नतु स्नेहेन इदमेव **एव**कारा**पि**शब्दाभ्यां व्यञ्जितम्।।२६।।

एतेषु पूर्वोक्तप्रकारेषु किम् उत्तमम्? अथ च कथं ज्ञेयम्? इत्यतः आह **यावद्** इति.

यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि भरतर्षभ।।२७।।

यावद् वस्तुमात्रं **स्थावरजङ्गमं** तत् क्षेत्र–क्षेत्रज्ञयोः पूर्वोक्तरूपयोः संयोगात्[२७] क्रीडार्थक–मत्संयोगात् **सत्त्वं** सत्त्वात्मकं **विद्धि** जानीहि. **भरतर्षभ** इति सम्बोधनं तदर्थज्ञानयोग्यत्वाय।।२७।।

एतदेव फलरूपत्वेन विशदयति **समम्** इति.

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२८।।

सर्वेषु प्रपञ्चान्तःपातिस्थावरजङ्गमात्मकेषु **भूतेषु** लीलया. अनेकविध–रसभोगार्थं **तिष्ठन्तं** रसानुभवार्थं नीचोच्चादि–धर्मरहितं **समं,** तेषु **विनश्यत्सु** च **अविनश्यन्तं** तादृग्लीलावबोधरहितत्वाद् विनाशं प्राप्तेषु अन्यथाभावेन क्रोधादिराहित्येन तथैव लीलानुभवं कुर्वन्तं **यः पश्यति सः** परमेश्वरं **पश्यति**. अतः एवंदर्शनाभावे सापराधो भवत्येव ।।२८।।

पश्यन् मुक्तो भवति इति आह **समम्** इति.

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्।।२९।।

सर्वत्र प्रापञ्चिकपदार्थमात्रे **समवस्थितं** सम्यक्प्रकारेण तथाभूतलीलार्थम् अवस्थितम् **ईश्वरं** सर्वसामर्थ्ययुक्तं **समं पश्यन्** आत्मना स्वलीलात्मरूपेण आत्मस्वरूपम् अविकृतम् आत्मानं हि निश्चयेन **न हिनस्ति** अन्यथा न प्राप्नोति, यथार्थरूपेण[२८] ज्ञात्वा प्रपद्यते. **ततः पराम्** उत्कृष्टां वैकुण्ठाख्यां **गतिं याति** प्राप्नोति[२९]. हि इति युक्तत्वम्; अन्यथाप्रपत्तेः निषिद्धत्वात्. अतएव ''**योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा**'' (महाभा.१।७४।२७) इति सम्पठ्यते।।२९।।

ननु सर्वरूपेण यदि सर्वत्र सएव अस्ति, तदा कथं न सर्वे तथा पश्यन्ति? इति आशङ्क्य आह **प्रकृत्यैव** इति.

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानम् अकर्त्तारं स पश्यति।।३०।।

प्रकृत्या लीलापयोगीन्येव **क्रियमाणानि कर्माणि यः पश्यति**, चकारेण कार्यमाणानि **तथा आत्मानं** जीवम् **अकर्तारं** तदिच्छाभावे सर्वकरणाशक्तं **यः पश्यति सः पश्यति**;[२९] परमेश्वरम् इति शेषः. अथवा सएव पश्यति अन्येतु अन्धाएव इति भावः।।३०।।

एवमेव सर्वेषां लये सूक्ष्मत्वम् उत्पत्तौ विस्तरं च यदा ब्रह्मणः सकाशादेव तद्रूपं पश्यति तदा ब्रह्मत्वम् आप्नोति इति आह **यदा** इति.

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।३१।।

यदा भूतानां स्थावर-जङ्गमानां **पृथग्भावं** ब्रह्मणो भेदं विचित्रानेकरूपात्मकम् **एकस्थं** संहारेच्छात्मक-रमणात्मक-ब्रह्मस्वरूपस्थं प्रलये **अनुपश्यति**, **च** पुनः **ततएव** प्रपञ्चरमणेच्छुब्रह्मणएव सृष्टिसमये **विस्तारम्** अनुपश्यति, तदा **ब्रह्म सम्पद्यते** ब्रह्मत्वम् आप्नोति इति अर्थः।।३१।।

ननु यथा ब्रह्मांशस्यापिजीवस्य[३१] देहसम्बन्धात् कर्मलेपः तेनैव अज्ञानं तन्नाशश्च प्रेरकात्मसम्बन्धात् तस्यैव जीवसम्बन्धालेपे सति कथं समदर्शनम्? इति आशङ्क्य आह **अनादित्वाद्** इति.

अनादित्वात् निर्गुणत्वात् परमात्माऽयमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३२।।

यस्यैव उत्पत्तिः तस्यैव अन्यसम्बन्धेन नाशः. सच अनादिः नतु आविद्यकजीवभाववद् उत्पत्तिः अतएव तत्सम्बन्धाभावार्थं साक्षित्वं पूर्वं निरूपितम्. तस्माद् गुणसम्बन्धिनएव तन्नाशे नाशः सच निर्गुणः तस्माद् अयं **परमात्मा अव्ययः** परसम्बन्धादिनाशशून्यः. अतः **शरीरस्थोऽपि** कर्माणि **न करोति,** अतएव **न लिप्यते**।।३२।।

एतदर्थं दृष्टान्तम् आह **यथा** इति.

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद् आकाशं नोपलिप्यते।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते।।३३।।

यथा सर्वगतं सर्वत्र जडजीवान्तर्गतम् **आकाशं सौक्ष्म्यात्** स्वरूपाभावात् सङ्गरहितं तेन सह **न उपलिप्यते तथा** सर्वत्र [३२]उच्चनीचादि-देहावस्थितोऽपि **आत्मा न लिप्यते**।।३३।।

ननु अलेपे देहादिगुणप्रकाशकत्वं कथम्? इति आशङ्क्य आह **यथा** इति.

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३४।।

यथैको रविः मदंशात्मकत्वात् **कृत्स्नं** सम्पूर्णम् **इमं लोकं प्रकाशयति तथा** मदंशकत्वादेव **क्षेत्री क्षेत्रं कृत्स्नं** सम्पूर्णं **प्रकाशयति**. रवेः लोचनात्मकत्वात् तद्दृष्टान्ते मत्कृपादृष्ट्या क्रीडोपयोग्यत्वाय आत्मापि क्षेत्रं प्रकाशयति इति ज्ञापितम्. **भारत!** इति सम्बोधनेन सैन्यमध्ये स्थितो मदंशत्वात् तद्दोषैः त्वं यथा न लिप्यसे इति ज्ञापितम्।।३४।।

उपसंहरति **क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयो**ः इति.

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम् अन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३५।।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयो**ः **अन्तरं** भेदं लौकिकसृष्टितः **ज्ञानचक्षुषा** आलोचनदृष्ट्या[३३] **ये विदुः, च** पुनः भूतानां सम्बन्धिनी या **प्रकृतिः** संसारोपयोगिनी ततो मोक्षसाधनं ध्यानाद्यात्मकं **ये विदु**ः **ते परं** मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्ति इति अर्थः।।३५।।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवं रूपमुक्त्वेश्वरः स्वयम्।
मोहं निवारयामास फाल्गुनस्य नमामि तम्।।

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां टीकायां त्रयोदशो अध्यायः

पाठभेदाः

*अयं श्लोकः अर्थसङ्ग्रहप्रणेतृभिः राघवेन्द्रयतिभिश्च व्याख्यातः, श्रीशङ्कराचार्यादिभाष्यकारैः इतरैः टीकाकर्तृभिश्च उपेक्षितो अतः केचन इमं प्रक्षिप्तं मन्यन्ते.

१. 'सर्वम्' इति मुद्रितपाठः.
२. ''दृश्यमानं मरणादिधर्मयुक्तम्'' इति मुद्रितपाठः.
३. ''...स्थानं वा अभिधीयते''इति मां.पाठः.
४. 'लीलार्थत्वेन' इति मुद्रितपाठः.
५. 'मत्क्रीडा-र्थं-प्रकृतिपुरुषसंयोगजम् -य-त्स्थावर जङ्गम-पशु-पक्ष्यादिविचित्ररूपम्. स च क्षेत्र-ज्ञं यः-स्वरूपतो'' इति मां.पाठः.
६. 'अन्योक्तभ्रमा...' इति मुद्रितपाठः.
७. ''ब्रह्मसूत्र्यते एभिरिति'' इति मुद्रितपाठः.
८. '...प्रमोद..' इति मां.पाठः.
९. 'इन्द्रिभोग्येषु' इति मां.पाठः.
१०. ''अज्ञानं, तद्वानज्ञानी इति अर्थः'' इति मां.पाठः.
११. 'भवति' इति मुद्रितपाठः.
१२. 'क्रियाशक्तिः' इति मुद्रितपाठः.
१३. ''सर्वमुख्यत्वं ज्ञापितम्''इति मुद्रितपाठः.

१४.‘‘अतितापेन दूरस्थं तच्च’’ इति मां.पाठः.
१५.‘अन्यप्रकाशकानामपि’ इति मां.पाठः.
१६. ‘‘तत्र क्षेत्रज्ञः संज्ञा’’ इति मां.पाठः.
१७. ‘निरूपयति’ इति मुद्रितपाठः.
१८. ‘‘सर्वजननसमर्थां व्यापकत्वादिधर्मयुता’’ इति मां.पाठः.
१९. ‘अनादिः’ इति मां.पाठः.
२०. ‘‘भगवदंशत्वाद् अनादिष्ट एवम्’’ इति मां.पाठः.
२१. ‘विशदयति’ इति मुद्रितपाठः.
२२. ‘‘प्रकृतिजान् गुणान्’’ इति मुद्रितपाठः.
२३. ‘‘ननु पुरुषरूपस्य **सदसद्योनि**-देवतिर्यगादिरूप-**जन्मसु** गुणरसभोगेच्छा **कारणं** हेतुः इति अर्थः’’ इति मुद्रितपाठः.
२४. ‘‘इत्याशङ्क्य स समादधते’’ इति मां.पाठः.
२५.‘‘ध्यानेन परिकल्पनेन आत्महृदये’’ इति मुद्रितपाठः.
२६. ‘आत्मरूपम्’ इति मुद्रितपाठः.
२७. .‘पूर्वोक्तस्वरूपयोगात्’ इति मुद्रितपाठः.
२८. ‘याथार्थ्य-रूपेण’ इति मां.पाठः.
२९. ‘‘गतिं याति. हीति युक्तत्वम्’’ इति मुद्रितपाठः.
३०. ‘‘पश्यति नात्मः पश्यति; परमेश्वरम्’’ इति मां.पाठः.
३१. ‘‘ब्रह्मांशस्यादिजीवस्य’’ इति मुद्रितपाठः.
३२. ‘उच्चनीचोपि’ इति मुद्रितपाठः.
३३. ‘‘ज्ञानचक्षुषा ये विदुः’’ इति मुद्रितपाठः.

V

गुणत्रयविभागयोगाख्यः चतुर्दशोऽध्यायः।

कृष्णः स्वगुणसम्बन्धात् प्रपञ्चस्य विचित्रताम्।
बोधनार्थं पाण्डवाय वर्णयामास विस्तरात्।।१।।

अथ स्वक्रीडार्थं विरचितं सत्त्वादिगुणसङ्गजप्रपञ्चवैचित्र्यस्वरूपेण फलात्मकं निरूप्य वर्णयति, तत्र श्लोकद्वयेन फलरूपस्वरूपम् आह **परम्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

परं भगवत्सम्बन्धिफलात्मकं ज्ञानं ज्ञेयसाधनं तेन **भूयः** पूर्वम् उक्तं साधारण्येन, पुनः प्रकर्षेण ससाधनं **वक्ष्यामि** कथयामि इति अर्थः. भूयः प्रकर्षकथने विशेषणेन विशेषयति. कीदृशं तद्? **ज्ञानानां** पूर्वोक्तज्ञेयसाधनानां मध्ये **उत्तमं** मुख्यम् इति अर्थः. एवं कथनं प्रतिज्ञाय फलरूपत्वम् आह **यद्** इति. यद् ज्ञानं **ज्ञात्वा मुनयो** मननशीलाः तदभ्यसनपराः **सर्वे परां सिद्धिम्** अनुभवात्मिकाम् **इतः** लौकिकदेहाद् **गताः** प्राप्ताः. **'सर्वे'** इतिपदेन येषां सिद्धिः जाता तेषाम् अनेनैव इति ज्ञापितम्. ज्ञानानाम् उत्तमम् अनेन विशेषणेन ज्ञानेष्वेव उत्तमत्वं, नतु भक्तितः इति व्यञ्जितम्।।१।।

ज्ञानेन कथं सिद्धिं प्राप्ताः? इत्यतः आह **इदम्** इति.

इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

इदं वक्ष्यमाणं **ज्ञानम् उपाश्रित्य** साधनानुष्ठानं कृत्वा **मम साधर्म्यं** समानधर्मत्वं लीलायोग्यत्वम् **आगताः** सन्तः **सर्गेऽपि** आदिसर्गे ब्रह्मादिसृष्टावपि **न उपजायन्ते**. **च** पुनः **प्रलये** सृष्टिसंहारे **न व्यथन्ति** न पुनरावर्तन्ते इति अर्थः।।२।।

एवं फलरूपताम् उक्त्वा तदेव प्रपञ्चयति **मम** इति.

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

महद् देशकालाद्यपरिच्छिन्नं **ब्रह्म** बृहत्त्वाद् बृंहणत्वेन मल्लीलार्थ-वस्तुवृद्धिहेतुत्वाद् ब्रह्म प्रकृतिः **मम** पुरुषोत्तमस्य **योनिः** क्रीडार्थविचित्रानेक-वस्तुरूपप्रकटनात्मकगर्भाधानस्थानम्. **तस्मिन् गर्भं** क्रीडेच्छात्मकभावं **दधामि** स्थापयामि. **ततो** गर्भाधानानन्तरं **सर्वभूतानां सम्भवः** उत्पत्तिः **भवति. भारत** इति सम्बोधनं विश्वासार्थम्।।३।।

ननु अनेकविधवस्तूनाम् अनेकयोनिषु[१] नानाविधप्रतीतौ कथम् एकयोनित्वम्? इत्यतः आह **सर्वयोनिषु** इति.

सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

पूर्वन्तु सर्वोत्पत्तिरूपसर्वयोन्युत्पत्तिः ततः **सर्वयोनिषु हे कौन्तेय** याः **मूर्तयः** स्वरूपाणि **सम्भवन्ति, तासां महद्ब्रह्म** प्रकृति**योनिः** उत्पत्तिस्थानं मातृस्थानीयं[२] **बीजप्रदः** इच्छाज्ञानात्मकबीजप्रदः **पिता** उत्पादकः **अहमे**व इति अर्थः. तदेव ब्रह्म मदिच्छया नानायोनिरूपेण भूत्वा भासते इति अर्थः।।४।।

ननु लीलात्मक-प्रकृत्युत्पादित[३]-लीलार्थदेहादिषु स्थितस्य बीजस्य बन्धः कथम्? इति अतः आह **सत्त्वम्** इति.

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

सत्त्वं रजः तमः इति सञ्ज्ञकाः **गुणाः प्रकृतिसम्भवाः** प्रकृतितः सम्भवः उत्पत्तिः येषां तादृशाः ते **अव्ययं** विनाशादिधर्मरहितं भगवतः चिदंशात्मकं **देहिनं** जीवं तद्रूपेण तद्द्वारा गुणभोगार्थम् आविर्भूतं **निबध्नन्ति** वशीकुर्वन्ति रसपरत्वाद् इति अर्थः।।५।।

अथ त्रयाणां बन्धनरीतिं सलक्षणाम् आह **तत्र** इति.

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

तत्र गुणत्रये **सत्त्वं निर्मलत्वाद्** भगवदिच्छात्मकपदार्थस्थितिहेतुत्वेन शुद्धत्वात् **प्रकाशकं** भगवद्रमणात्मकसर्वस्वरूपप्रकटीकरणसमर्थम्; **अनामयं** भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्मकरागादिदोषरहितम्, अतः **सुखसङ्गेन** भगवतः साधनात्मकसेवनसुखजनकदेहाद्युत्तमत्वसङ्गेन **बध्नाति. च** पुनः **ज्ञानसङ्गेन** ज्ञानोत्पत्तिसाधकत्वेन बध्नाति. **अनघ!** इति सम्बोधनेन मत्कृपाविशिष्टत्वात् तव बन्धाभावः इति ज्ञापितम्।।६।।

सत्त्वलक्षणम् उक्त्वा रजोलक्षणम् आह रजो **रागात्मकम्** इति.

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

रजः रजोगुणं **रागात्मकम्** अनुरञ्जनात्मकं नानापदार्थोत्पादनेन भगवद्रञ्जनात्मकं **विद्धि**. तत् **तृष्णासङ्गसमुद्भवं** तृष्णा भगवदर्थोत्पन्न-वस्तुमात्राज्ञानेन स्वाभिलाषः तत्सङ्गेन समुद्भवः उत्पत्तिः यस्य तादृशं देहिनं नतु भगवदर्थकज्ञानात्मकम्. **कर्मसङ्गेन** तत्स्वाभिलषितप्राप्त्यर्थं क्रियासङ्गेन **बध्नाति** लौकिकासक्तिं जनयति इति अर्थः।।७।।

तमसो लक्षणं सम्बन्धकम् आह **तमस्तु** इति.

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निबध्नाति भारत!।।८।।

तमः पूर्वोक्तभगवल्लीलाद्यज्ञानाद् जातं प्रलयात्मकत्वाद् भगवद्-विस्मारणात्मकं **सर्वदेहिनां मोहनं** भ्रमजनकं **विद्धि. प्रमादालस्यनिद्राभिः** भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्मकत्रयरूपाभिः अन्यथाज्ञानेन [४] तत् **तमः तं बध्नाति. प्रमादो** भगवदनवधानता. **आलस्यं** भगवत्सेवानुद्यमः. **निद्रा** चित्तस्य ज्ञाननाशः।।८।।

एवं सत्त्वादीनां स्वरूपम् उक्त्वा तेषां स्वकार्यकरणातिशयत्वम् आह

सत्त्वम् इति.

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत!।

ज्ञानम् आवृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।९।।

सत्त्वं सत्त्वगुणः **सुखे** भगवज्ज्ञानात्मके **सञ्जयति** संयोजयति. एवमेव **रजः कर्मणि** पूर्वोक्ते संयोजयति. तथा **तमो** भगवदीयसङ्गादिना जायमानं **ज्ञानं** निद्राऽऽलस्याद्यैः **आवृत्य प्रमादे** अनवधानतायां संयोजयति. यद्वा सुखे उत्पादिते सत्त्वं सञ्जयति सर्वोत्कर्षेण तिष्ठति, तथैव कर्मणि रजः प्रमादे तमः.

अत्र अयं भावः **:** भगवता त्रयोऽपि गुणाः एतद्वैचित्र्यार्थमेव उत्पादिताः तेषां तत्कृतकार्यदर्शनेन सन्तुष्यति प्रभुः तेनैव तदुत्कर्षः सिद्ध्यतीति।।९।।

ननु सुखदुःखाद्यदृष्टसाधनत्वे सति स्वकार्यकरणम् अन्यथाभावकत्वं[५] कथम्? इति आशङ्क्य तेषां तथा सामर्थ्यं मया दत्तम् अस्तीति ज्ञापनाय सिद्धवत्कारेण अनुवदति **रजः तमः** इति.

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत!।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

रजः तमः दुःखाज्ञानात्मकगुणद्वयम् **अभिभूय** तिरस्कृत्य **सत्त्वं भवति** इति अर्थः. **भारत!** इति सम्बोधनेन यथा मदिच्छया सर्वपराभवेन त्वं जयसि तथेति अर्थो द्योतितः. एवं **रजो**ऽपि **सत्त्वं तमश्च** इति गुणद्वयाभिभवेन **भवति**. **'एव'**कारेण तमसो मोहकसामर्थ्याधिक्येऽपि तथाकर्तृत्वं व्यज्यते. तथा **तमः सत्त्वं रजश्च अभिभूय** भवति इति अर्थः।।१०।।

ननु तदभिभवेन तत्तदुत्पत्तिः कथं न ज्ञातव्याः? इत्यतः आह **सर्वद्वारेषु** इति.

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वम् इत्युत।।११।।

अस्मिन् देहे साधनात्मके **सर्वद्वारेषु** श्रोत्रादिषु यदा भगवत्सम्बन्धित्वेन **प्रकाशो** दर्शनम् **उपजायते**. अथवा **ज्ञानं तदा सत्त्वं विवृद्धं** विशेषेण भगवत्सम्बन्धित्वेन विवृद्धं **विद्यात्**.

अयम् अर्थः : श्रोत्रद्वारेण भगवत्कथाश्रवणात्मकः वचनद्वारेण च कीर्तनात्मकः प्रसादग्रहणात्मकः नासाद्वारेण च गन्धादिग्रहणम्. एवं सर्वत्र इति भावः।।११।।

एवं सत्त्वज्ञानम् उक्त्वा रजोज्ञानरूपम् आह **लोभ**ः इति.

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणाम् अशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

लोभो भगवत्सेवार्थं स्वेच्छया दत्ताप्तव्यवहारयोग्यद्रव्ये सत्यपि लौकिकासक्त्या पुनः द्रव्येच्छया इतस्ततो मनोधावनेन तद्यत्नादिकरणे **प्रवृत्तिः** क्रियाकरणम्. **आरम्भः कर्मणां** लौकिक-स्वोपभोग्य-वस्तुकरणम्, **अशमः** अशान्तिः प्रातः इदं कर्त्तव्यम् अद्य इदं कृतम् इत्यादिविचारेण चित्तोद्वेगः **स्पृहा** स्वायोग्यवस्तुन्यपि इच्छा **रजसि** विवृद्धे **एतानि जायन्ते,** एतदुत्पतौ रजोविवृद्धिं विद्याद् इति अर्थः. **भरतर्षभ!** इति सम्बोधनं राज्याद्यर्थस्पृहाभावेन एतद्दोषराहित्याय।।१२।।

तमसो ज्ञानाय आह **अप्रकाश**ः इति.

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अप्रकाशः चित्ताप्रसादः. **अप्रवृत्तिः** भगवत्सेवनभगवदीय-सङ्गाद्यनुद्यमः **प्रमादो** भगवद्भजनानुसन्धानम्. **मोहः** संसारासक्तिः. **हे कुरुनन्दन तमसि** विवृद्धे सति **एतानि जायन्ते**।।१३।।

एवं विवृद्धौ सत्यां मरणान्तं तेन यान्ति अतः तत्सम्बन्धिदेहाप्तिः भवति इति आह **यदा** इतिद्वयेन[६].

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदान् लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते।।१४।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।

तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

सत्त्वे प्रवृद्धे तुशब्दो अन्यव्यवच्छेदकः **यदा देहभृद्** जीवः **प्रलयं याति** मृत्युम् अवाप्नोति **तदा उत्तमविदान्** उत्तमैः ज्ञानिभिः ये ज्ञातुं योग्याः तान् **लोकान् अमलान्** वैष्णव–ब्राह्मणादीन् **प्रतिपद्यते** प्राप्नोति इति अर्थः।।१४।।

किञ्च एवमेव **रजसि** प्रवृद्धे **प्रलयं गत्वा** मृत्युम् अवाप्य **कर्मसङ्गिषु** कर्मासक्तेषु तेषु नरेषु पुनः तदाचरणेन तत्फलभोगार्थं **जायते**. **तथा तमसि** प्रवृद्धे **प्रलीनो** मृतो **मूढयोनिषु** आसुरेषु **जायते**।।१५।।

तथाजातानां किं फलम्? इति अतः आह **कर्मणः** इति.

कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।

रजसस्तु फलं दुःखम् अज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

सुकृतस्य सुष्ठु भगवदाज्ञया भगवत्तोषहेतुत्वेन कृतस्य सात्त्विकस्य **कर्मणः सात्त्विकं** विष्णुप्रसादात्मकं **निर्मलं** दोषरहितं **फलम्** आहुः व्यासकपिलादयः इति अर्थः. **तु** पुनः **रजसो** राजसकर्मणो **दुःखं** संसारात्मकं **फलम्** आहुः. तथा **तमसः**[७] तामसः कर्मणो **अज्ञानं** भगवद्वैमुख्यात्मकं **फलम्** आहुः. कर्मस्वरूपं च अग्रे अष्टादशे (श्लो. २३।२५) वक्ष्यति।।१६।।

ननु स्वरूपज्ञानाभावे कथं तादृक्कर्मकरणं सम्भवति? इत्यतः आह **सत्त्वाद्** इति.

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्त्वाद् ज्ञानं सञ्जायते, तादृक्स्वभावविशिष्टस्यैव प्रकटनात्[८]. तथा **रजसो** रजोगुणाद् **लोभः** पापमूलको भवतीति. तस्य च दुःखात्मकत्वात् तदेव भवति. **तमसः** तामसगुणात् **प्रमादमोहौ भवतः**. ततः ताभ्यां **च अज्ञानमेव** भवति इति अर्थः।।१७।।

अथ तेषां फलं तद्रूपं च आह **ऊर्ध्वम्** इति.

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

सत्त्वस्थाः सात्त्विक-कर्मनिरताः **ऊर्ध्वं** सत्यादिलोकं **गच्छन्ति**. **राजसा**ः राजसकर्मनिरताः **मध्ये** मनुष्यलोके दुःखावृते राज्यादिसुखफले **तिष्ठन्ति**. **जघन्यगुण**ः तामसः [९]तद्**वृत्तिस्था**ः तत्कर्मसु वर्तमानाः **तामसा**ः **अधो** नरकादिनीचयोनिषु **गच्छन्ति**।।१८।।

एवं स्वेच्छया स्वक्रीडार्थोत्पादित-गुणादिरूपम् उक्त्वा [१०]तत्कृतोच्च-मध्यनीचादिधर्मेषु उच्चत्वादि-बुद्धिरहितो मत्क्रीडाज्ञानवान् तत्सङ्गरहितो यः सः मद्भक्तिम् आप्नोति इति एतदर्थम् एतन्निरूपितम् इति आह **न अन्यम्** इति.

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

यदा मत्कृपाविशिष्टकाले **द्रष्टा** विवेकवान् **गुणेभ्यः** स्वक्रीडार्थप्रकट-रूपेभ्यः कृत्वा **कर्त्तारं** सर्वमूलभूतम् **अनुपश्यति** न अन्यम् **च** पुनः **गुणेभ्यो** विचित्ररूपेभ्यः **परं** पुरुषोत्तमं **वेत्ति; सः मद्भावं** मद्भक्तिम् **अधिगच्छति** प्राप्नोति इति अर्थः.

अत्र अयं भावः **:** गुणकृतनानावैचित्र्यदर्शनेन पुरुषोत्तममाहात्म्यज्ञानेन सर्वत्र तद्वैचित्र्यं पश्यन्तं तत्कर्तारं तद्रूपेण आविर्भूतम् अनु तद्वदेव यथा भगवान् स्वात्मकमेव पश्यति तथा पश्यति, न अन्यं कञ्चन पश्यति सः मद्भावं प्राप्नोति।।१९।।

ततो मद्भावयुक्तो गुणदोषाभिभूतो न भवति इति आह **गुणान् एतान्** इति.

गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तोऽमृतमश्नुते।।२०।।

देही जीवो **देहसमुद्भवान्** देहानां समुद्भवः उत्पत्तिः येभ्यः तादृशान् **एतान्** लौकिकान् नतु अलौकिकान् **त्रीन् गुणान् अतीत्य** अतिक्रम्य **जन्म**

तत्कर्मभोगार्थकं **मृत्युः** तद्भोगसमाप्तिरूपो भगवद्विस्मरणरूपो वा, **जरा** सेवाप्रतिबन्धरूपा, **दुःखं** संसारात्मकम्, एतैः **विमुक्तः अमृतं** मरणादि-दोषरहितम् लौकिकं देहम् **अश्नुते** भुङ्क्ते प्राप्नोति इति अर्थः. अथवा अमृतम् अलौकिकं देहं प्राप्य मया सह सर्वकामान् अश्नुते ''**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह**''(तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तरीत्या '**देही**'इतिपदाद् इदं व्यज्यते; अन्यथा देहवत्पदं व्यर्थं स्याद् इति भावः।।२०।।

एवम् एतान् त्रीन् गुणान् इति भगवता उक्तं, तेन अन्येऽपि गुणाः सन्ति, यैः एतदतिक्रमो भवतीति विचार्य अर्जुनः तथैव विज्ञापयति **कैः लिङ्गैः** इति.

अर्जुनः उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणान् एतान् अतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते।।२१।।

हे प्रभो सर्वकरणसमर्थ **कैः लिङ्गैः** चिह्नैः **एतान्** बन्धनात्मकान् **त्रीन् गुणान् अतीतो भवति** अतिक्रमं कृत्वा अलौकिकदेहवान् भवति इति अर्थः. ततो देहाप्त्यनन्तरं **किमाचारः** कीदृग् आचारवान्? **च** पुनः **एतान् त्रीन् गुणान्** अतीत्य **कथं** केन उपायेन **वर्त्तते**? तं कथय इति अर्थः।।२१।।

अत्र उत्तरं मद्गुणैरेव सर्वं भवतीति ज्ञापनाय गुणसङ्ख्याकैः श्लोकैः आह भगवान् **प्रकाशं च** इति.

श्रीभगवान् उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।

प्रकाशं सर्वद्वारेषु अलौकिकानुभवसिद्ध्यर्थं मदीयाऽलौकिक-मत्स्वरूपात्मक-सत्त्वोपस्थापिताऽलौकिकानुकरणात्मक-लौकिकरूपम्. इदमेव **च**कारेण व्यञ्जितम्. **च** पुनः तथैव **प्रवृत्तिं, च**स्त्वर्थे. तथाच महदनुभवरससिद्ध्यर्थं विप्रयोगलयात्मकरूपं **मोहमेव** केवलं मोहं वा, एतादृक्श्रवणेऽपि भयाभावाय **हे पाण्डव! न द्वेष्टि** मदिच्छागतान् अलौकिकान्

लौकिकस्वरूपान्[१०]. किञ्च एवं सात्त्विकादित्रयाण्येव कार्याणि **सम्प्रवृत्तानि** मदिच्छया प्राप्नोति[११]. अतएव स्वतः प्रवृत्तिः उक्ता. स्वेच्छात्वज्ञापनाय लौकिकत्वेन प्रतिबन्धकतया न द्वेष्टि तत्त्यागाय यत्नं न करोति. तथैव मदिच्छाभावे **निवृत्तानि न काङ्क्षति**; सः गुणातीतः उच्यते इति चतुर्थश्लोकेन अन्वयः।।२२।।

उदासीनवद् आसीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

एवं लिङ्गोत्तरम् उक्त्वा आचारोत्तरम् आह **उदासीन**ः इति. **उदासीनवत्** सुखदुःखप्राप्त्यभावराहित्येन मत्कृतिं साक्षिरूपेण पश्यन् **आसीनो गुणै**ः लौकिकैः मत्कृतिं पश्यन् आत्मस्वरूपाद् **न विचाल्यते**. किञ्च **गुणाः** भगवदात्मकाः गुणेषु स्वकार्येषु **वर्तन्ते** स्वतएव भगवदिच्छया इत्येवं प्रकारेणैव **अवतिष्ठति, न इङ्गते** न चलति पूर्वरूपात्।।२३।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

किञ्च **समदुःखसुखः** समे दुःखसुखे विप्रयोग-संयोगात्मके लौकिकालौकिकदेहरूपे वा यस्य सः. **स्वस्थः** मत्स्वरूपे स्थितः. अतएव **समलोष्टाश्मकाञ्चनः** समानि लोष्टाश्म-काञ्चनानि यस्य, सर्वस्य भगवदात्मकत्वात् तादृशः. **तुल्यप्रियाप्रियः** तुल्ये प्रियाप्रिये संयोग-वियोगात्मके यस्य सः. भगवदिच्छायाएव मुख्यत्वाद् उभयोः तुल्यत्वम्. **धीरः** विप्रयोगादि-तीक्ष्णदुःख-सहनशीलः. **तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः** तुल्या निन्दा आत्मसंस्तुतिश्च यस्य. अयं भावः दुष्टकृता निन्दाऽपि भक्तत्वेन स्तुतिप्रायैव।।२४।

मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

किञ्च **मानापमानयो**ः **तुल्य**ः भगवत्कृत-मानापमानयोः स्वीयत्वेन

कृतत्वात् तुल्यः. **तुल्यो मित्रारिपक्षयोः** भगवदीयेन तदीयत्वेन[१२] मित्रपक्षे कृते तुल्यः भगवदीयभावेन, अरिपक्षे आसुरैः भगवदीयत्वेन विचारिते भगवदीयत्वेन तथा विचारयन्तीति तेषाम् उचितमेवेति तद्दोषाविचारकत्वात् तुल्यः. **सर्वारम्भ–परित्यागी** सर्वेषां पदार्थानाम् आरम्भानां दृष्टप्रत्ययानां परित्यजनशीलवान्. एवम् आचारवान् यः **सः गुणातीतः उच्यते**, कथ्यते इति अर्थः।।२५।।

कथं गुणान् अतिवर्त्तते? इत्यत्र उत्तरम् आह **मां च** इति.

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

मां मदर्थे **अव्यभिचारेण** अनन्यात्मकेन **भक्तियोगेन यः सेवते सः एतान् गुणान् समतीत्य** सम्यग् अतिक्रम्य **ब्रह्मभूयाय** ब्रह्मभावाय **कल्पते** समर्थो भवति।।२६।।

'ब्रह्म'शब्दस्य अक्षरवाचकत्वे तद्भावे धर्मात्मकभावएव भविष्यति, न मुख्यभावः इत्यतः आह **ब्रह्मणः** इति.

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम् अमृतस्याव्ययस्य च।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

हि इति निश्चयेन यस्माद् हेतोः **ब्रह्मणः** अक्षरात्मकस्यापि **प्रतिष्ठा** स्थितिरूपो **अहमेव अमृतस्य** मोक्षस्य **अव्ययस्य** नित्यात्मकवैकुण्ठस्यापि **शाश्वतस्य** नित्यरूपस्य शास्त्रीयभक्त्यादिरूपस्य **धर्मस्य** च. **च** पुनः. तथा **ऐकान्तिकस्य** रक्षात्मकस्य भावादिरूपस्य **सुखस्य** अहं प्रतिष्ठा, मूलम् इति अर्थः. अतः एवम् एतैः उत्पन्नो भावो मदात्मकएव इति भावः।।२७।।

एवं चतुर्दशेऽध्याये गुणानां स्वस्वरूपताम्।
द्विरूपतां च क्रीडार्थं प्रोक्तवानर्जुनं हरिः।।

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां चतुर्दशो अध्यायः

पाठभेदाः

१. ‘‘ नन्वेकविध...’’ इति मां.पाठः.

२. ‘मातृस्थानीया’ इति मां.पाठः.

३. ‘ प्रकृ-त्योत्पादित’ इति मां.पाठः.

४. ‘‘अन्यथाज्ञानेन तम् बध्नाति’’ इति मुद्रितपाठः.

५. ‘अन्या-भि-भावकत्वम्’ इति मां.पाठः.

६. ‘यदेति पद्येन’ इति मुद्रितपाठः.

७. ‘तमसः कर्मणो’’ इति मुद्रितपाठः.

८. ‘तत्प्रकटनात्’ इति मां.पाठः.

९. ‘जघन्यगुण-तामस-तद्वृत्तिस्थाः तत्कर्मसु’ इति मुद्रितपाठः.

१०. ‘लौकिकसरूपान्’ इति मुद्रितपाठः.

११. ‘मदिच्छयाऽऽप्राप्तानि’ इति मां.पाठः.

१२. ‘तदीयेन’ इति मां.पाठः.

V

पुरुषोत्तमयोगाख्यः पञ्चदशोऽध्यायः

स्वरूपज्ञानरहिता भक्तिर्नैवोपयुज्यते।
पुरुषोत्तमरूपं तु ततः पञ्चदशेऽवदत्।।१।।
परीतः पार्थकृपया श्रीकृष्णः करुणानिधिः।
उद्दिधीर्षुश्च तद्द्वारा लोकं भक्तिप्रवर्तितम्।।२।।

पूर्वाऽध्याये **''मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते''** (१४।२६) इत्यनेन अनन्यभजनम् उक्तम्; तत्सिद्ध्यर्थं स्वपुरुषोत्तमस्वरूपं सपरिकरं वदिष्यन् सार्धश्लोकद्वयेन तदङ्गत्यागज्ञापनाय[१] स्वलीलात्मक-संसारवृक्षाद् भिन्नं संसारस्वरूपं वृक्षरूपेण आह **ऊर्ध्वमूलम्** इत्यादिना.

श्रीभगवान् उवाच

ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

ऊर्ध्वः पुरुषोत्तमो **मूलं** यस्य, स्वक्रीडार्थं प्रकटितत्वात्. **अधः** जीवादयः सेवार्थोत्पादिताः **शाखा** यस्य तम्. **अव्ययं** लीलार्थकत्वाद् नित्यं स्थास्यति, दुर्लभत्वाद् जीवदर्शनयोग्यम्, अतो व्यासादयो **अश्वत्थं प्राहुः**. **यस्य पर्णानि** पत्राणि छायोपयोग्यानि तापापहानि. भगवत्स्वरूपभगवद्भजनादिप्रतिपादकत्वेन **छन्दांसि** वेदाः. **यः** इति दुर्लभाधिकारित्वम्. **वेद** वेत्ति जानाति **सः वेदवित्**, वेदार्थज्ञानवान् इति अर्थः।।१।।

एवं क्रीडात्मकं वृक्षं निरूप्य ततएव संसारात्मक-वृक्षोत्पत्तिम् आह **अधः च ऊर्ध्वम्** इति.

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

तस्य अलौकिकवृक्षस्य **अधः** विविधजीवादिषु **ऊर्ध्वं** लीलावतारादिषु **शाखाः प्रसृताः** अनेकरूपेण विस्तारं गताः. **'च'**कारेण अधः प्रसृतानामपि दर्शनानन्दप्रकारेण लीलौपयिकता ज्ञापिता. किञ्च **गुणैः** सात्त्विकादिभिः सेचनेनैव

प्रकर्षेण **वृद्धाः** वृद्धिं गताः. किञ्च विषयाः रूपादयः[१] **प्रवालाः** पल्लवस्थानीया जाताः. किञ्च तासां शाखानां लौकिकानुबन्धार्थं अधः जीवादिषु मूलानि अनुसन्ततानि प्ररूढानि. प्रयोजनम् आह **मनुष्यलोके** कर्म अनुबन्धः पश्चाद्भवनं येषां तदर्थं तादृशानि, मनुष्यलोकोत्पन्नानां कर्मप्रवृत्त्या सृष्ट्याद्यर्थम्।।२।।

ननु कथं तैः सृष्टिः? इत्यतः आह **न रूपम्** इति.

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम् असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

इह अस्मिन् लौकिके संसारे कर्मासक्तानाम् **अस्य** तच्छाखारूपत्वे सत्यपि **तथा** अलौकिकक्रीडात्मकं **रूपं न लभ्यते**. नच **अन्तः** क्रीडात्मकेन नित्यत्वात्. **नच आदिः,** पुरुषोत्तममूलकत्वेन अनादित्वात्. **नच** पुनः **सम्प्रतिष्ठा** स्थितिः तस्माद् लौकिकसंसारात्मकवृक्षं छित्त्वा पुनः अलौकिकान्वेषणं कार्यम् इति आह **अश्वत्थम्** इति. **एनं** परिदृश्यमानं लौकिकम् अश्वत्थं नश्वरं **सुविरूढमूलं** दृढं **दृढेन** निश्चयात्मकेन **असङ्गशस्त्रेण** एतन्मध्यपाति–दुष्टविषयादि–दोषपर्यालोचनसङ्गाभावात्मकेन शस्त्रेण एतच्छेदपटुना **छित्त्वा** भिन्नं कृत्वा।।३।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

ततः पदम् इति. **ततः** तदनन्तरं तत्**पदम्** अलौकिकस्य तस्य मूलभूतं परिमार्गितव्यं **परितो** विचारपूर्वकम् आलोचनरीत्या **मार्गितव्यम्** अन्वेषणीयम्. अन्वेषणे प्रयोजनम् आह **यस्मिन्. यस्मिन्** पदे **गताः** प्राप्ताः **भूयो न निवर्तन्ते,** संसारे न आगच्छन्ति इति अर्थः. कथम् अन्वेषणीयम्? इत्यतः आह **तमेव** इति. यतः पुरुषोत्तमात् **पुराणी** सनातनी नित्या **प्रवृत्तिः** भक्त्यात्मिका भगवदनुप्रवृत्तिः **प्रसृता** विस्तृता प्रकटिता; तमेव आद्यं च पुनः पुरुषं भावात्मतया पुरुषरूपं शरणं प्रपद्ये व्रजामि इति भावः।।४।।

शरणागतिं विना दोषानिवृत्तौ तत्प्राप्तिः न भवेदिति शरणागतौ च

स्यादेवेति अन्यथा अनिवृत्तित्वाद् दोषस्वरूपनिरूपणपूर्वकं[३] तद्रहितानां तत्पदप्राप्तिः उच्यते **निर्मानमोहाः** इति.

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

निर्गतौ मानमोहौ येषां ते. मानस्तु भगवत्सम्बन्धजः, **मोहः** स्वरूपाज्ञानात्मकः. [४]तथा **जितः सङ्गदोषः** अवैष्णवादिसङ्गदोषो यैः. **अध्यात्मनित्याः** भगवत्स्वरूप-तत्त्वविचार-परिनिष्ठिताः. विनिवृत्तकामाः विशेषेण मनसा[५] विचारराहित्येन **विनिवृत्तः कामो** येभ्यः. **सुखदुःखसञ्ज्ञैः** सांसारिकैः **द्वन्द्वैः विमुक्ताः**. **अमूढाः** भगवत्परिचिन्तनेन मोहरहिताः **तदव्ययं** नित्यं पदं गच्छन्ति. यतः एतद्दोषरहिताः उक्तगुणवन्तश्च **गच्छन्ति** तद्द्वयमपि शरणातिरिक्त-साधनासाध्यं तस्मात् शरणं प्रपद्ये इति शरणगमनम् अन्वेषणप्रकारः इति अर्थः।।५।।

अथ तत्पदस्वरूपम् आह **न तद्** इति.

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

तत्पदं सूर्यो न भासयते न प्रकाशयति. एतेन स्वयम्प्रकाशत्वम् उक्तम्. **न शशाङ्कः** चन्द्रोऽपि तापहरणपूर्वक-शीतादिना न प्रकाशयति. **न पावकः** अग्निःशीतादिनिवारकत्वेन न प्रकाशयति. किञ्च **यत्पदं गत्वा न निवर्तन्ते** न पुनः आगच्छन्ति. कुतः? इत्यतः आह **तद् मम परमम्** उत्कृष्टं **धाम** गृहरूपम् इति अर्थः. अतः तथा इति अर्थः[६]।।६।।

ननु पूर्वं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-प्रकृति-पुरुष-जड-जङ्गमादीनां स्वांशत्व-क्रीडौपयिकत्व-स्वक्रीडार्थोपसादितत्वम् उक्तम्. अधुना च ''**यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते**''(५।६) इति उक्तं तत् कथं सम्भवति? इति आकाङ्क्षायाम् आह **ममैव** इति पञ्चभिः.

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥

जीवलोके मत्क्रीडार्थप्रकटिते **जीवभूतः** आनन्दांशतिरोधानेन अनीशितृत्वोद्भावनेन क्रीडारसभोगार्थसेवारसानुभवार्थं जीवत्वलक्षणो **ममैव अंशः सनातनः** सदा मयि विद्यमानः. मनः षष्ठं येषां तादृशानि पञ्चेन्द्रियाणि प्रकृतौ क्रीडार्थम् आविर्भूतायां स्थितानि तद्भोगाद्यनुभवार्थं **कर्षति**.

अत्र अयं भावः साक्षात् स्वक्रीडानुभवार्थप्रकटितो जीवभावः सनातनः पुरुषोत्तमांशएव साक्षात् तद्द्वारा प्रकृत्युत्पादित-भोगानुभवार्थं प्रकृटितो अंशः सांसारिको जीवो मूलभूतजीवांशः सः स्वांशं तत्र नयति यत्र तदिच्छा. अतएव "**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति**" (बृहदा.उप.४।४।२) इत्यादिश्रुतिः॥७॥

तदेव विस्तरेण आह **शरीरम्** इति.

शरीरं यद् अवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥८॥

ईश्वरः मूलभूतो जीवो **यद्** यदा शरीरभोगार्थम् **अवाप्नोति** 'प्राप्नोति, **च** पुनः यदा भोगसमाप्तौ **उत्क्रामति** तदा एतानि पूर्वोक्तानि इन्द्रियाणि स्वभोगार्थकानि सूक्ष्माणि संस्कारात्मकानि गृहीत्वैव सम्यक् स्वांशजीवभावेन सह याति प्राप्नोति. तत्र दृष्टान्तम् आह **वायुः** आशयात् पुष्पादितो **गन्धान्** सूक्ष्मांशान् **इव**॥८॥

किमर्थं गृहीत्वा गच्छति? इति अतः आह **श्रोत्रम्** इति.

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥९॥

श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि लौकिकस्थूलशरीरे स्थूलानि **मनः** अन्तःकरणं **च अधिष्ठाय** मुख्यरूपेण तत्र स्वयं स्थितिं कृत्वा अग्रे अलौकिकतदनुभवार्थं **विषयान् उप** स्वांशजीवसमीपे **सेवते** भोगं करोति इति अर्थः॥९॥

एवम्भूतं कथं सर्वे न पश्यन्ति? तत्र आह **उत्क्रामन्तम्** इति.

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

उत्क्रामन्तं भजनरसानुपयुक्तदेहाद् उपयुक्ताय गच्छन्तं **वा** विकल्पेन तादृगीक्षणेच्छया तत्रैव **स्थितमपि वा भुञ्जानं** तादृग्विषयरसानुभावकं **गुणान्वितं** तद्भोगपटुभिः इन्द्रियैः युक्तं मुख्यजीवं **विमूढाः** सत्सङ्गाभावेन स्वोपभोगैकपराक्षिप्तदृशो **न अनुपश्यन्ति**. तद्दृष्ट्वाऽपि स्वयं न पश्यन्ति. **ज्ञानचक्षुषः** सत्सङ्गलब्धस्वरूपाः **पश्यन्ति**।।१०।।

अथच एनं भक्ताएव पश्यन्ति न अन्ये इति आह **यतन्तः** इति.

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

योगिनश्च योगिनोऽपि **यतन्तः** ज्ञानार्थं यत्नं कुर्वन्तः **एनम्** आत्मनि **अवस्थितम्** अधिष्ठितं **पश्यन्ति** नतु[९] तथाभोगं कुर्वन्तम् इति अर्थः. **अकृतात्मानः** सत्सङ्गादिभक्तत्वरहिताः ज्ञानाभावेन केवलयोगादिना **यतन्तोऽपि एनं न पश्यन्ति**, यतो **अचेत्तसः** मन्दमतयः चैतन्यरहिताः इति अर्थः।।११।।

ननु योगादीनां जडत्वेन दर्शनासाधकत्वम् आस्तां परं सूर्यादीनां तेजस्त्वात् तदाराधनादिना दर्शनं स्याद् इति आशङ्क्य आह **यद्** इति.

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

आदित्यगतं यत्तेजो जगद् अखिलं **भासयते** प्रकाशयति, **यत् चन्द्रमसि तेजो** जगदाप्यायनादिना **भासयते, यत् च अग्नौ** हुतादिना तोषजननेन हृदयं प्रकाशयति, **तत् तेजो मामकं विद्धि** जानीहि. स्वतेजस्त्वोक्त्या स्वेच्छां विना तेषाम् असाधकत्वं ज्ञापितम्. एतेन मत्क्रीडनेच्छया[१०] तद्रूपो भूत्वा जगत्प्रकाशयति[११] इति भावो बोधितः।।१२।।

एवमेव सर्वरूपो भूत्वा सर्वं करोमि इति आह **गाम् आविश्य** इति.

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

गां पृथ्वीं ओजसा बलेन **आविश्य** अहं **भूतानि धारयामि**. **अहमेव सोमः** अमृतमय**रसात्मको** रसमयो **भूत्वा औषधीः सर्वाः** व्रीह्यादयोः[१२] भूतानां पृथ्वीरूपेण धृतानां रसपोषार्थं **पुष्णामि** पुष्टाः करोमि वर्धयामि इति अर्थः।।१३।।

ततः तेषां पोषार्थमेव तद्भक्षितम् अन्नं पचामि इति आह **अहम्** इति.

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अहं वैश्वानरो जाठराग्निरूपो **भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितो** अन्तःप्रविष्टः सन् प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां युक्तः **चतुर्विधम् अन्नं** भुक्तं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं **पचामि**।।१४।।

ननु एवं प्राणिमात्रस्य भगवद्रूपाग्निपाचितान्नपोषात् केषाञ्चिद् भगवत्स्मरणं केषाञ्चिद् अस्मरणादिकं च कथम्? इत्यतः आह **सर्वस्य च** इति.

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

चकारो 'अपि'शब्दार्थे. **सर्वस्यापि अहं हृदि** प्रेरकत्वेन ईश्वररूपेण प्रविष्टः तिष्ठामि इति अर्थः. ततः किम्? अतः आह **मत्तः** प्रविष्टात्मकत्वाद् मद्विचित्रेच्छया **स्मृतिः** पूर्वानुभूत-मत्स्वरूप-स्मरणं पुष्ट्या[१३] तदुद्धारार्थम्. तथैव मुक्तिदानेच्छया **ज्ञानम्**. च पुनः. मोहोत्पादनेन नरकादि-यातनेच्छया **अपोहनं** स्मृति-ज्ञानयोः प्रमोषो विस्मरणम् इति अर्थः. भवतीति शेषः. ननु वेदास्तु शब्दात्मकाः तदध्ययनेन सूत्रैः गुरुक्तप्रकारेण च कथं न ज्ञानोदयः? इत्यतः आह. **सर्वैः** काण्डद्वयात्मकैः **वेदैः अहमेव वेद्यः** ज्ञेयः. अतो मदिच्छयैव वेदशब्दानां मद्वाक्यरूपाणाम् अलौकिकानाम् अर्थप्रकाशः न अन्यथा इति अर्थः. **वेदान्तकृत्** सूत्रप्रदर्शनेन सम्प्रदायप्रवर्त्तको व्यासादिरूपो गुरुः **अहमेव** इति अर्थः. च पुनः **अहमेव वेदवित्** तदुक्तप्रकारेण शिष्यादिहृदयस्थो ज्ञानप्रकाशेन ज्ञानवान् इति

अर्थः अतो न वेदादिभिरपि ज्ञानम् इति भावः।।१५।।

अथ स्वज्ञापितस्वरूपज्ञानार्थं सपरिकरं स्वस्वरूपम् आह **द्वौ इमौ** इति त्रिभिः.

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

लोके प्रपञ्चस्थिते सर्वत्र **द्वौ इमावेव पुरुषौ** सर्वपदार्थभोक्तारौ आधिभौतिकाध्यात्मरूपौ **क्षरः अक्षरश्च**. उभयोः स्वरूपम् आह **क्षरः** पुरुषः **सर्वाणि भूतानि** ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि नानाविधानि लीलौपयिक-लीलात्मकत्वेन अनेकरूपाणि, क्षरशब्दवाच्यः पुरुषांशरूपः पुरुषः इति अर्थः. **कूटः** शिलासमूहः पर्वतः तद्वत् सर्वपदार्थेषु शरीरादिषु विनश्यत्स्वपि तत्समूहस्थः अविनाशी भोक्ता मच्चरणात्मको यः सः **अक्षरः** पुरुषः इति अर्थः।।१६।।

पुरुषोत्तमज्ञानार्थम् एतौ निरूपितौ इति तद् आह **उत्तमः** इति.

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

'तु'शब्दएव तत्समत्वव्यावर्तनार्थः. **उत्तमः पुरुषः अन्यः** सर्वाज्ञातः सर्वव्यतिरिक्तः इति अर्थः. कीदृशः? इति आकाङ्क्षायाम् आह **परमात्मेति उदाहृतः** परमश्च असौ आत्मा इति परमः सर्वोत्कृष्टः आत्मा अविकृतः इति अमुना प्रकारेण श्रुत्यादिभिः उदाहृतः कथितः **यो लोकत्रयं** तत्तद्रसानुभवार्थम् आविर्भवति धारयति पोषयति च. एवं चेद् न्यूनाधिक्यं भविष्यति इति आशङ्क्य आह **अव्ययः** इति. निर्विकारः इति अर्थः. तर्हि धारणम् अनुपपन्नम् इति अतः आह **ईश्वरः** इति. कर्तुम् अकर्तुम्[१४] अन्यथाकर्तुं च समर्थः. अतः तथा इति अर्थः।।१७।।

तद्रूपश्च स्वयमेव[१५] अतः सो अहमेव इति आह **यस्माद्** इति.

यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

यस्मात् क्षरं जडादिदेहधर्मं **अतीतो** अतिक्रान्तो **अहं** परिदृश्यमानः

आनन्दरूपः. **अक्षरादपि** कूटस्थः चेतनात्मकादपि **उत्तमो अस्मि अतो लोके** चतुर्दशभुवनात्मके **वेदे च**कारेण सूत्र-स्मृत्यादिष्वपि **पुरुषोत्तमः प्रथितः** कथितो विख्यातः इति भावः।।१८।।

यतो अहं पुरुषोत्तमः अतो मज्ज्ञानवान् सर्वज्ञः सो अन्यभजनरहितो मां भजति इति आह **यो माम्** इति.

यो मामेवम् असम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

यो दुर्लभो **माम् असम्मूढो** मोहादिदोषरहितो व्यवसितमतिः एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **पुरुषोत्तमं जानाति, सः सर्ववित्** सर्वज्ञः इति अर्थः सर्वविद्भवतीति वा. सर्वज्ञत्वलक्षणम् आह **मां सर्वभावेन भजति**. **भारत** इति विश्वासाय।।१९।।

उपसंहरति **इति** इति.

इति गुह्यतमं शास्त्रम् इदम् उक्तं मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

इति अमुना प्रकारेण **गुह्यतमम्** अतिगुप्तरहस्यं **शास्त्रं** शासनधर्मरूपं **हे अनघ** निष्पाप कुतर्काद्यनुपहतमते **इदं** प्रत्यक्षं **मया** कृपालुना इति अर्थः. **उक्तं** कथितम् इति अर्थः. प्रयोजनम् आह **एतद्** इति. **बुद्धिमान्** कुशल **एतद् बुद्ध्वा** कृतं कृत्यम् एतत्सेवारूपं येन तादृशो भवेद् इति अर्थः. यद्वा **बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यः** इति अर्थः. अनेन सर्वेषां दैवजीवानां स्वरूपज्ञानार्थं प्रकटितम् इति भावः. **भारत** इति सम्बोधनेन साहजिकबुद्धिमतो येन कृतकृत्यता स्यात् तत्र भक्तवंशोद्भवे[१६] त्वयि किं वक्तव्यम्? इति भावो व्यञ्जितः।।२०।।

कृष्णः पञ्चदशेऽध्याये लोकानां हितकाम्यया।
पुरुषोत्तमयोगं हि पार्थाय कृपयाऽऽदिशत्।।

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां पञ्चदशो अध्यायः

पाठभेदाः

१.‘ज्ञापनार्थम्’ इति मां.पाठः.

२. ‘विषयरूपादय:’ इति मुद्रितपाठः.

३ ‘.दोषनिरूपणपूर्वकम्’ इति मुद्रितपाठः.

४. ‘‘...ज्ञानात्मकः तौ तथा जितः’’ इति मां.पाठः.

५.‘मनसापि’ इति मां.पाठः.

६. ‘‘गृहरूपम् इति अर्थः.’’ इति मुद्रितपाठः.

७.‘रसानु-भा-वार्थ’ इति मां.पाठः.

८.‘अवाप्नोति च’ इति मुद्रितपाठः.

९.‘‘पश्यन्ति तथाभोगम्’’ इति मुद्रितपाठः.

१०. ‘मत्क्रीडेच्छया’ इति मां.पाठः.

११. ‘जगत्प्रकाशयामीति’ इति मां.पाठः.

१२. ‘व्रीह्यादिका:’ इति मुद्रितपाठः.

१३. ‘स्मरणपुष्ट्या’ इति मुद्रितपाठः.

१४. ‘‘इति. कर्तुमन्यथाकर्तुम्’’ इति मुद्रितपाठः.

१५. ‘अयमेव’ इति मुद्रितपाठः.

१६. ‘‘तत्र वंशोद्भवे’’ इति मुद्रितपाठः.

V

दैवासुरसम्पद्विभागयोगाख्यः षोडशोऽध्यायः

विमुक्तिबन्धज्ञानार्थं दैवीसम्पत् तथाऽऽसुरी।
सलक्षणा सकार्या च षोडशे विनिरूप्यते।।१।।

पूर्वाध्यायान्ते **''एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृतकृत्यः स्यात्''** (१५।२०) इति उक्तं, तत्र सृष्टौ बहवएव बुद्धिमन्तो दृश्यन्ते ते कथं न एतज्ज्ञानार्थं यतन्ते? यतमानेष्वपि कथं न सर्वएव ज्ञात्वा भजनेन कृतकृत्याः भवन्ति? इति आशङ्क्य अत्र दैवजीवाः दैव्यामेव सम्पदि जाता अधिकारिणो यतमानाः कृतकृत्याः भवन्ति इति ज्ञापनाय दैवीसम्पत्स्वरूपम् आह **अभयम्** इत्यादित्रयेण.

श्रीभगवान् उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

अभयं भयाभावः कालादिसर्वनियामकत्वेन ईश्वरज्ञानात् **सत्त्वस्य** चित्तस्य सम्यक् **शुद्धिः** गुरूपसत्त्यादिना प्राप्तभगवन्नामावृत्त्या भगवत्परत्वं, **ज्ञानयोगव्यवस्थितिः** ज्ञानयोगे भगवज्ज्ञानोपाये व्यवस्थितिः एकाग्रतया स्थितिः **दानं** यथाशक्त्यनभिलाषेण भगवत्प्रीत्यर्थम् अन्नादिविभागः **दमः** इन्द्रियनिग्रहः **यज्ञो** यथाशक्ति यथाविधि यथाधिकारम् अग्निहोत्रादिकरणम्. **च**कारेण भगवद्विभूतिज्ञानेन न अन्यथा इति उच्यते. **स्वाध्यायो** ब्राह्मयज्ञादिः **तपो** भगवदर्थं देहादिक्लेशः **आर्जवं** कौटिल्यराहित्यम्।।१।।

अहिंसा सत्यम् अक्रोधः त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा परपीडाराहित्यं **सत्यं** स्वार्थपरार्थलोभादिराहित्येन यथार्थभाषणम् **अक्रोधो** निष्कारण-ताडनादिभिरपि क्षोभाभावः **त्यागः** अनासक्तिः **शान्तिः** चित्तस्थैर्यम्, **अपैशुनं** सर्वत्र भगवदात्मबुद्ध्या परापवादराहित्यम्, **भूतेषु दया** जीवेषु भगवद्वियुक्तत्वेन दया

तत्स्मरणोपदेशादिरूपा **अलोलुप्त्वं** भोगेच्छया मनोधावनत्वाभाव: **मार्दवं** मृदुत्वं परदु:खाभिज्ञत्वं, **ह्री:** लज्जा प्रभुविप्रयोगजीवने सेवाद्यकरणेन लौकिकप्रवृत्तौ च **अचापलं** लौकिकक्रियासक्त्या भगवत्क्रियादिषु शैघ्र्याभाव:।।२।।

तेज: क्षमा धृति: शौचम् अद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीम् अभिजातस्य भारत।।३।।

तेजो भगवत्कृपाप्रागल्भ्येन अधृष्यत्वम्, **क्षमा** विद्यमाने सामर्थ्ये परिभवादिषु क्रोधानुत्पत्ति: **धृति:** लौकिकालौकिकदु:खादिषु चित्तस्थैर्यम् **शौचं** स्नानादिभगवत्स्मरणादिना च बाह्याभ्यन्तरशुद्धि: **अद्रोह:** परानिष्टचिन्तनाभाव: अतिमानिता आत्मनि सर्वाधिक्यज्ञानं तदभावो **न अतिमानिता**. एतानि सर्वाणि **दैवीं** भगवत्क्रीडौपयिकीं सात्त्विकीं सम्पदम् **अभिजातस्य** भगवदाभिमुख्येन भगवत्कृपया तस्य भवन्ति. एतद्धर्मवत्त्वे भगवदाभिमुख्यं ज्ञेयम् इति भाव:. **भारत** इति विश्वासार्थं सम्बोधनम्।।३।।

एवं सलक्षणां दैवीं सम्पदम् उक्त्वा आसुरीम् आह **दम्भ:** इति.

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोध: पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

दम्भो धर्मध्वजित्वम् अन्त:तदभावेन बहि:धर्मप्रकटनं, **दर्पो** विद्यादिमदेन[1] स्वात्मविस्मरणेन सर्वोपमर्दतया आधिक्येन स्थिति:, **क्रोध:** स्वबलाधिक्यभावनया निष्ठुरवाक्य[2]तानिष्टचिन्तनं च, **पारुष्यं** कार्कश्यं परदु:खानभिज्ञता. **एव**कारेण न क्वचिदपि कदाचिदपि अपारुष्यम्[3] इति ज्ञापितम्. च पुन: **अज्ञानं** सर्वस्वरूपानभिज्ञता. **आसुरीं सम्पदम् अभिजातस्य** मदिच्छया जातस्य एतानि लक्षणानि भवन्ति इति अर्थ:।।४।।

उभयो: सम्पदो: कार्यम् आह **दैवी सम्पद्** इति.

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता।
मा शुच: सम्पदं दैवीम् अभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

दैवी सम्पद् विमोक्षाय विशेषेण मोक्षाय पुष्टिमर्यादाभेदेन **मता** मत्सम्मता इति अर्थः. **आसुरी निबन्धाय** नितरां बन्धाय पुनः संसारपर्यावर्तनेन अन्ते अन्धन्तमःप्रवेशाय **मता** सम्मता इति अर्थः. एतच्छ्रवणेन युद्धोपस्थितौ कौरवादिषु क्रोधोत्पत्त्या शोचन्तम् अर्जुनम् आश्वासयति **मा शुचः** इति. **हे पाण्डव** क्षत्रियात्मजत्वेन शोकानर्ह **दैवीं सम्पदम् अभिजातो असि** मदिच्छया अतो **मा शुचः** शोचं मा कार्षीः।।५।।

ननु दैव्यां सम्पदि जातस्य मम कथं क्रोधोत्पत्तिः मनसि जायते इति आशङ्क्य न एकदोषेणैव आसुरत्वं, तदुत्पत्तिः अस्तु सङ्गदोषजेति; तत्त्यागार्थं विस्तरेण सर्वलक्षणपूर्वकम् आसुरीं सम्पदं प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते **द्वौ** इति.

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

अस्मिन् लोके भूतसर्गौ जीवसर्गौ **द्वौ**, एको दैवो द्वितीयः आसुरएव, **च**कारेण राक्षसादिरपि गृहीतः. तत्र **दैवो विस्तरशो** विस्तारपूर्वकः पूर्वं **प्रोक्तः** प्रकर्षेण फलादिसहितो मे मया उक्तः कथितः. **हे पार्थ** कृपापात्र **आसुरः** पूर्वं सङ्क्षेपेण उक्तो अतो **मे** मत्तो विस्तरेण उच्यमानम् **आसुरं** सर्गं **शृणु**।।६।।

एवं प्रतिज्ञाय विस्तरेण आह द्वादशभिः **प्रवृत्तिम्** इत्यादिभिः.

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

आसुराः जीवाः[४] आसुरसर्गएव उत्पन्नाः **प्रवृत्तिं** मदिच्छया मत्सेवा-नुकूलधर्मपदार्थादिषु प्रवृत्तिं तथैव तदननुकूलेषु **च निवृत्तिं न विदुः** न जानन्ति इति अर्थः. अज्ञाने निदर्शनम् आह **न शौचम्** इति. बाह्याभ्यन्तरभेदेन शौचं मत्सेवानुकूलदेहशुद्धिः तेषु न, **नापि च आचारः** आचरणं नच **न सत्यम्** असत्यं **तेषु विद्यते** सत्यं नास्ति इति अर्थः।।७।।

असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्।।८।।

किञ्च. **असत्यं** वेदपुराणाद्यप्रमाणम्, **अप्रतिष्ठम्** अव्यवस्थितम्, **अनीश्वरं** न विद्यते ईश्वरः कर्ता यस्य तादृशं **जगत् ते असुराः आहुः** वदन्ति. ननु कर्त्रभावेन कथम् उत्पत्तिं वदन्ति? इति आह **अपरस्पर** इति. अपरश्च परश्च इति अपरस्परं स्त्रीपुरुषसंयोगः ततो जातं **कामहैतुकं** स्त्रीपुरुषयोः कामएव हेतुः यस्य तादृशम्. **अन्यद्** एतदतिरिक्तं **किं** कारणम्? न किमपि इति अर्थः।।८।।

एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

किञ्च **एताम्** इति. **एतां** कामहैतुकरूपां लौकिकीं **दृष्टिं** दर्शनम् **अवष्टभ्य** आश्रित्य **नष्टात्मानः** अदृष्टात्मस्वरूपाः **अल्पबुद्धयः** प्रत्यक्षमतयः **उग्रकर्माणः** उग्रं हिंसाप्रधानं कर्म येषां ते **अहिताः** शत्रुरूपाः **जगतः** सर्वलोकस्य **क्षयाय** नरकादिपातनार्थं **प्रभवन्ति** उत्पद्यन्ते इति अर्थः।।९।।

कामम् आश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

किञ्च **कामम् आश्रित्य** इति. **दुष्पूरं** दुःखेनापि पूरयितुम् अशक्यं **कामम् आश्रित्य दम्भः** पारलौकिकवेषधारणेन धार्मिकज्ञापनं, **मानं** लोकपूज्यत्वम्, **मदः** स्वरूपविस्मरणेन कामैकपरत्वम्, एतैः **अन्विताः** युक्ताः **असद्ग्राहान्** क्षुद्रदेवमन्त्रान् मोहाद् भ्रमात् सकलकार्यसाधकान् ज्ञात्वा **गृहीत्वा** स्वीकृत्य **अशुचिव्रताः** अपेयपानादिरताः सन्तः तदाराधनादौ **प्रवर्तन्ते**।।१०।।

चिन्ताम् अपरिमेयां च प्रलयान्ताम् उपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

किञ्च **चिन्ताम्** इति. **अपरिमेयां** परिमातुम् अशक्यां **प्रलयान्तां** मरणान्तां **चिन्ताम् उपाश्रिताः** अहर्निशं चिन्तापराः इति अर्थः. कामोपभोगएव

परम: फलरूपो येषां **एतावत्** ''पुरुषार्थः कामोपभोगएव'' इति **निश्चिता:** कृतनिश्चया:।।११।।

आशापाशशतैर्बद्धा: कामक्रोधपरायणा:।
ईहन्ते कामभोगार्थम् अन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

तदर्थमेव आशाएव पाशाः तेषां शतानि तैः **बद्धाः** तद्वशेन अनेकतुच्छदैवाद्याश्रयणशीला: कामक्रोधावेव परम् अयनं मूलम् आश्रयणं येषां तादृशा:. कामोपभोगस्य कृतपुरुषार्थनिश्चयत्वेन **कामभोगार्थम् अन्यायेन** चौर्यापहारहिंसादिना **अर्थसञ्चयान् ईहन्ते** इच्छन्ति।।१२।।

एवं तेषां कर्मादिलक्षणम् उक्त्वा मनसो असदर्थाभिनिवेशाद् नरकप्राप्तिम् आह **इदम् अद्य** इति.

इदम् अद्य मया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदम् अस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

मया कृतयत्नेन **इदम् अद्य लब्धं** नतु मदिच्छया[5] इति जानन्ति. एवमेव यत्नं कुर्वाणः **इदं मनोरथं** मनसः इष्टं **प्राप्स्ये** प्राप्स्यामि. **इदं** भोगाद्यर्थं धनं **मे अस्ति** मदिच्छया स्थास्यति, गमिष्यतीति न जानन्ति. **इदमपि धनं मे पुन: भविष्यति**।।१३।।

असौ मया हत: शत्रुः हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहम् अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।।१४।।

असौ अयं मम **शत्रुः मया हत: अपरानपि** तादृशान् **हनिष्ये** भगवदिच्छया विपरीतं न जानन्ति. **ईश्वरो अहं** सर्वकरणसमर्थ:, **अहं भोगी** भोगसाधनवान् कर्त्ता च **सिद्धो अहं** कृतकृत्य: **बलवान्** परोपकारमर्दनसमर्थ: **सुखी** सिद्धेष्टसाधन:।।१४।।

आढ्योभिजनवान् अस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता:।।१५।।

किञ्च **आढ्यो** विपुलधनवान्, **अभिजनवान्** सत्कुलोत्पन्नः **मया सदृशः** समो **अन्यः को अस्ति?** न कोऽपि इति अर्थ:. तथापि **यक्ष्ये** यज्ञादिभिः प्रतिष्ठार्थम् इति अर्थ:. **दास्यामि** अधमेभ्यो अनुवर्तिभ्य: **मोदिष्ये** हर्षम् आप्स्यामि **इति** अमुना प्रकारेण **अज्ञानेन विमोहिता:** पूर्वोक्तधर्मेषु अभिनिविष्टाः भवन्ति इति अर्थ:।।१५।।

एवम् अभिनिविष्टानां फलम् आह **अनेक** इति.

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता:।

प्रसक्ता: कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेकेषु क्षुद्रादिदेवेषु मनोरथेषु वा व्याप्तं चित्तं तेन **विभ्रान्ता:** विशेषेण भ्रान्ताः विक्षिप्ता: तेनैव भ्रान्तिपरिकल्पितेन मोहमयेन जालेन **समावृता:** सम्यग् आवृता: शकुन्ताइव सूत्रजाले ततो निस्सरणासमर्था: तत्रापि चेत् मत्स्मरणादिकं कुर्युः तदातु न पतेरन्, किन्तु खगादिवत् स्वकुटुम्बचिन्तनपरा: **कामभोगेषु** पूर्वोक्तरीत्या **प्रसक्ता:** सन्त: अशुचौ पापात्मके परमदु:खनिधाने **नरके** विषयसुखात्मके आसक्त्युत्पादके **पतन्ति**. पतनोक्त्या वैवश्यं ज्ञापितम्।।१६।।

तत्र संसारविषयात्मके सुखे पतित्वा यत् कुर्वन्ति तेन च यत् फलम् अनुभवन्ति तद् आह **आत्म** इत्यादिचतुर्भि:.

आत्मसम्भाविता: स्तब्धा धनमानमदान्विता:।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

आत्मना स्वेनैव **सम्भाविता:** स्वधर्माविष्कारेण लोकेषु उत्तमतां पूज्यतां नीता: नतु भगवदीयै: अतएव **स्तब्धा:** अनम्रा: स्थाणुप्राया:. किञ्च धनेन यो मानो अभिमानो[६] मदश्च ताभ्याम् **अन्विता:** युक्ता:. यद्वा धनमानमदैः अन्विता: तादृशा: सन्त: **नामयज्ञै:** [७]नाममात्रेण यज्ञैः शब्दात्मकै: यजधातोः भगवत्पूजाविधानत्वात् ते नामयज्ञाः तैः **दम्भेन** प्रतिष्ठार्थम् **अविधिपूर्वकं** मदंशादिज्ञानाभावेन मद्भजनराहित्येन ते पूर्वोक्ताः आसुराः **यजन्ते**[८] यज्ञादिकं कुर्वन्ति।।१७।।

अविधिपूर्वकं यजनं पूर्वं विवेचयति **अहङ्कारम्** इति.

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिता:।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका:।।१८।।

अहङ्कारं सत्त्वाभिमानं[९] **बलं** स्वसामर्थ्यं **दर्पं** गर्वं **कामं** मनोभिलाषं **क्रोधं** व्यर्थं हृदयक्लेशं **च**कारेण हर्षोद्वेगादय: सङ्गृहीता: तान् **संश्रिता:** सन्त: **आत्मपरदेहेषु ''मयि ते तेषु चाप्यहम्''**(९।२९) इत्युक्तरीत्या स्थितं **मां प्रद्विषन्त:** प्रकर्षेण द्वेषं कुर्वन्तो मद्भजनादिनिन्दां कुर्वन्त: **अभ्यसूयका:** दोषरहितेषु दोषरोपका: सन्तो यजन्ते इति पूर्वेणैव सम्बन्ध:।।१८।।

सर्वफलदाता च स्वयमेव अत: स्वभक्तद्वेषिणां फलं न प्रयच्छामि इति **आह तान् अहम्** इति.

तान् अहं द्विषत: क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।

क्षिपाम्यजस्रम् अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

अहं तान् मदीयान्[१०] **द्विषत: क्रूरान्** कठिनान् **नराधमान्** तामसान् **संसारेषु** अहम्ममाप्तरूपेषु जन्ममरणादिरूपेषु वा तेष्वपि **आसुरीष्वेव** मत्प्रतिपक्षरूपासु **योनिषु अजस्रं** निरन्तरं **क्षिपामि;** पातयामि इति अर्थ:. 'क्षिपामि' इति उक्त्या क्रोध: सूचित:।।१९।।

तद्योनिप्राप्तानां फलम् आह **आसुरीम्** इति.

आसुरीं योनिम् आपन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्मनि[११] तथात्वज्ञापनाय वीप्सा **हे कौन्तेय आसुरीं योनिं** मद्धर्माचरणप्रतिकूलां योनिं प्राप्य मत्प्राप्तिसाधनाभावाद् **माम् अप्राप्यैव ततो** जन्मसमाप्तौ **अधमां गतिम्** अन्धन्तम: प्रवेशरूपां **यान्ति** प्राप्नुवन्ति इति अर्थ:. **एव**कारेण अवतारदशायां सर्वदर्शनयोग्यायामपि स्वरूपाज्ञानाद् मद्दर्शनम् अप्राप्य गच्छन्तीति ज्ञापितम्. कौन्तेयेति सम्बोधनाद् भक्तगृहजन्मप्राप्त्या स्वप्राप्तियोग्यत्वं ज्ञापितम्।।२०।।

तेषु तदभावात् तथा उक्तासुरसङ्गात् तन्मुख्यधर्मत्रयोत्पत्तिः स्यात् तत् च नरकद्वारं तत्र गमनसाधनरूपम् अतः तत्सङ्गत्यागम् आह **त्रिविधम्** इति.

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनम् आत्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्।।२१।।

इदम् अग्रे वक्ष्यमाणं **त्रिविधं नरकस्य द्वारं** प्रवेशसाधनम् इति अर्थः. कीदृशं द्वारम्? **आत्मनो** जीवस्य **नाशनं** विनाशकर्तृ संसारपातनात् तद् विवेचयति **कामः क्रोधस्तथा लोभः** इति. **कामः** स्वरमणानन्देच्छारूपः **क्रोधः** अकारणहृत्तापरूपः **लोभः** सर्वगुणनाशक–परस्वप्राप्तीच्छारूपः **तस्माद्** आसुराद् **एतत्** त्रितयं स्याद् अतः **त्यजेत्** तत्सङ्गम् इति शेषः।।२१।।

तत्सङ्गत्यागेन तत्त्रितयरहितः स्याद् इति आह **एतैः** इति.

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर् नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयः ततो याति परां गतिम्।।२२।।

कौन्तेय सत्सङ्गगुणसम्पन्न तत्तत्सङ्गत्यागे **एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयो** भजनादिकम् आचरति, **ततः** तेन **परां गतिं याति** प्राप्नोति।।२२।।

किञ्च असुराश्च अशास्त्रविहिता [१२]असत्कर्मणि निरताः अतो यः च एतत्सङ्गत्यागी[१३] न किन्तु तद्भक्तो अशास्त्रं कर्म करोति न सः मुक्तिं प्राप्नोति इति आह **यः शास्त्र** इति.

यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिम् अवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

आसुरसङ्गात्तु **यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य** अवगणय्य **कामकारतः** स्वेच्छातः अशास्त्रेषु कर्मसु[१४] **वर्तते सः न सिद्धिं** स्वमनोभिलाषं **न सुखं** मनोनिर्वृत्तिं **न परां गतिं** मोक्षं **प्राप्नोति** इति अर्थः।।२३।।

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इहार्हसि।।२४।।

तस्माद् इति. **तस्मात्** कारणात् ते तव दैव्यां सम्पदि जातस्य **कार्याकार्यव्यवस्थितौ** इदं कार्यम्, इदम् अकार्यम् एतयोः व्यवस्थितौ व्यवस्थायां **शास्त्रं प्रमाणं,** अतः **शास्त्रं विधानोक्तं ज्ञात्वा** एतत्सङ्गेन[१५] त्वं **कर्म कर्तुम् इह** प्रपञ्चे **अर्हसि।**।२४।।

दैवासुरीयसम्पत्तिविवेकेन तु षोडशे।
सङ्गत्यागविभागेन बन्धमोक्षौ विवेचितौ।।१।।

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां षोडशोऽध्यायः।।१६।।

पाठभेदाः

१.'विद्यामदेन' इति मुद्रितपाठः.
२.'निष्ठुरवाच्य...' इति मां.पाठः.
३.'अपारूष्य-त्व-म्' इति मां.पाठः.
४. ''आसुरा जनाः आसुरा जीवाः'' इति मां.पाठः.
५.'यदृच्छया' इति मुद्रितपाठः.
६. ''मानो मदश्च'' इति मुद्रितपाठः.
७.''नामयज्ञैः शब्दात्मकैः प्रतिष्ठार्थम्'' इति मुद्रितपाठः.
८. ''आसुराः यज्ञादिकम्'' इति मुद्रितपाठः.
९. 'स्वत्वाभिमानम्' इति मां.पाठः.
१०. ''तान् द्विषतः'' इति मुद्रितपाठः.
११.''जन्मनि जन्मनि तथात्वज्ञापनाय'' इति मुद्रितपाठः.
१२. ''...विहिता तामसकर्म-निरताः'' इति मां.पाठः.
१३. ''एतत्स-ङ्गा-त्यागेन तदुक्ताशास्त्रं कर्म'' इति मां.पाठः.
१४. ''अशास्त्रेषु वर्त्तते'' इति मुद्रितपाठः.
१५.''एतत्स-ङ्गत्यागेन- त्वम्'' इति मां.पाठः.

V

श्रद्धात्रयविभागयोगाख्यः सप्तदशो अध्यायः

शास्त्रविध्य[1]युता श्रद्धा निर्गुणैवोत्तमा मता।
इति दर्शयितुं श्रद्धा त्रिविधाऽत्र निरूप्यते।।१।।

पूर्वाध्याये शास्त्रविधिरहितकामकारतः कर्मसु वर्त्तमानस्य न फलम् इति उक्तं, तत्र कामकाराभावे शास्त्रविधिरहितस्य श्रद्धया वर्त्तमानानाम् अग्रे सात्त्विकत्वाद्याश्रयेण किमपि ज्ञानादिकं सत्फलं भवति न वा? इति जिज्ञासुः अर्जुनः पृच्छति **ये शास्त्र** इति.

अर्जुनः उवाच

ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

ये सर्वत्यागाद् अनन्यत्वादि**शास्त्रविधिं** दुस्तरत्वेन **उत्सृज्य** परम्पराचारप्रवाहप्रवृत्तभजनादिषु **श्रद्धया** आदरेण युक्ताः **यजन्ते** देवादिपूजनं कुर्वन्ति, **हे कृष्ण तेषां का निष्ठा** कः आश्रयः **सत्त्वम् आहो रजः तमो** वा?

अयं भावः **:** पूर्वं चेत् सत्त्वाश्रयः तदा तु[2] ततएव ज्ञानोदयः, पूर्वं चेद् रजः तदा, तथा कुर्वतो अग्रे सात्त्विकत्वं, पूर्वं चेत् तमः तदा अग्रे राजसत्वं; ततः तथा कुर्वतो अग्रे सात्त्विकत्वं, ततो ज्ञानोदयः ततो निर्गुणत्वेन त्वत्प्राप्तिः. फलात्मकनामसम्बोधनेन फलाभावे तत्कारणं व्यर्थमेव तदाचारादिप्रामाण्यं निष्प्रयोजनकम् अतः तेषाम् आश्रयः स्वरूपं वक्तव्यम् इति भावो व्यञ्जितः।।१।।

अत्र उत्तरम् आह श्रीकृष्णः **त्रिविधा** इति.

श्रीभगवान् उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

देहिनां देहाभिमानवतां लौकिकानां **श्रद्धा त्रिविधा भवति, सात्त्विकी, च** पुनः **राजस्येव, तथा तामसी च इति** अमुना प्रकारेण त्रिविधा. **साच**

स्वभावजा स्वस्य औत्पत्तिकगुणजा, नतु निर्गुणा.

तथाच अयं भावः **:** शास्त्रोक्तविद्ध्युक्तमद्भजनश्रद्धातो [३]लौकिकादि-गुणज्ञानोदयो भवति निर्गुणत्वाद् जीवस्यापि निर्गुणत्वेन सत्त्वसङ्गाभावाद् मत्प्राप्तिफला श्रद्धैकरूपैव, भिन्ना गुणस्वभावजा, त्रिविधा च भिन्ना न तत्फलसाधिका इति भिन्नत्वज्ञापनाय **तां** त्रिविधां मया उच्यमानां **शृणु,** तच्छ्रवणादेव त्वत्सन्देहनिवृत्तिः भविष्यतीति।।२।।

एवं श्रोतारं सावधानतया अभिमुखीकृत्य आह श्रद्धास्वरूपं **सत्त्वानुरूपा** इति.

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

हे भारत सत्त्वानुरूपा मूलसत्त्वस्य अनुरूपा सदृशा अन्यधर्मास्फूर्ति-पूर्वकसर्वसामर्थ्यस्फुरणासक्त्युत्पत्तिप्रसरणादररूपा **श्रद्धा सर्वस्य** सात्त्विकादित्रयस्य **भवति**. **भारत** इति सम्बोधनं तथात्वज्ञानाधिकारित्वबोधनाय. तर्हि त्रिविधत्वं कथम्? इति अतः आह **श्रद्धामयः** इति. **अयं पुरुषो** मदंशोऽपि नरात्मकः[४] श्रद्धामयः श्रद्धाप्रचुरः सतु **यः** सात्त्विकादिभेदेन **यच्छ्रद्धः** यस्य[५] श्रद्धायुक्तो भवति **सः सएव** तद्रूपएव भवति इति अर्थः।।३।।

तदेव प्रपञ्चयति **यजन्ते** इति.

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

सात्त्विकाः जनाः **देवान्** सूर्येन्द्रादीन् यजन्ते पूजयन्ति; **राजसाः** पुनः **यक्षान्** धनदाधिष्ठित**राक्षसान्**[६] **यजन्ते**. अन्ये सत्त्वसम्बन्धरहिताः **तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते** तत्तत्पूजारुच्यैव ते तद्रूपाः ज्ञातव्याः इति अर्थः।।४।।

अथ सात्त्विकानामपि देवादिपूजननिश्चयोऽपि आसुरएव, अनुक्तत्वाद्

इति आह द्वयेन **अशास्त्र** इति.

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

ये जनाः जननादिक्लेशेन अज्ञाः **अशास्त्रविहितम्** अन्धपारम्पर्यागतं शास्त्रनिषिद्धं वा **दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः** परप्रतारणस्वोत्तमत्वख्यापनाज्ञानाभ्यां देवताप्रसादार्थं सात्त्विकवद् आभासमानं निश्चयेन **तपः** देहक्लेशं अभोजनादिना ये **तप्यन्ते** कुर्वन्ति. ये च **घोरं** यक्षादिप्रसादरूपं राज्यधनाद्यपेक्षार्थं तपः कुर्वन्ति. **कामरागबलान्विताः** कामो विषयाभिलाषः रागो भोगासक्तिः बलम् आग्रहः तैः अन्विताः प्रेरिताः सन्तः।।५।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामम् अचेतसः।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

किञ्च **कर्षयन्त**ः इति. **भूतग्रामं** पृथिव्यादिसमूहं **शरीरस्थं** भगवत्क्रीडार्थम् आस्थितं देहे कर्षयन्तः भगवत्तोषादिरहित-वृथोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः **अचेतसः** ज्ञानशून्याः **मां च** स्वलीलार्थं प्रेरकत्वेन **अन्तःशरीरस्थं** शरीरमध्ये स्थितं भजनादिरूपमदाज्ञोल्लङ्घनेन मदंशं **कर्षयन्तः** क्लेशयन्तः पूर्वोक्तरीत्या ये तपः कुर्वन्ति **तान् आसुरनिश्चयान्** आसुरो मत्प्रतिपक्षरूपो निश्चयो येषां तादृशान् **विद्धि** जानीहि. एतेन ये मत्सम्बन्धरहित-तपस्यादिधर्मानपि कुर्वन्ति ते त्याज्याएव इति ज्ञापितम्।।६।।

एवं धर्मभेदान् उक्त्वा आहारादिभेदेनापि तद्भेदज्ञानम् आह **आहारस्तु** इत्याद्यैः.

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदम् इमं शृणु।।७।।

तु पुनः **आहारोऽपि सर्वस्य त्रिविधस्य** लोकस्य त्रिविधः सात्त्विकादिरूपः **प्रियो भवति**. **तथा यज्ञो** यजनं, **तपः** देहादिक्लेशः, **दानं** तेषां **भेदम्** अग्रे मया प्रोच्यमानम् **इमं शृणु**।।७।।

एवं सावधानं कृत्वा आह **आयुः** इति.

आयुस्सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

आयुः जीवितं, **सत्त्वं** हृदयशुद्धिं[७] **बलं** सामर्थ्यम्, **आरोग्यं** रोगाभावः[८] **सुखं** मनः तोषः **प्रीतिः** स्नेहः एतेषां **विवर्द्धनाः** विशेषेण सफलतया धर्माद्य[९]र्थोपयोगित्वेन वृद्धिकराः. तत्र आयुः वृद्धिकरः पञ्चयज्ञावशेषः[१०] सत्त्वसाधको गुर्वाद्युच्छिष्टरूपः, बलकरः पितृदेवादिशेषः आरोग्यकरो जनन्याद्युपस्कृतः[११] सुखकरः सन्मार्गोपार्जितः प्रीतिकरो मित्रादिगृहस्थः. ते च स्वरूपतोऽपि एतादृशाः **रस्याः** रसयुक्ताः, **स्निग्धाः** स्नेहयुक्ताः, **स्थिराः** चिरकालावस्थायित्वाद् देहपोषकाः, **हृद्याः** हृष्टाएव हृदयानन्दकर्त्तारः. एतादृशाः **आहाराः** सात्त्विकानां प्रियाः भवन्ति इति शेषः. एवम् आहारकर्तारः सात्त्विकाः ज्ञेयाः इति अर्थः।।८।।

राजसान् आह **कटु** इति.

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

'अति'शब्दः सर्वत्र अनुसम्बद्ध्यते कट्वादिषु. **अतिकटुः** कारवेल्लादिः, **अत्यम्ल** आम्रातकादिः, **अतिलवणः** क्षारबहुलरोचक-शाकादिः **अत्युष्णः** सबाष्प-पक्वान्नादिः **अतितीक्ष्णो** मरिचादिः **अतिरूक्षः** चणकमसूरकोद्रवादिः **अतिविदाही** राजिकादिः[१२]. एवम् एते अतिकट्वादयः पञ्चयज्ञादिरहिताः स्वार्थकृता **आहाराः राजसस्य इष्टाः** प्रियाः. **दुःखशोका-मयप्रदाः** दुःखं भक्षणसमयएव रसनाविकारादिरूपं शोको भक्षणानन्तरम् अजीर्णोद्गारादिना भक्षितपश्चात्तापादिरूपः आमयो रोगो ज्वरादिः एतानि सर्वाणि प्रददति यच्छन्तीति तथा. एतादृगाहारकर्त्तारो राजसाः ज्ञेयाः इति अर्थः।।९।।

अथ तामसम् आह **यातयामम्** इति.

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

यातो व्यतीतो यामः प्रहरो यस्य तादृशं पक्वान्नकृषिरादिकं शैत्यादिना भक्षणायोग्यम् इति अर्थः. **गतरसं** शुष्कं **पूति** दुर्गन्धं **पर्युषितं** व्यतीतरात्रम्, **उच्छिष्टम्** अन्यभुक्तावशिष्टम् **अमेध्यं** कलिङ्ग-मूलकबिम्बादिकम्. एतादृशं **भोजनं तामसानां प्रियम्**. एतस्य फलकीर्तनं स्वरूपतएव दुष्टत्वात्. एवं भोजनप्रियो तामसो ज्ञेयः इति अर्थः. निर्गुणाहारकैः मदुच्छिष्टभोक्तृभिः पूर्वोक्त-त्रिविधमभोजनं तद्भोजिनश्च त्याज्या इत्यर्थश्च एतन्निरूपणेन ज्ञापितः।।१०।।

आहारानन्तरं यज्ञस्य प्रतिज्ञातत्वात्(१७।७) त्रिविधयज्ञरूपम् आह **अफल** इति.

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

न विद्यते अन्यत् फलं यस्मात् तादृशः, स्वयमेव फलरूपो भगवत्प्रसादः तदाकाङ्क्षिभिः पुरुषैः, **विधिना** अवश्यकर्त्तव्यत्वेन **दृष्टो** बोधितो **यो** यज्ञो भगवदाज्ञप्तत्वाद् **यष्टव्यमेव**, नतु फलानुसन्धानेन **इति मनः समाधाय** निश्चलं कृत्वा **इज्यते** अनुष्ठीयते **सः** यज्ञः **सात्त्विकः** इति अर्थः. एतादृग्यज्ञकर्ता सात्त्विको ज्ञेयः।।११।।

राजसम् आह **अभिसन्धाय** इति.

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

तु पुनः **फलं** स्वर्गादिकम् **अभिसन्धाय** उद्दिश्य **दम्भार्थं** लोके स्वख्यापनार्थं चाप्येव यत्तु **इज्यते** अनुष्ठीयते **तं यज्ञं राजसं विद्धि**. तत्कर्त्तारश्च राजसाः ज्ञेयाः।।१२।।

तामसम् आह **विधिहीनम्** इति.

विधिहीनम् असृष्टान्नं मन्त्रहीनम् अदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

वेदोक्तविधिरहितम्, **असृष्टान्नं** पात्रान्नदानरहितं[१३], मन्त्रैः देवताह्वानादिरूपैः **हीनं** शून्यम् **अदक्षिणं** वैधदक्षिणारहितं, श्रद्धया आदरेण **विरहितं** शून्यं **यज्ञं तामसं परिचक्षते** कथयन्ति; महान्तः इति शेषः।।१३।।

अथ यज्ञानन्तरं तपसः प्रतिज्ञातत्वात् तपसः त्रैविध्यं वक्तुं, तस्य च शरीरवाङ्मनोभेदेन त्रिविधत्वात् तत्त्रितयनिरूपणपूर्वकं त्रैविध्यकथनार्थं शारीरादिकत्रयम् आह **देवद्विज** इति त्रयेण.

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचम् आर्जवम्।
ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

देवाः ब्रह्माद्याः **द्विजाः** वेदैकनिष्ठाः **गुरवः** सरहस्यमन्त्रोपदेष्टारः **प्राज्ञाः** पण्डिताः शास्त्रपरिनिष्ठितबुद्धयः तेषां **पूजनं** यथाविधि. **शौचं** मृदादिना, **आर्जवं** ऋजुता, **ब्रह्मचर्यम्** इन्द्रियनिग्रहः, **अहिंसा** परद्रोहराहित्यं, **च**कारेण ईर्ष्यादयः. एतत्सर्वं **शारीरं** शरीरसम्बन्धि **तपः उच्यते** कथ्यते इति अर्थः।।१४।।

वाचिकम् आह **अनुद्वेग** इति.

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

उद्वेगं भयं न उत्पादयति कस्यापि तादृशं वाक्यं, **सत्यं** लोभादिराहित्येन यथार्थभाषणरूपं यत् **प्रियं** परलोकसाधकं, **हितं** लौकिकादिसाधकम्. **च**कारेण लौकिकस्य अनावश्यकत्वेऽपि वक्तव्यता सूचिता. **स्वाध्यायस्य** वेदस्य **अभ्यसनम्** अभ्यासः. **च**कारेण स्मृतीनामपि. **एव**कारेण वेदाविरोधेन स्मृत्याद्यभ्यासः. एतत् सर्वं **वाङ्मयं** वाचः सम्बन्धि **तपः उच्यते**।।१५।।

मानसम् आह **मनः प्रसादः** इति.

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसम् उच्यते।।१६।।

मनः प्रसादः मनःस्वच्छतया[१४] सत्परिचिन्तनं, **सौम्यत्वम्** अक्रूरता, **मौनं** मननम्, **आत्मविनिग्रहः** आत्मनो विषयेभ्यः आकर्षणं **भावसंशुद्धिः** स्नेहादिविषयेषु कापट्याभावः. **इति** अमुना प्रकारेण **एतत्** सर्वं **मानसं** मनःसम्बन्धि **तपः उच्यते**।।१६।।

एवं शारीरादित्रैविध्यं तपसः उक्त्वा सात्त्विकादिभेदत्रैविध्यम् आह **श्रद्धया** इति.

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर् युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

तत् तपः त्रिविधं शारीरादिकं, **परया श्रद्धया** अनन्यादरेण, **अफलाकाङ्क्षिभिः** फलापेक्षारहितैः **युक्तैः** शास्त्राज्ञाकारिभिः नरैः[१५] **तप्तं सात्त्विकं परिचक्षते** कथयन्ति।।१७।।

राजसम् आह **सत्कार** इति.

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

तत् त्रिविधं तपः इह लोकेषु **सत्कारः** साधुत्वादिशब्दः **मानः** उत्तमत्वेन सभादिषु उच्चोपवेशनादिरूपः **पूजा**लाभः. एतदर्थं **दम्भेनैव च** परप्रतारणरूपेण **यत् क्रियते** तत् चलं चञ्चलं[१६] पूर्वोक्ताभावे अध्रुवं परलोकादिसाधनरहितं **तत्** तपः **राजसं प्रोक्तं** प्रकर्षेण उक्तं सर्वशास्त्रेषु[१७] कथितम् इति अर्थः।।१८।।

तामसम् आह **मूढ** इति.

मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसम् उदाहृतम्।।१९।।

मूढग्राहेण मूर्खताजनितदुराग्रहेण **आत्मनः** जीवस्य **पीडया यत्तपः क्रियते, वा परस्य उत्सादनार्थम्** अन्यस्य विनाशार्थं **तत् तामसम् उदाहृतं**, सम्यग् न युक्तम् इति अर्थः।।१९।।

अथ पूर्वप्रतिज्ञातदानत्रैविध्यम् आह **दातव्यम्** इति.

दातव्यम् इति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

''धनं मूलम् अनर्थानाम्'' इत्यादिवाक्यै: सञ्चितानर्थकारित्वज्ञानपूर्वक-दत्तेष्टभक्त्यादिसाधकत्वज्ञानेन **दातव्यम्** इति ज्ञात्वा **अनुपकारिणे** प्रत्युपकारासमर्थाय दीनाय सीदत्कुटुम्बेभ्य: इत्याद्युक्तधर्मविशिष्टाय **यद्दानं दीयते, देशे** कुरुक्षेत्रादौ **काले** ग्रहणादौ[१८] **च**कारेण अकाले विवाहाद्युपस्थितौ याचमानाय **पात्रे** वेदविशारदाय **च**कारेण अपात्रे बुभुक्षिताय **यत् तद्दानं सात्त्विकं स्मृतं** प्रसिद्धम् इति अर्थ:।।२०।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलम् उद्दिश्य वा पुन:।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

यत्तु इति. '**तु**'शब्देन तादृग्दानस्य अनुचितत्वं ज्ञाप्यते. **यत्तु प्रत्युपकारार्थं** महाराजकृपापात्रब्राह्मणाय अग्रे स्वोपकारकादित्वोद्देशेन **दानं वा पुन:** फलधर्मादिचतुष्टयम् **उद्दिश्य परिक्लिष्टं** चित्तक्लेशयुक्तं फलोपकारासन्देहेन दीयते **तद्दानं राजसम्** उदाहृतं, कथितम् इति अर्थ:।।२१।।

तामसम् आह **अदेश** इति.

अदेशकाले यद् दानम् अपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतम् अवज्ञातं तत् तामसम् उदाहृतम्।।२२।।

अदेशे कीकटादौ म्लेच्छादिसन्निधाने वा, **अकाले** [१९]अशुद्धावस्थायाम् आशौचादौ, **अपात्रेभ्य:** गणिकाचारणबन्दिभ्यो **यद्दानं दीयते तत्तामसं** फलादिरहितम् **उदाहृतम्. च** पुन: देशादिसम्पत्तौ पात्रेभ्योऽपि यद् **असत्कृतं** सत्कारपूजादिरहितम् **अवज्ञातं** स्वरूपज्ञानपूर्वक-सतरस्कारं[२०] यद् दीयते तदपि तथा इति अर्थ:. एवं यज्ञादीनां त्रैविध्यनिरूपणेन एतत्त्रैविध्यरहितं निर्गुणमेव तत्सर्वं यज्ञादिकं कर्त्तव्यम् इति ज्ञापितम्. तथाहि भगवदिच्छायां सत्यां तज्ज्ञानपूर्वकं भगवद्विभूतियागो भक्त्यङ्गत्वेन कार्यो युधिष्ठिरवद् **''यक्ष्ये**

विभूतीर्भवतः''(भाग.पुरा.१०।७२।३) इत्यादिविज्ञापनपूर्वकम्. तपोऽपि भगवदर्थक-सर्वसुखपरित्यागपूर्वक-क्लेशादिसहनरूपं कार्यं[२१] ज्ञानरूपं वा कार्यम्. दानं च भक्तिसिद्ध्यर्थं भगवद्भक्ताय वेदविदे ब्राह्मणाय दातव्यम्।।२२।।

ननु देशकालाद्यभावकृतानां यज्ञानां यदि तामसत्वं तदा निर्गुणेष्वपि समः समाधिः? इति आशङ्क्य तेषां देशकालादि-सम्पत्त्यभावेऽपि तत्सम्पत्तिः भवति इति आशयेन आह **ॐ तत्सद्** इति.

'ॐ तत् सद्' इति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

''ॐ तत् सद्'' इति एवंरूपो **ब्रह्मणः** पुरुषोत्तमस्य **त्रिविधो निद्र्देशो** नामव्यपदेशः **स्मृतो** भक्तैः. तत्र **''ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म''** (८।१३) इत्यादिभिः ॐ इति ब्रह्मणः सञ्ज्ञा नाम इति. **''यतो वाचो निवर्तन्ते''** (तैत्ति.उप.२।४ २।९) **''आनन्दमात्रम्''** (   ) इति **''यद्''** इत्यारभ्य **''ततो न ज्ञायतेतु तद्''** इत्यन्तादिवाक्येभ्यः **तद्** इत्यपि ब्रह्मणएव नाम. मूलसत्तावाचकत्वेन **'सच्'**छब्दोऽपि ब्रह्मवाचकएव. एतत् त्रिविधमपि ब्रह्मणो नाम. स्वरूपज्ञानपूर्वकं सर्वत्र यज्ञादिक्रियासु आदौ विनियुक्तं सर्वदेशादिसम्पत्तिसाधकम् इति ज्ञापनाय पूर्वसिद्धं तथात्वम् आह **ब्राह्मणाः** इति. येन[२२] त्रिविधनिर्देशेन ब्राह्मणाः ब्रह्मज्ञाः[२३] ब्रह्मप्रापका वा वेदाः ब्रह्मस्वरूपाः तज्ज्ञा वा चकारेण सशब्दार्थाः. यज्ञाः यजनात्मकाः **च**कारेण साधिदैवाः. पुरा सृष्ट्यादौ विहिता विधात्रा निर्मिताः, अतः पूर्वम् एतदुदाहरणात् सर्वं सम्पद्यते इति भावः. अथवा तेन ब्रह्मणो अयं त्रिविधो निर्देशः तेन ब्रह्मणा पूर्वम् एते निर्मिताः स्वार्थं, ततः तत्स्वरूपं ज्ञानपूर्वक-नामत्रयोदाहरण-संसूचनात्मकेन निर्गुणानां सर्वं सम्पत्स्यते इति भावः।।२३।।

यतः एतदुदाहरणेन सर्वं सम्पद्यते तत् तस्मात् त्रिगुणानां भक्तानां ज्ञानिनां[२४] मुमुक्षूणां च लौकिके सतां च एतन्नामत्रितयं साधकम् इति आह **तस्माद्** इति.

तस्माद् ॐ इत्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

तस्मात् कारणाद् **ब्रह्मवादिनां** भगवद्भक्तानां **यज्ञदानतप:क्रिया:** भगवदर्थिका: **ॐ इति उदाहृत्य** ता: **सततं** निरन्तरं विधानोक्ता: भगवत्प्रीत्यर्थं **प्रवर्त्तन्ते** प्रकर्षेण वर्त्तन्ते भवन्ति इति अर्थ:।।२४।।

भक्तानाम् उक्त्वा ज्ञानिनां द्वितीयनामसम्बन्धिफलम् आह **तद्** इति.

तद् इत्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतप:क्रिया:।
दानक्रियाश्च विविधा: क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभि:।।२५।।

तद् इति उदाहृत्य तद्ब्रह्मत्वाज्ञापरिपालनेन प्रीयाद् इति उदाहृत्य **फलं** स्वर्गादिसुखरूपम्, **अनभिसन्धाय** फलाभिलाषं मनसि अकृत्वा **मोक्षकांक्षिभि:** निर्दोषैः **यज्ञतप:क्रिया:** यज्ञ: अग्निहोत्रादि: तप: कृच्छ्रादि तदादय: क्रिया: च पुन: विविधा: दानक्रिया:[२५] क्रियन्ते. तच्छब्दोदाहरणात् ताश्च सम्पन्ना भूत्वा मोक्षसम्पादिका भवन्ति इति अर्थ:।।२५।।

लौकिकसत्सु सदिति नाम तत्सम्पादकं भवति इति आह **सद्भावे** इति.

सद्भावे साधुभावे च सद् इत्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा 'सच्'छब्द: पार्थ युज्यते।।२६।।

सद्भावे आस्तिक्यभावे **साधुभावे** उत्तमत्वभावे **च सद् इति एतद्** नाम **प्रयुज्यते तथा प्रशस्ते कर्मणि** भगवदर्थके कर्मणि **हे पार्थ सद्** इति **शब्दो युज्यते** युक्तो भवति इति भाव:।।२६।।

अथ भगवत्परत्वे सर्वत्रैव 'सच्'छब्दएव उच्यते इति आह **यज्ञे तपसि** इति.

यज्ञे तपसि दाने च स्थिति: 'सद्' इति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं 'सद्'इत्येवाभिधीयते।।२७।।

यज्ञे अग्निहोत्रादौ **तपसि** कृच्छ्रादौ, **दाने** तुलापुरुषादौ या **स्थिति:** भगवदेकनिष्ठतया करणं तद्रूपा च सा **सदिति** उच्यते. **च** पुन:. **तदर्थीयमेव कर्म** यस्य एतन्नामत्रयं तस्य भगवतएव **अर्थीयं** सेवादिसामग्री सम्पादनरूपं **सद् इत्येव अभिधीयते**।।२७।।

अथ एतदतिरिक्तं श्रद्धाविहीनम् एतदपि असद् इति उच्यते इति आह **अश्रद्धया** इति.

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस् तप्तं कृतं च यत्।
असद् इत्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह।।२८।।

अश्रद्धया श्रद्धां विना **हुतं** हवनादिकं, **दत्तं** दानादि **तप्तं तपः, च** पुनः यत्किञ्चित् **कृतं** कर्म यागतीर्थस्नानादिकं, **हे पार्थ** मद्भक्त **तत्** सर्वं **असद्** इति **उच्यते, तत् च प्रेत्य** परलोके **न** फलति मत्सम्बन्धाभावात्. **इह** लोके च **नो** फलति[२७], सदनादृतत्वात्. अतो मत्सम्बन्ध्येव लौकिकालौकिकं फलति इति तदेव कर्त्तव्यम् इति निरूपितम्।।२८।।

निष्फलं त्रिगुणं कर्म सश्रद्धमपि यत् कृतम्।
सफलं निर्गुणं चातः कर्त्तव्यम् इति रूपितम्।।

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां सप्तदशो अध्यायः।।१७।।

पाठभेदाः

१.'वैधयुता' इति मां.पाठः.
२.''तदा ततएव'' इति मुद्रितपाठः.
३. ''श्रद्धा–न– लौकि–कसात्वे(त्वि?)–कादिगुणज्ञानोदयो–दया–भवति'' इति मां.पाठः.
४.''क्षरात्मकः श्रद्धाप्रचुरः स–न् यः'' इति मां.पाठः.
५.''यच्छ्रद्धः यस्य श्रद्धः यस्य श्रद्धायुक्तो''इति मां.पाठः.
६. ''...राक्षसांश्च यजन्ते'' इति मां.पाठः.
७. ''हृदय शुद्धम्'' इति मुद्रितपाठः.
८. 'रोगाभावं' इति मां.पाठः.
९. 'धर्मादर्थो...' इति मुद्रितपाठः.
१०. 'पर्वयज्ञावशेषः' इति मुद्रितपाठः.
११. 'जनन्याद्युपहृतः' इति मां.पाठः.
१२. 'राजकादिः' इति मुद्रिपाठः.
१३.'पात्रान्नरहितम्' इति मुद्रितपाठः.
१४. 'मनस्स्वच्छता' इति मुद्रितपाठः.

१५. ‘‘...रिभिः तप्तम्’ इति मुद्रितपाठः.
१६. ‘‘क्रियते तु चलम्’’ इति मुद्रितपाठः.
१७. ‘‘प्रोक्तं शास्त्रेषु’’ इति मुद्रितपाठः.
१८. ‘‘कुरुक्षेत्रादौ ग्रहणादौ’’ इति मुद्रितपाठः.
१९. ‘अश्रद्धावस्थायाम्’ इति मुद्रितपाठः.
२०. ‘...पूर्वकतिरस्कारम्’ इति मुद्रितपाठः.
२१. ‘‘...सहनरूपे ज्ञानरूपम्’’ इति मुद्रितपाठः.
२२. ‘तेन’ इति मां.पाठः.
२३. ‘ब्रह्मजाः’ इति मुद्रितपाठः.
२४.‘‘भक्तानां मुमुक्षूणाम्’’ इति मुद्रितपाठः.
२५.‘‘क्रिया क्रियन्ते’’ इति मुद्रितपाठः.
२६.‘भगवत्पर–त्वम्’ इति मुद्रितपाठः.
२७. ‘‘लोके न फलम्’’ इति मुद्रितपाठः.

V

मोक्षसन्न्यासयोगाख्यो अष्टादशो अध्यायः

अष्टादशानां विद्यानां फलमेतद्यतो मतम्।
सर्वत्यागेन कर्त्तव्यो ह्याश्रयः सर्वभावतः।।१।।
अतः पार्थाय सुप्रीतः प्राहाष्टादशसंज्ञके।
अध्याये स्वाश्रयं श्रीमत्कृष्णो देवकिनन्दनः।।२।।

अत्र सप्तदशाध्यायैः भगवद्वाक्यतरणिकिरणविपाटितहृदयमोहान्धकारो अर्जुनः सन्न्यासकर्मफलत्यागयोरेव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वनिश्चयप्रकाशितहृत्सरोरुहः स्वबुद्धिनिश्चयेन सन्न्यासोत्तमज्ञानोऽपि भगवदुक्तस्वमुख्यत्वज्ञानेन तत्सिसाधयिषुः तयोः तत्त्वं पृच्छति **सन्न्यासस्य** इति.

अर्जुनः उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वम् इच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन।।१।।

हे हृषीकेश एतत्तत्त्वज्ञानार्थं मदिन्द्रियप्रेरक ''**सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्याऽस्ते सुखं वशी, सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि**'' (५।१३) इत्यादिना **सन्न्यासस्य** स्वप्राप्तिः उक्ता, तत्र तस्य **तत्त्वं** यादृशेन त्वत्प्राप्तिः भवति तादृक् तत्त्वं, **हे महाबाहो अहं वेदितुं** ज्ञातुम् **इच्छामि,** तज्ज्ञापय इति अर्थः. महत् क्रियाशक्तिमत्, स्वोद्धारणसमर्थ त्वत्सम्बन्धेन एतत्तत्त्वोपदेशेन माम् उद्धर! इति उक्तं भवति. **च** पुनः **हे केशिनिषूदन** दैत्यनिवारक दैत्यावेशेन कायक्लेशादिककृतत्यागात् पृथक् त्यागस्य त्वत्सेवार्थकृतत्यागस्य तत्त्वं मुख्यरूपं वेदितुं ज्ञातुम् इच्छामि।।१।।

अस्य उत्तरम् आह श्रीभगवान् **काम्यानाम्** इति.

श्रीभगवान् उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

काम्यानां ''ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत''. ''सर्वपाप्मानं तरति

ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते'' (आप.श्रौ.सू.१०।१।२।१) इत्यादिकर्मणां **न्यासं** परित्यागं **कवयो** निर्दुष्टशब्दरसिका: **सन्न्यासं विदु:** जानन्ति इति अर्थ:. अत्र अयं भाव: **:** 'सन्न्यास'शब्देन सम्यक्प्रकारेण न्यासं स्थापनं तत् च काम्यानां कामितफलपरित्यागेन भगवदर्थफलार्थस्थापनरूपं शब्दार्थज्ञानेन ते जानन्ति. एतेन तेषामपि शब्दार्थज्ञानवत्त्वमेव उक्तं, नतु तत्त्वज्ञानवत्त्वम् इति भाव:. किञ्च ये **विचक्षणा**: विशेषेण व्याख्यानसमर्था: चातुर्यादियुक्ता: सर्वकर्मणां नित्य-नैमित्तिकानामपि **फलत्यागं** त्यागं **प्राहु:**. यद्यपि नित्यकर्मसु फलं न श्रूयते ''**अहरह: सन्ध्याम् उपासीत**'' ''**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्**'' इत्यादिषु, तथापि प्रत्यवायपरिहारएव फलम् इति कल्पयन्ति. एतदेव विचक्षणत्वेन उक्तम्. तेऽपि तत्त्वं न जानन्ति इति अर्थ:।।२।।

त्याज्यं दोषवद् इत्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण:।
यज्ञ-दान-तप: कर्म न त्याज्यम् इति चापरे।।३।।

किञ्च **त्याज्यम्** इति. **एके** मनसः ईक्षिणो[१] **मनीषिणो** विवेकिन: **दोषवत् कर्म** ज्ञानादिसाधनरहितं **त्याज्यम् इति प्राहु:** प्रकर्षेण प्रामाण्यादिना आहु:. **अपरे** कर्मवादिनो मीमांसका: **यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यम् इति** आहु: विहितत्वात्. ''**तस्माद् यज्ञं परमं वदन्ति**'' (महाना.उप.१७।१०) ''**तस्माद् दानं परमं वदन्ति**'' (तत्रैव १७।५) इति च ''**तस्मात् तप: परमं वदन्ति**'' (तत्रैव १७।५) इति च. एतेन ते कर्मणएव ईश्वरत्वं वदन्ति अतः तेऽपि न जानन्ति।।३।।

एवं सर्वेषां तत्त्वाज्ञानेन मतानि उक्त्वा तन्मतेषु तत्त्वज्ञानार्थं तन्मतनिश्चितं स्वमतम् आह **निश्चयम्** इति.

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविध: सम्प्रकीर्तित:।।४।।

तत्र बहुभिः बहुधा प्रपञ्चिते **त्यागे हे भरतसत्तम** सत्कुलोत्पन्नत्वेन श्रवणयोग्य **मे** मत्तो **निश्चयं** निर्धारितं **शृणु**. एवम् अभिमुखीकृत्य आह **हे पुरुषव्याघ्र** पुरुषश्रेष्ठ पुरुषस्य भगवद्भजनाधिकारित्वात् तेषु श्रेष्ठत्वोक्तौ

व्याघ्रत्वोक्त्या तथा श्रवणानन्तरं करणेन पौरुषप्रकटनसमर्थत्वं ज्ञापयित्वा आह **त्यागो हि** इति. त्यागो निश्चयेन **त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः** सम्यक्प्रकारेण कथितः।।४।।

त्रिविधत्वं पश्चाद् वक्ष्यति (१८।७ ९) पूर्वं निश्चयम् आह **यज्ञदान** इति द्वयेन.

यज्ञ–दान–तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञादिकं **कर्म न त्याज्यं** यतः **कार्यम्** अवश्यं कर्त्तव्यं तत् प्रत्यवायपरिहारार्थम्. **यज्ञो** यजनं, **दानं तपश्च मनीषिणां** ज्ञानिनां तत्स्वरूपविदुषां स्वरूपज्ञाने कृतानि एतानि **पावनान्येव** चित्तशोधकानि, अतः एतत् त्रितयात्मकं कर्म कार्यम्. **'एव'**कारेण न अन्यफलाभिलाषया कर्त्तव्यानि इति व्यञ्जितम्।।५।।

यथा कृतानि पावनानि भवन्ति तथा आह **एतानि** इति.

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतम् उत्तमम्।।६।।

तु पुनः पावनार्थकान्यपि **एतानि** यज्ञादीनि **कर्माणि सङ्गं** तदभिनिवेशं, **च** पुनः **फलानि** स्वर्गसुखादीनि **त्यक्त्वा** मनोभिलाषाभावेन कर्त्तव्यानीति मदाज्ञात्वेन **कर्त्तव्यानि इति मे निश्चितं** पूर्वोक्तमतेषु उत्तमं **मतम्।**।६।।

एवं निश्चितार्थम् उक्त्वा पूर्वोक्तत्रैविध्यम् आह **नियतस्य** इति त्रयेण.

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः।।७।।

नियतस्यतु नियतस्य भक्त्यङ्गत्वेन उक्तस्य पुनः **कर्मणः सन्न्यासः** त्यागो **न उपपद्यते** न उप समीपे भगवतः पद्यते, प्राप्तो भवति इति अर्थः. अतः तादृशकर्मणः त्यागएव मोक्षार्थकः इति **मोहाद्** भ्रमेण यः **तस्य परित्यागः** सः

तामसः अज्ञानात्मकः **परिकीर्तितः**।।७।।

राजसम् आह **दुःखम् इत्येव** इति.

दुःखम् इत्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

त्यागो भगवदासक्त्या भगवदर्थकः इति अज्ञात्वा **दुःखम् इत्येव** लौकिक–राजससुखप्रतिबन्धकं ज्ञात्वा **कायक्लेशभयाद्** आयाससाध्यभयेन **यत् कर्म** यः त्यजेत्, **सः राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं** मत्प्रसादादिरूपं **न लभेदेव** न प्राप्नोत्येव इति अर्थः।।८।।

सात्त्विकम् आह **कार्यम् इत्येव** इति.

कार्यम् इत्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

नियतं भक्त्यङ्गत्वेन **कार्यम् इत्येव** मदाज्ञात्वेन अवश्यकर्त्तव्यमेव, एवं ज्ञात्वा **सङ्गं त्यक्त्वा** तत्कर्तृत्वाभिमानं **फलं** तज्जं स्वर्गादिसुखं च त्यक्त्वा **यत् कर्म क्रियते सः त्यागएव सात्त्विकः** मदाज्ञारूपकरणेन स्वार्थं फलाभावात् सात्त्विकः. अतएव **मतः** मत्सम्मतः इति अर्थः।।९।।

ननु सङ्गं फलं च त्यक्त्वा यत्कर्म करोति तस्य त्यागरूपता सात्त्विकता च कथं सम्पद्यते? इति आशङ्क्य आह **न द्वेष्टि** इति.

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अकुशलं स्वरूपतः क्लेशादिसाधकं पश्चात् च दुःखाप्तिरूपं तादृशं **न द्वेष्टि** किन्तु भगवदाज्ञारूपत्वात् तत्समये पुनः करणाद् अतएव भवेत्. **कुशले** कृतकर्मजातसुखोऽपि मदाज्ञाव्यतिरिक्तोत्तमत्वज्ञानेन सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वात्मकधैर्यवान् **न अनुषज्जते** न आसक्तो भवति इति अर्थः. तत्र हेतुः **मेधावी** बुद्धिमान् [३] **छिन्नसंशयः** मत्स्वरूपज्ञानेन छिन्नसन्देहः मदिच्छयैव

सुखदु:खादिज्ञानेन कर्मसु द्वेषासक्तिरहितो यः सः त्यागी इति ज्ञातव्यः इति अर्थ:।।१०।।

ननु कर्मफलत्यागे तत्करणं किम्प्रयोजनम्? इति अतः आह **न हि** इति.

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषत:।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

देहभृता देहाध्यासवता **अशेषत: कर्माणि त्यक्तुं न शक्यम्. ही** ति युक्तश्च अयम् अर्थ:. देहाध्यासे फलापेक्षणात् लोकापेक्षणाच्च कथं त्याग: कर्त्तव्य:? इति. यतो **यस्तु** यश्च पुन: **कर्मफलत्यागी** कृतकर्मणां फलानभिलाषी **सः त्यागी इति अभिधीयते**।।११।।

एवं कर्मफलत्यागिनः त्यागित्वम् उपपाद्य अथ कर्मफलत्यागम् आह **अनिष्टम् इष्टम्** इति.

अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।।१२।।

कर्मण: फलं त्रिविधम् अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च. तत्र अनिष्टं नरक-शूकरादियोनिप्राप्तियातनारूपम्, इष्टं देवभावेन स्वर्गादिसुखरूपम्, मिश्रं सन्मनुष्यजन्मराज्यादिभोगरूपम्. तत्त्रिविधं कर्मफलम् **अत्यागिनां** कर्मफलात्यागिनां **प्रेत्य** परत्र लोके भवति. **नतु क्वचिदपि सन्न्यासिनां** कर्मफलत्यागिनां भवति इति अर्थ:।।१२।।

ननु सङ्गफलपरित्यागेऽपि कर्मकर्त्तु: फलन्तु सम्भावितमेव, भोजनतृप्तिवद् औषधार्थभक्षित-मादकद्रव्यजोन्मादवत्, अत: कथं फलं न भवेद्? इति आशङ्क्य आह **पञ्च एतानि** इति श्लोकपञ्चकेन.

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

हे **महाबाहो** फलत्यागक्रियाकरणसमर्थ **सर्वकर्मणां सिद्धये** फलाप्तये **साङ्ख्ये** त्यागात्यागनिर्णायिके **कृतान्ते** कृतस्य कर्मणो अन्त: समाप्तिः यत्र सः

कृतान्तो वेदान्तः तस्मिन् **प्रोक्तानि**. **एतानि** अग्रे प्रोच्यमानानि **पञ्च** कारणानि **मे** मत्तो **निबोध** जानीहि।।१३।।

एवं प्रतिज्ञाय तान्येव आह **अधिष्ठानम्** इति.

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

अधिष्ठानं लिङ्गशरीरं, **कर्ता** कर्तृत्वात्मकाभिमानरूपो अहङ्कारः, **करणं च** इन्द्रियाणि, **पृथग्विधम्** अनेकप्रकारकम्. '**च**'कारेण स्वाधिदैविक-सहितम्. **विविधाः** कार्यकारणफलादिभिः अनेकप्रकारकाः. पृथग्भूताः भिन्नरूपेण जाताः प्राणादीनां **चेष्टा** व्यापाराः. अत्र एतन्मध्यएव सर्वप्रेरको अन्तर्यामी **दैवं पञ्चमं** मुख्यं कारणम् इति अर्थः. '**एव**'कारेण तदविरोधेन अन्येषां कारणत्वम् उक्तम्।।१४।।

पञ्चानामेव सर्वकर्महेतुत्वम् आह **शरीर** इति.

शरीर–वाङ्–मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

कर्म त्रिविधं शारीरं, वाचनिकं मानसिकम्. अतः **शरीरवाङ्मनोभिः यत्कर्म नरो** मनुष्यः **प्रारभते न्याय्यं वा** मदाज्ञया मदिच्छारूपं, **विपरीतं** स्वफलभोगार्थरूपं [४]स्वकर्तृकज्ञानरूपं विपरीतम् अन्याय्यं **वा** प्रारभते **तस्य** एते पूर्वोक्ताः **पञ्च हेतवः**, कारणरूपा इति अर्थः. विकल्पवाचक'वा'शब्दद्वयेन मदिच्छाज्ञानाभावे न्याय्यस्य वेदोक्तत्वेन अवश्यप्राप्तस्याऽपि विपरीतत्वं तज्ज्ञाने विपरीतस्याऽपि न्याय्यत्वम् इति ज्ञापितम्।।१५।।

किमतो यदि एवम् अतः आह **तत्र** इति.

तत्रैवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

तत्र सर्वकर्मसु पञ्च हेतवो मत्प्रेरिताः इति **एवं सति** सः **केवलम्** एकम्

आत्मानं जीवं 'तु'शब्देन **अकर्तारं, यो अकृतबुद्धित्वाद्** गुरूपदेश-प्राप्तविवेकाभावाद् **दुर्मतिः** दुर्बुद्धिः स्वमौढ्येन **पश्यति, सः न पश्यति** आत्मानं मां च इति भावः. एवं यः कर्म करोति तस्य तत्फलं[5] भवति इति भावः।।१६।।

अथ गुरूपदेशकृतबुद्धेः मदाज्ञया अवश्यकर्त्तव्यत्वेन मदिच्छया जायमानत्वेन च अहङ्काररहितस्य कर्मफलाभावं कैमुतिकन्यायेन प्रदर्शयन् आह **यस्य** इति.

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

अहङ्कृतः अहं कर्ता इति एतादृशो मिथ्याभिनिवेशरूपो भावो **यस्य न** अस्ति. किञ्च **यस्य बुद्धिः** मदिच्छया [6]जातसुखदुःखफलेषु कृतकर्मजज्ञाने **न लिप्यते** न सज्जते, **सः इमान् लोकान्** आसुरान् मदिच्छया **हत्वाऽपि** लोकैः हन्तृत्वेन परिदृश्यमानोऽपि **न हन्ति**. किन्तु मदिच्छयैव हन्ति; अतएव तेन कर्मणा **न निबध्यते,** बन्धनं न प्राप्नोति इति अर्थः. यत्र विपरीतकर्मबन्धनाभावः तत्र विहितकर्मणा मत्सेवादिप्रतिबन्धक-फलाप्रतिबन्धे किं वाच्यम्? इति भावः।।१७।।

किञ्च. कर्मप्रेरणमपि त्रिगुणात्मकं, तत्फलं च त्रिगुणं त्रिगुणानामेव कर्तॄणां भवति, निर्गुणस्य च फलाननुसन्धानेन मदाज्ञया करणात् तत्तत्फलानधिकारित्वादपि बन्धो नास्ति इति आह **ज्ञानम्** इति.

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः।।१८।।

ज्ञानं फलस्वरूपावबोधपूर्वकात्माधीनत्वेन अवबोधः, **ज्ञेयं** फलसाधकं कर्म **परिज्ञाता** ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपज्ञः तदाश्रयभूतो जीवः. एवं ज्ञानादित्रयम् अधिकृत्य **कर्मचोदना** कर्मप्रेरणा **त्रिविधा**. एवं **करणं** साधकं **कर्म** तत्फलकक्रिया **कर्त्ता** क्रियाप्रवृत्तिमान्, **इति** अमुना प्रकारेण **कर्मसङ्ग्रहः** कर्म सङ्गृह्यते अस्मिन् इति कर्मसङ्ग्रहः. करणादित्रयमपि कारकं क्रियाश्रयात्मकः सोऽपि त्रिविधः. अनेन निर्गुणानधिकारित्वं निरूपितम्।।१८।।

अथ ज्ञानादित्रयमपि त्रिगुणभेदेन प्रत्येकं त्रिविधम् अस्ति इति आह **ज्ञानम्** इति.

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावत् श्रुणु तान्यपि।।१९।।

ज्ञानं साधनं **कर्म** क्रिया, **कर्त्ता** पुरुषः एतत्त्रयमपि गुणभेदेन सात्त्विकादि**भेदतः त्रिधैव**. **गुणसङ्ख्याने** गुणाः कार्यभेदेन सङ्ख्यायन्ते निरूप्यन्ते गण्यन्ते वा अस्मिन् इति साङ्ख्यशास्त्रे **प्रोच्यन्ते तान्यपि** तत्र उक्तानि **यथावद्** मदुक्तानि **शृणु**. ''साङ्ख्यप्रोक्तानि तान्यपि शृणु'' इति उक्त्या सप्तदशाध्याये स्वोक्तत्रैविध्यस्य निर्गुणसाम्यत्वेन उत्तरोत्तरं कृतानि निर्गुणाधिकारसम्पादकानि कर्माणि भवन्ति, नतु एतानि इति स्वरूपवैजात्यज्ञानार्थं श्रोतव्यानि इति ज्ञापितम्।।१९।।

एवं कथनं प्रतिज्ञाय पूर्वं ज्ञानत्रैविध्यम् आह; तत्र प्रथमं सात्त्विकत्वं ज्ञानस्य आह **सर्वभूतेषु** इति.

सर्वभूतेषु येनैकं भावम् अव्ययम् ईक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

येन ज्ञानेन सर्वेषु [९]भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु **विभक्तेषु** वैचित्र्यार्थं नानारूपैः परस्परं भिन्नेषु **अविभक्तम्** अनुस्यूतम् एकं भावं भगवत्क्रीडारूपम्, अतएव **अव्ययं** निर्विकारम्, **ईक्षते** आलोचनात्मकतया पश्यति **तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि**।।२०।।

राजसम् आह **पृथक्त्वेन** इति.

पृथक्त्वेन तु यज् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज् ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

ज्ञानस्य सात्त्विकात्मकत्वाद् वक्ष्यमाणज्ञानस्य शब्दमात्रसाम्यत्वज्ञापनाय[१०] **तु** शब्दः. **पृथक्त्वेन** क्रीडामयैक्य[११]राहित्येन **तु नानाभावान्** अनेकान् जीवान् **पृथग्विधान्** नानाभिलाषरूपान्[१२] सुखिदुःखीत्यादिपशुपक्षिमनुजतृणस्तम्बादीन्

सर्वेषु भूतेषु येन पश्यति **तज्ज्ञानं राजसं** विक्षिप्तमानसात्मकं विद्धि।।२१।।

तामसं ज्ञानम् आह **यत्तु** इति.

यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्।।२२।।

यद् एकस्मिन् कार्ये भक्ते लीलास्वरूपे वा **कृत्स्नवत्** पूर्णवद्, नतु सर्वलीलासामग्र्यादिविशिष्टाविर्भूतभगवदनुभवानन्दभगवद्रूपत्वेन **सक्तम्**, आसक्तम्[१३], **अहैतुकं** भगवदाकारत्वेन तत्स्मारकानन्दानुभवोपपत्तिरहितम्, **अतत्त्वार्थवद्** भगवदाविर्भाववियुक्तम्, **अल्पं** परिच्छिन्नं स्वरूपतः फलतश्च तज्ज्ञानं **तामसं** निष्फलं विपरीतफलं वा **उदाहृतम्**।।२२।।

एवं ज्ञानस्वरूपम् उक्त्वा त्रिविधकर्मरूपम् आह **नियतम्** इति.

नियतं सङ्गरहितम् अरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकम् उच्यते।।२३।।

नियतं नित्यं **सङ्गरहितम्** अज्ञानासक्तिरहितम्, **अरागद्वेषतः कृतं** संसारानुरागेण शत्रुमारणाद्यर्थं द्वेषेण रहितम्, **अफलप्रेप्सुना** फलानभिलाषेण भगवत्तोषहेतुत्वेन कृतं **कर्म (यत्) तत् सात्त्विकम् उच्यते**।।२३।।

राजसं कर्म आह **यत्तु** इति.

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसम् उदाहृतम्।।२४।।

यत् पुनः **कर्म कामेप्सुना** फलप्राप्त्यभिलाषेण वा, फलाभिलाषरहितेन **साहङ्कारेण** लोकेषु स्वमहत्त्वख्यापनाय **पुनः बहुलायासम्** अतिक्लेशयुक्तं शारीरोपद्रवसहितं क्रियते **तत्** कर्म **राजसम् उदाहृतम्**।।२४।।

तामसं कर्म आह **अनुबन्धम्** इति.

अनुबन्धं क्षयं हिंसाम् अनपे(वे)क्ष्य च पौरुषम्।
मोहाद् आरभ्यते कर्म यत् तत् तामसम् उच्यते।।२५।।

अनुबन्धम्, अनु कर्मकरणानन्तरं बन्धः तज्जनित–शुभाशुभफलरूपः तं[१४], **क्षयं** व्यर्थदेहात्मकमोक्षसाधनव्ययं, **हिंसाम्** आत्मनः संसारपातनरूपां **पौरुषं** पुरुषार्थं[१५] मोक्षं **'च'**कारेण धर्ममपि **अनवेक्ष्य** अपर्यालोच्य **मोहात्** स्वसुख–भोगभ्रमात् **आरभ्यते** तत् **कर्म तामसं**[१६] विपरीतफलात्मकम् उदाहृतम् ।।२५।।

कर्म निरूप्य कर्तारं त्रिविधम् आह **मुक्तसङ्गः** इति.

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

मुक्तसङ्गः त्यक्तासक्तिः **अनहंवादी** साभिमानोक्तिशून्यः **धृत्युत्साहसमन्वितः** धृतिः धैर्यं दुःखादिसहनरूपम् उत्साहः उत्तमत्वज्ञानेन उद्यमः ताभ्यां समन्वितो युक्तः **सिद्ध्यसिद्ध्योः** कृतकर्म–फलाफलयोः **निर्विकारः** हर्षविषादरहितः एतादृशः [१७]कर्म**कर्ता सात्त्विकः उच्यते**।।२६।।

राजसम् आह **रागी** इति.

रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

रागी स्वसम्बन्धित्वज्ञानभ्रमेण तदर्थप्रयत्नेन लौकिकासक्तः **कर्मफलप्रेप्सुः** कर्मफलाभिलाषप्रवृत्तिमान्, **लुब्धः** बहुफलाल्पकर्म–श्रुतप्रामाण्यवधृति[१८]–सर्वाभिलाषप्रवृत्तः, **हिंसात्मकः** परपीडनस्वभावः **अशुचिः** स्नानाचमनादि–शौचविहीनः **हर्षशोकान्वितः** फलसिद्धौ हर्षः असिद्धौ शोकः ताभ्याम् अन्वितः एतादृशः [१९]कर्म**कर्त्ता राजसः** विक्षिप्तस्वभावः **परिकीर्तितः** कथितः।।२७।।

तामसम् आह **अयुक्तः** इति.

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

अयुक्तः पूर्वापरानुसन्धानरहितः **प्राकृतः** प्रकृतिजन्यसद्भावरहितः **स्तब्धः** अनम्रः **शठो** धूर्तः **नैष्कृतिकः** सर्वावमानी कृतावमानी वा **अलसः** अनुद्यमी, **विषादी** अकार्यशोचनस्वभावः **दीर्घसूत्री** क्षणसाध्यकार्यस्य माससम्पादनशीलः एतादृशः **कर्त्ता तामसः उच्यते**।।२८।।

''**ज्ञानं ज्ञेयम्**''(१८।१८) इत्यत्र ज्ञेय-परिज्ञात्रोश्च उल्लेखः कृतः सो अत्र कर्तृत्रैविध्ये परिज्ञातुः प्रवेशः कर्मत्रैविध्ये च ज्ञेयस्य. करणस्य निरूपणार्थं बुद्धेः धृतेश्च त्रैविध्यं[२०] प्रतिजानीते **बुद्धेः** इति.

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।

प्रोच्यमानम् अशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

बुद्धेः इन्द्रियात्मिकायाः **धृतेः चैव गुणतः त्रिविधं** भेदं **पृथक्त्वेन** भिन्नत्वेन मया इति शेषः. **प्रोच्यमानम् अशेषेण हे धनञ्जय** सर्वत्र उत्कर्षयुक्त **शृणु**।।२९।।

एवं सावधानं कृत्वा बुद्धित्रैविध्यम् आह **प्रवृत्तिम्** इति त्रयेण.

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

प्रवृत्तिं भगवदिङ्गितधर्मे, **निवृत्तिं** तदभावरूपे अधर्मे. **कार्याकार्ये** सत्परिपन्थ्यभावे देशे भजनं कार्यम्, अतथाभूते वा भजनातिरिक्तं सर्वमेव अकार्यम्. तथा भगवत्सम्बन्धरहितसम्बन्धे **भयं** भगवद्विस्मरणात्मकमृत्युरूपं, तत्सम्बन्धिन्यभयं **भयाभावं, बन्धं** भगवत्सेवाज्ञाभावकर्मणि, **मोक्षं** सेवादिकर्मणि, इति **या बुद्धिः वेत्ति** जानाति, **हे पार्थ** तथाज्ञानयोग्य **सा** बुद्धिः **सात्त्विकी** सत्त्वसम्बन्धिनी, ज्ञातव्या इति शेषः।।३०।।

राजसीम् आह **यया** इति.

यया धर्मम् अधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।

अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

यया बुद्ध्या **धर्मं** भगवदिच्छारूपम्, **अधर्मम्** अनिच्छात्मकं, **कार्यं** भगवद्भजनम्, **अकार्यं** तदतिरिक्तं कर्म, **अयथावत्** सन्दिग्धम्, अन्यथा वा **प्रजानाति, हे पार्थ सा बुद्धिः राजसी**।।३१।।

तामसीम् आह **अधर्मम्** इति.

अधर्मं धर्मम् इति या मन्यते तमसाऽऽवृता।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

या तमसा अज्ञानेन **आवृता** सती **अधर्मं** भगवदिच्छाननुरूपम् अकर्तव्यं **धर्मं** फलदातृ कर्तव्यम् **इति मन्यते, च** पुनः **सर्वार्थान्** अकार्यकार्याभयभयादीन् **विपरीतान् मन्यते,** हे पार्थ **सा** बुद्धिः **तामसी** मन्तव्या इति अर्थः।।३२।।

अथ धृतेः त्रैविध्यम् आह **धृत्या** इति.

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

यया अव्यभिचारिण्या विषयान्तराभिलाषरहितया **धृत्या** योगेन सर्वतो मनस्सङ्गनिवृत्तिपूर्वकभगवदेकपरचित्तेन **मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः** मनसः चाञ्चल्यरूपाः, प्राणस्य क्षुदुद्बोधरूपा इन्द्रियाणां विषयाभिलाषरूपाः **क्रियाः धारयते** नियच्छति, **हे पार्थ सा धृतिः सात्त्विकी** उच्यते इति अर्थः।।३३।।

राजसीम् आह **यया** इति.

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

तु पुनः, **हे अर्जुन** नाम्नैव मुक्त्यधिकारिन् **यया धृत्या फलाकाङ्क्षी** फलाभिलाषयुक्तः सन् **प्रसङ्गेन** फलप्रसङ्गेन नतु मद्भजनौपयिकत्वेन धर्मार्थकामान् **धारयते** पोषयति तद्बुद्ध्युक्तसाधनैः **हे पार्थ सा धृतिः राजसी** रजःसम्बन्धिस्वभोगादिरूपफला, उच्यते इति अर्थः।।३४।।

तामसीम् आह **यया** इति.

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

दुर्मेधाः दुर्बुद्धिः[२१] **यया** आग्रहरूपया **स्वप्नं** निद्रां मोहरूपां **भयं** भगवदिच्छाज्ञानेन शत्रुचौरादिभ्यो मृत्युतो वा, **शोकं** भगवत्कृतार्थस्य असमीचीनज्ञानेन चिन्तनम्, **विषादं** सखेदं, **मदं** स्वाज्ञानरूपम् **'एव'**कारेण मांसादिभक्षणं **च न विमुञ्चति** विशेषेण सदोषत्वज्ञानाभावेनापि करणम्, एवं या न त्यजति **हे पार्थ सा धृतिः तामसी** निष्फला इति अर्थः।।३५।।

एवं धृतित्रैविध्यम् उक्त्वा तस्याः सुखफलात्मकत्वाद्[२२] सुखत्रैविध्यकथनं प्रतिजानीते **सुखम्** इति.

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।

अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

इदानीं धृतिज्ञानानन्तरं **सुखं** पुनः **त्रिविधं, हे भरतर्षभ** सुखश्रवणयोग्य **मे** मत्तः **शृणु.** एवं प्रतिज्ञाय तत्त्रैविध्यम् आह **अभ्यासाद्** इति. **अभ्यासाद्** निरन्तरानुशीलनाद् **यत्र** यस्मिन् **रमते** आनन्दानुभवं प्राप्नोति, नतु आपाततो विषयसुखइव क्षणमात्रानुभवम् आप्नोति, **च** पुनः यदनुशीलने **दुःखान्तं** संसारान्तं नितरां **गच्छति**।।३६।।

यत् तद् अग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् आत्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

किञ्च. **यत्तद्** वक्तुम् अशक्यम् अनुभवैकवेद्यम् **अग्रे** प्रथमं **विषमिव** लौकिकसुखपरित्यागे जीवितहरणवत् कटुतया परिभाति, **परिणामे** फलपरिपाकदशायां **अमृतोपमम्** अतिमधुरं मोक्षतुल्यं वा **आत्मबुद्धिप्रसादजम्** आत्मसम्बन्धिनी मदंशसम्बन्धिनी या बुद्धिः तत्प्रसादो नाम रजस्तमोजविकार-राहित्येन शुद्धत्वं तज्जं **तत् सुखं सात्त्विकं** सत्त्वसम्बन्धजं **प्रोक्तम्** उक्तं[२३] तज्ज्ञैः इति शेषः।।३७।।

राजसम् आह **विषयेन्द्रिय** इति.

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तद् अग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

विषयाणाम् इन्द्रियाणां च संयोगात् [२४]**यत् तत्** प्रसिद्धं स्रग्गन्ध-वस्त्राभरण-स्त्रीसङ्गादिरूपं भगवत्सम्बन्धरहितं[२५] सुखं **अग्रे** प्रथमम् आपाततः **अमृतोपमम्** अतिमिष्टतमं, **परिणामे** फलदशायां **विषमिव** भगवद्विस्मृति-कारकत्वेन जीवहरणैकस्वभावं **तत्सुखं राजसं स्मृतं** प्रसिद्धम् इति अर्थः।।३८।।

तामसम् आह **यदग्रे** इति.

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसम् उदाहृतम्।।३९।।

यद् अग्रे प्रथमं **च** पुनः **अनुबन्धे** पश्चात् परिणामदशायां **च निद्रालस्यप्रमादोत्थं** निद्रा इन्द्रियापटुत्वेन सुखदुःखाभावात्मकानन्ददशात्मिका, आलस्यं क्रियाकरणेन शैथिल्येन या[२६] स्थितिः, सुखाभिमानः प्रमादः कर्त्तव्यपूजाध्ययनकर्मानवधाने तूष्णींस्थितिरूपाज्ञानस्य आनन्दभ्रमः एतेभ्यः उत्थितम्, **आत्मनो** जीवस्य **मोहनं** मोहकारकं भगवद्विस्मरणकारकं **सुखं तामसं** निष्फलं **समुदाहृतं** सम्यक्प्रकारेण उदाहृतम्. ज्ञानिभिः इति शेषः।।३९।।

एवं यज्ञादीनां सर्वेषां त्रिविधरूपम् उक्त्वाऽपि अथ स्वसम्बन्धातिरिक्तस्य त्रिगुणात्मकतां सर्वस्य आह **न तद् अस्ति** इति.

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यद् एभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

एभिः प्रकृतिजैः प्रकृत्युद्भवैः **त्रिभिः** सात्त्विकादिभिः **गुणैः मुक्तं** रहितं **सत्त्वं** प्राणिजातं यत्स्थावरादिकम् अन्यद्वा **पृथिव्यां** मनुष्येषु, 'वा'शब्देन नागादिलोकेषु च **दिवि** देवलोके **वा** पुनः **देवेषु** स्यात् तद् **न अस्ति** इति अर्थः. सात्त्विकादिष्वपि त्रैविध्यम् अस्ति इति **वा** पुनः इति अनेन केवलसात्त्विकत्वाद् देवेषु असम्भावितत्वाद् अस्त्येव इति निर्धारितम्।।४०।।

ननु एवं चेत् सर्वं त्रिगुणात्मकमेव तदा गुणात्मकस्य जीवस्य त्रिगुणात्मकबन्धकक्रियादिकरणात् कथं मोक्षः? इति आशङ्क्य शास्त्रद्वारा जीवोद्धारं कर्तुं शास्त्रस्वरूपज्ञानार्थं प्रसङ्गाद् अर्जुनाय गीतामाहात्म्यतः पूर्वोक्तम् उपसंहरन् मोक्षप्रकरणम् आरभते **ब्राह्मण** इत्यादि यावद् अध्यायसमाप्ति.

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

हे परन्तप परम् उत्कृष्टं तपो यस्य इति अनेन श्रवणयोग्यतोक्ता. **ब्राह्मणक्षत्रियविशां** त्रैवर्णिकानां **च** पुनः **शूद्राणां** वेदानधिकृतत्वात् शूद्राणां भिन्नतया कथनम् **स्वभावप्रभवैः**[२७] स्वभावः स्वस्य मम यो भावः सात्त्विकादि-भेदेन विचित्रदर्शनेच्छा तेन **प्रभवः** उत्पत्तिः येषां तैः एतादृशैः **गुणैः कर्माणि प्रविभक्तानि** प्रकर्षेण विभागतः सात्त्विकादेः विहितानि इति अर्थः।।४१।।

तत्र प्रथमं ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माणि आह **शम** इति.

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

शमः शान्तिः मत्परैकचित्तत्वं, **दमः** इन्द्रियोपसंयमः **तपः** शरीरक्लेशः **शौचं** बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं **क्षान्तिः** क्षमा **आर्जवं** सरलता. 'एव'कारेण कुटिलेष्वपि **च** इति अर्थः. **ज्ञानं** शास्त्रीयं, **विज्ञानं** अनुभवः **आस्तिक्यं** प्रमाणोक्तफलोत्कर्षे अस्ति इति निश्चयबुद्धिः एवम् एतत्सर्वं ब्राह्मणस्य **स्वभावजं** स्वभावाद् जातं **कर्म**।।४२।।

क्षत्रियस्य आह **शौर्यम्** इति.

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानम् ईश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्।।४३।।

शौर्यं पराक्रमः **तेजः** प्रगल्भता **धृतिः** धैर्यं **दाक्ष्यं** सर्वकर्मकौशलं, **युद्धे चापि अपलायनम्** अपराङ्मुखता. '**अपि**'शब्देन सर्वत्र अपलायनत्वं, **च**कारेण द्यूतादपि इति. **दानं** दानशीलता, **च** पुनः **ईश्वरभावः** नियमनैकस्वभावत्वम्,

एतत् **क्षात्रं कर्म** क्षत्रियस्य **स्वभावजं** स्व-स्वभावाद् जातं कर्म।।४३।।

वैश्यस्य आह **कृषि** इति.

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

कृषिः कर्षणं **गोरक्ष्यं** पशुपालनं, **वाणिज्यं** क्रयविक्रयात्मकम्, एतद् **वैश्यस्य** स्वभावाद् जातं **कर्म**. शूद्रस्य आह **परिचर्यात्मकम्** इति. त्रैवर्णिकसेवनात्मकं **शूद्रस्यापि स्वभावजं** स्वभावाद् जातं **कर्म**. यद्वा मत्परिचर्यात्मकं कर्म सर्वेषां पूर्वोक्तानां शूद्रस्यापि इति अर्थः।।४४।।

यदर्थं कर्म निरूपितं तद् आह **स्वे स्वे** इति.

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

स्वे स्वे स्व-स्वविहिते **कर्मणि अभिरतः** प्रीतियुक्तो **नरो** मनुष्यः **संसिद्धिं** सम्यक् सिद्धिं मत्प्रसादात्मिकां **लभते** प्राप्नोति.

ननु प्रीतिमात्रेण कथं सिद्धिः? इत्यतः आह **स्वकर्म** इति सार्द्धेन. **स्वकर्मनिरतः** स्वविहित-कर्मनिष्ठो यथा येन प्रकारेण **सिद्धिं विन्दति** जानाति तं प्रकारं **शृणु**।।४५।।

तं प्रकारमेव आह **यतः** इति.

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वम् इदं ततम्।
स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

यतो भगवतः **भूतानां** प्राणिनां **प्रवृत्तिः** उत्पत्तिः भवति, सर्वकर्मसु वा यतः प्रवृत्तिः प्रकर्षेण वर्तनम् अनुसरणं भवति, **येन** कारणरूपेण **इदं सर्वं** विश्वं **ततं** व्याप्तं, तं भगवन्तं **स्वकर्मणा** आत्मकर्मणा भक्त्या **अभ्यर्च्य** सम्पूज्य **मानवः** मनोः जातो मनुष्यः सद्धर्मरूपः **सिद्धिं विन्दति** लभते इति अर्थः।।४६।।

स्वकर्मार्चने विशेषम् आह **श्रेयान्** इति.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

स्वनुष्ठितात् सुष्ठु अनुष्ठितात् **परधर्मात्** कर्ममार्गीयाद् **विगुणो**ऽपि **स्वधर्मः** भगवद्धर्मः[२८] **श्रेयान्,** श्रेष्ठः इति अर्थः. ननु विगुणत्वात् कथं श्रेष्ठत्वम्? इत्यतः आह **स्वभाव** इति. **स्वभावनियतं** भगवद्भावनियमोक्तं **कर्म कुर्वन्** वैगुण्यजम् अन्यत्यागजं च **किल्बिषं न आप्नोति**।।४७।।

यतो विगुणोऽपि भगवद्धर्मः श्रेष्ठः, अतो भगवत्कर्म न त्याज्यम् इति आह **सहजम्** इति.

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः।।४८।।

हे कौन्तेय स्त्रीत्वदोषसाहित्येऽपि भक्तगुणानुगृहीत **सहजं** स्वाभाविकं भगवत्क्रीडेच्छया सह जातं **कर्म सदोषमपि** लौकिकमपि पुरुषं स्वस्मिन् प्रवृत्तिं **न त्यजेत्**. अतः सर्वथा सिद्धिप्रापकं कुर्यादेव इति अर्थः. कुतो न त्यजेद्? इत्यतः आह **सर्व** इति. **हि** निश्चयेन **सर्वारम्भाः** [२९]सर्वकर्मारम्भाः **धूमेन अग्निरिव दोषेण** मत्सम्बन्धाभावरूपेण **आवृताः**, अतः तानि स्वदोषेणैव त्यागं कारयन्ति यथा धूमावृत्तो अग्निः आर्द्रेन्धनं न अग्नितां सम्पादयति, धूमावृतत्वाद् न सुखसेव्यो भवति, निर्धूमस्तु तद्विपरीतत्वात् तथात्वं करोति, एवं मत्कर्माऽपि निर्दोषत्वाद् न त्यजेद् इति भावः।।४८।।

यतो मत्कर्म सदोषमपि न त्यजेद्, अन्यानि च स्वफलभोगं कारयित्वा त्यजन्ति ततः स्वयमेव तत्त्यागः कर्त्तव्यः तेन च [३०]सिद्धिं प्राप्नुयाद् इति आह **असक्त** इति.

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

सर्वत्र सर्वकर्मादिषु **असक्तबुद्धिः** असक्ता न संसक्ता[३१] न बुद्धिः यस्य

तादृश: **जितात्मा** वशीकृतान्त:करण: **विगतस्पृह:** फलाभिलाषरहित: **सन्न्यासेन परमाम्** उत्कृष्टां **नैष्कर्म्यसिद्धिं** कर्मनिवृत्तिफलरूपां सिद्धिम् **अधिगच्छति** प्राप्नोति इति अर्थ:. आसक्त्याद्यभिलाषान्ताभावकथनेन एतद्युक्तः त्यागेनापि सिद्धिं न प्राप्नोति तत्कर्मनिष्ठयैव[३२] भवति इति व्यञ्जितम्।।४९।।

अथ सिद्धिप्राप्तेः फलम् आह **सिद्धिम्** इति.

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

सिद्धिं पूर्वोक्तां **प्राप्त:** सन् **यथा** येन प्रकारेण **ब्रह्म** प्राप्नोति तं प्रकारं **मे** मत्त: **समासेनैव** सङ्क्षेपेणैव सुबोधरीत्या[३३] **निबोध** जानीहि. यो प्राप्तिः **ज्ञानस्य परा** उत्कृष्टा **निष्ठा,** स्थितिः इति अर्थ:।।५०।।

तदेव आह **बुद्ध्या** इति.

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।

शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।

विशुद्धया सर्वसङ्गरहितमदेकनिष्ठया **बुद्ध्या युक्तो धृत्या** मदिच्छाज्ञाने दु:खाद्याभासेऽपि मल्लीलाज्ञानात्मकधैर्येण **आत्मानं** जीवं **नियम्य** वशीकृत्य **'च'**कारेण अचलं[३४] कृत्वा **शब्दादीन् विषयान्** इन्द्रियेभ्यः **त्यक्त्वा च** पुनः **रागद्वेषौ** मित्रशत्रुज्ञानरूपौ **व्युदस्य** दूरीकृत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते इति तृतीयश्लोकेन अन्वय:।।५१।।

विविक्तसेवी लब्धाशी(प्र.पा.लघ्वाशी) **यतवाक्कायमानस:।**

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रित:।।५२।।

किञ्च. **विविक्तसेवी** एकान्ते मत्सेवनपर: **लब्धाशी** लब्ध: प्राप्तो यो मत्प्रसादो लाभरूपः तद्भोजनकृत्. **यतवाक्कायमानस:** यतानि वशीकृतानि कायवाङ्मनांसि येन स:. तथाहि वचनेन मन्नामकथाद्यतिरिक्तं न वदति, कायश्च मत्सेवातिरिक्तकार्ये न उपयाति, मनोऽपि मदन्यद् न स्मरति. **नित्यं ध्यानयोगपर:**

ध्यानेन यो योगो मत्संयोगः तस्मिन् परः तत्परः **वैराग्यं** सर्ववस्तुदोषालोचनात्मकं **समुपाश्रितः** सम्यग् उप समीपे आश्रितः. अनेन विकारसत्त्वेऽपि तद्राहित्यं निरूपितम् ।।५२।।

किञ्च **अहङ्कारम्** इति.

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

स्वज्ञानादिरूपं **बलं** सामर्थ्यं, **दर्पं** गर्वं, **कामं** विषयभोगरूपं, **क्रोधं** निष्ठुरवाक्यरूपं, **परिग्रहं** गृहस्त्र्यपत्यादिकं, **निर्ममो** ममतारहितः सन् विमुच्य त्यक्त्वा **शान्तो** भगवदनुभवाश्लिष्टो[३५] **ब्रह्मभूयाय** ब्रह्मात्मकस्वरूपावस्थानाय ब्राह्मेण(ब्रह्म.सू.४।४।५) इत्यादिसूत्रोक्तरीत्या **कल्पते** समर्थो भवति इति अर्थः।।५३।।

ब्रह्मात्मावस्थितेः फलम् आह **ब्रह्मभूत**ः इति.

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्मात्मावस्थितः **प्रसन्नात्मा** प्रसन्नम् आनन्दयुक्तं[३६] **आत्मा** चेतो यस्य तादृशः सन्, नष्टपदार्थेषु भगवल्लीलाज्ञानेन **न शोचति**, प्राप्तव्यं, तदिच्छां विना **न काङ्क्षति**. **सर्वेषु भूतेषु** कार्यात्मक-स्वरूपज्ञानेन **समः परां** प्रेमलक्षणां **मद्भक्तिं लभते**।।५४।।

भक्तिलाभफलम् आह **भक्त्या** इति.

भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

ततः तदनन्तरं **भक्त्या** भजनेन वा अगणितानन्दलीलारूपो यः च केवलम् आनन्दरसरूपो अस्मि तादृशं **मां तत्त्वतः** कारणात्मकधर्मैः **अभिजानाति** सर्वथा जानाति. **तदनन्तरं तत्त्वतो ज्ञात्वा मां** लीलाकर्त्तारं **विशते**, आनन्दरूपो

भवति इति अर्थः. यद्वा मां ज्ञात्वा विशते लीलासु इति शेषः।।५५।।

एवं स्वकर्मफलम् उक्त्वा स्वसम्बन्धिकर्मफलम् आह **सर्वकर्माण्यपि** इति.

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।

मत्प्रसादाद् अवाप्नोति शाश्वतं पदम् अव्ययम्।।५६।।

सदा निरन्तरं **मद्व्यपाश्रयः** अहमेव आश्रयणीयो यस्य तादृशः सन् **सर्वकर्माण्यपि** मदाज्ञारूपेण, नतु फलाभिलाषेण **कुर्वाणो मत्प्रसादात् शाश्वतम्** अनादि, **अव्ययम्** अविनाशि, एतादृशं **पदम्** अक्षरम् **अवाप्नोति**, प्राप्नोति इति अर्थः।।५६।।

यस्माद् मदाश्रितस्य कर्मकरणेऽपि तद्बाधरहितं फलं भवति अतः त्वमपि एवं कुरु इति आह **चेतसा** इति.

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगम् उपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

चेतसा बहिः अप्रदर्शयन् निष्कपटतया **सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य** मयि सम्यक्प्रकारेण न्यस्य[३७] स्थापयित्वा समर्प्य इति यावत्. मदाज्ञया कुर्वाणो **मत्परः** अहमेव परो मुख्यः प्राप्यो यस्य एतादृशः सन् बुद्ध्या व्यवसायात्मिकया **योगम्** उक्तप्रकारम् **उपाश्रित्य सततं** निरन्तरं **मच्चित्तः** मय्यैव चित्तं यस्य तादृशो **भव**।।५७।।

तादृग्भूते फलम् आह **मच्चित्तः** इति.

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।

अथ चेत् त्वम् अहङ्कारात् न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

मच्चित्तः सन् **सर्वदुर्गाणि** ऐहिकपारलौकिकसङ्कटस्थानानि कर्मकरणेऽपि [३८]तत्साधनयुक्तोऽपि मदाज्ञाकरणात् **मत्प्रसादात् तरिष्यसि**. विपक्षे बाधकम् आह **अथ** इति. अथ भिन्नप्रकारेण **अहङ्कारात्** स्वज्ञानाभिमानेन

अवश्यं कर्मभोगनैयत्याद् अकरणार्थं **चेत् त्वं न श्रोष्यसि** तदा **विनङ्क्ष्यसि** मत्सम्बन्धाद् भ्रश्यसि इति अर्थः।।५८।।

किञ्च **यद् अहङ्कारम्** इति.

यदहङ्कारम् आश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

यत् पूर्वोक्तं गुर्वादिहननाद्यधर्मरूपम् **अहङ्कारं** तदज्ञानम् **आश्रित्य** मद्वाक्याश्रवणेन **न योत्स्ये** न युद्धं करिष्यामि **इति मन्यसे** अध्यवस्यसे, **एषः ते** व्यवसायो निश्चयो **मिथ्या,** असद्रूपो निष्फलः इति अर्थः. पराधीनत्वाद् इति आह **प्रकृतिः** मदधीना मदाज्ञाविमुखं **त्वां नियोक्ष्यति** युद्धे प्रवर्त्तयिष्यति इति अर्थः. अत्र अयं भावः **:** मदाज्ञाविमुखस्य [३९]प्राकृतत्वेन ज्ञाते प्रकृतिनियोज्यत्वं, मदाज्ञाप्रवर्तमानस्य तदनियोज्यत्वम्।।५९।।

किञ्च **स्वभावजेन** इति.

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

हे कौन्तेय स्नेहपात्र **स्वभावजेन** मत्क्रीडोत्पन्नेन **स्वेन** [४०]**कर्मणा** क्षात्रकर्मणा शौर्यादिरूपेण **निबद्धो** यन्त्रितो **यद् मोहाद्** युद्धं **कर्तुं न इच्छसि, तद् अवशोऽपि करिष्यसि** अतो मदाज्ञयैव कुरु इति अर्थः।।६०।।

ननु ईश्वराज्ञाव्यतिरेकेण प्रकृति-कर्मणोः कथं तथात्वम्? इत्यतः आह **ईश्वर** इति.

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

हे अर्जुन वृक्षजातीयस[४१]नामत्वेन ज्ञानानर्ह **ईश्वरो** नियामकः तत्त्वेन **सर्वभूतानां हृद्देशे** हृदयमध्ये **तिष्ठति; मायया सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि** शरीरारूढानि **भ्रामयन्** तिष्ठति; यथा दारुयन्त्रारूढानि कृत्रिमभूतानि सूत्रधारः

चालयति तथा मायया भ्रामयन् तिष्ठति इति वा अर्थः. अतः ईश्वरप्रेरितानेव प्रकृतिः कर्म च साधकतया प्रेरयति इति अर्थः।।६१।।

माम् अज्ञात्वा मदाज्ञां चेद् न करोषि तदा हृदयस्थितेश्वरस्यैव शरणं गच्छ इति आह **तमेव** इति.

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

हे भारत सत्कुलोत्पन्नत्वाद् अहङ्काररहित **तं** पूर्वोक्तं हृदयस्थितमेव ईश्वरं **सर्वभावेन** सङ्कल्पविकल्पान् परित्यज्य सर्वात्मना **शरणं गच्छ,** ततः **तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं** नित्यं स्थानं पूर्वश्लोकोक्तम् अक्षरात्मकं **प्राप्स्यसि**।।६२।।

अथ सकलगीताशास्त्रार्थम् उपसंहरन् आह **इति** इति.

इति ते ज्ञानम् आख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतद् अशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

इति अमुना प्रकारेण **ते** तव मया सर्वकर्त्रा सर्वात्मना **गुह्याद्** गोप्याद् **गुह्यतरं** गोप्यतरं मन्त्रबीजवत् सर्वशास्त्रज्ञानसारात्मकं **ज्ञानम् आख्यातम्** आ समन्तात् ससाधनं [४२]ख्यातं प्रसिद्धतया उक्तम् इति अर्थः. **एतद्** [४३]मदुपदिष्टं गीताशास्त्रार्थम् **अशेषेण** पूर्वापरानुसन्धानेन **विमृश्य** पर्यालोच्य **यथा** कर्तुम् **इच्छसि** उत्तमत्वेन **तथा कुरु.** [४४]एतद्विमृश्यन् स्वाज्ञाकरणएव बुद्धिः भविष्यति इति आशयेन यथेच्छसि इति उक्तम् इति भावः।।६३।।

विमृश्यकारित्वम् ईश्वरोक्तौ असम्भावितम् इति विचारेण शोचन्तम् अर्जुनं कृपया तद्वारा च लोकान् उद्दिधीर्षुः निश्चितार्थं स्वयमेव आह **सर्वगुह्य** इति.

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढम् इति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

सर्वगुह्ये अतिगुह्यं गोप्यं **गुह्यतमं मे परमं** फलरूपं **वचो भूयः** पूर्वम् उक्तमपि तत्प्रकरणेषु इदानीम् एकीकृत्य पुनः वक्ष्यमाणं **शृणु**. एवं सारभूतम् एकीकृत्य कथने हेतुम् आह **इष्टो असि** इति. **मे** मम **दृढम्** अत्यन्तम् अप्रियकरणेऽपि अन्यथाभावरहितः इष्टः प्रियो असि **ततः** कारणात् **ते हितं वक्ष्यामि** कथयामि।।६४।।

एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपम् आह **मन्मना** इति.

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

मन्मनाः मय्येव मनो यस्य तादृशो **भव, मद्भक्तः** मयि स्नेहयुक्तो भव, मत्पूजनशीलो भव, **मां नमस्कुरु** मयि सर्वाधिक्यज्ञानवान् भव इति अर्थः. एवम्भूतः सन् **सत्यं** सत्यरूपं **मामेव एष्यसि** प्राप्स्यसि, न अत्र सन्देहः कर्त्तव्यः यतो **मे** मम **प्रियो असि** अतः **ते** तुभ्यं **प्रतिजाने** प्रतिज्ञां करोमि।।६५।।

ननु एतत्कथं सिद्ध्येत्? इति आशङ्क्य आह **सर्वधर्मान्** इति.

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

सर्वधर्मान् चोदनालक्षणान् **परित्यज्य** कर्त्तव्योत्तमत्वलक्षणज्ञानाभावेन त्यक्त्वा **माम् एकं** मुख्यं पुरुषोत्तमं **शरणं व्रज** इति अर्थः. 'धर्मान्' इति बहुवचनेन ''माम् एकम्'' इति एकवचनेन च तत्र आयाससाध्यत्वं साङ्गानुष्ठेयत्वम्[४५], अत्र सुखसेव्यत्वं सर्वफलदानसामर्थ्यं च ज्ञापितम्. 'सर्वधर्म'पदेन लौकिकालौकिकधर्मत्यागयुक्तो भव इति असङ्कुचितवृत्त्या. विशेषेण अस्य अर्थस्तु श्रीमद्विट्ठलेश्वरैः अस्मत्प्रभुचरणैः निरूपितइति न अत्र प्रपञ्च्यते.

एवं सर्वधर्मत्यागेन शरणागतौ पूर्वोक्तं सिद्ध्यति इति अर्थः. ननु पूर्वजन्मसञ्चित-पापप्रतिबन्धकतया कथं सर्वधर्मत्यागः शरणागतिः वा सेत्स्यसि? इत्यतः आह **अहम्** इति. **अहं त्वां(त्वा?)** पूर्वोक्तस्वेष्टत्वात्

सर्वपापेभ्यः प्रतिबन्धकरूपेभ्यो **मोक्षयिष्यामि** मोचयिष्यामि, प्रतिबन्धक-पापादिस्मरणेन **मा शुचः** शोकं मा कार्षीः।।६६।।

एवं सकलशास्त्रार्थगीतार्थतत्त्वम् उपदिश्य लोकोद्धारार्थम् एतदुपदेशनेन मार्गप्रवर्तनार्थम् अधिकारिणम् आह **इदं ते** इति.

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

इदं सर्वशास्त्ररहस्यं **ते** त्वया **अतपस्काय** स्वाचारहीनाय **न** वाच्यम्. **नच अभक्ताय** मद्भक्तिरहिताय **कदाचन** वाच्यम्. 'कदाचन'इति पदेन अभक्तसंसर्गिणे भक्तायाऽपि [४६] न वाच्यम् इति ज्ञापितम्. **नच** पुनः **अशुश्रूषवे** श्रवणेच्छारहिताय, अनासक्ताय इति अर्थः. यद्वा मत्परिचर्याहीनाय च न **वाच्यम्**. **यो मां** पुरुषोत्तमं बाहिर्मुख्येण **अभ्यसूयति** दोषारोपपूर्वकं कौटिल्येन निन्दति तस्मै च **नच** वाच्यम्।।६७।।

एवम् एतद्दोषयुक्तेभ्यो न वाच्यम्, एतद्दोषरहितेभ्यश्च सर्वथा वाच्यम् इति एतदुपदेशनफलम् आह **यः इदम्** इति.

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

यः कश्चन दुर्लभः मद्भक्तिरसाविष्टम् **इमं** पूर्वश्लोकोक्तं **परमं** सर्वोत्कृष्टं **गुह्यं** गोप्यं **मद्भक्तेषु** पूर्वोक्तदोषरहिततद्गुणसुसम्पन्नेषु **अभिधास्यति** वक्ष्यति सः [४७] श्रोता वक्ता च एतच्छ्रवणेन **असंशयः** सन्देहरहितः सन् **परां** सर्वोत्कृष्टां पूर्वोक्तां **मयि भक्तिं कृत्वा मामेव एष्यति**, प्राप्नोति इति अर्थः।।६८।।

ननु कथम् एतत्कथनश्रवणमात्रेण त्वां प्राप्नोति? इत्यतः आह **न च** इति.

न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन् मे प्रियकृत्तमः।

भविता न च मे तस्माद् अन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

तस्माद् एतद्वक्तुः सकाशाद् **मनुष्येषु** अधिकारिषु **मे प्रियकृत्तमः** प्रियकर्तृषु मध्ये अतिशयितो **नच,** नास्ति इति अर्थः. मद्भक्तानां मत्सङ्गार्थयत्नप्रदेशकत्वाद् इति भावः. **च** पुनः **तस्मात्** श्रोतुः सकाशात् श्रुत्वा मदाज्ञप्तसेवादिकरणाद् **अन्यो भुवि प्रियतरो भविता न** इति अर्थः।।६९।।

एवम् उपदेष्टुः श्रोतुश्च फलम् उक्त्वा पाठकर्तुः फलम् आह **अध्येष्यते** इति.

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादम् आवयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहम् इष्टः स्याम् इति मे मतिः।।७०।।

आवयोः श्रीकृष्णार्जुनयोः **धर्म्यं** धर्मयुक्तं धर्मोत्पादकं वा **संवादं** सोत्तरप्रत्युतरं गीतात्मकं सम्यक्प्रकारेण वदनात्मकं **यः च अध्येष्यते** ध्यानं कृत्वा जपरूपेण पठिष्यति, **तेन** अध्ययनेन सर्वयज्ञश्रेष्ठेन **ज्ञानयज्ञेन** ज्ञानात्मकमद्यजनेन [४८]पूजनेन **अहं** तस्य **इष्टः** प्रियः **स्यां** भवेयम् इति अर्थः. **इति** एवम्प्रकारिका **मे** मम **मतिः** बुद्धिः इति अर्थः. स्वमतित्वकथनेन एतत्पाठस्य आवश्यकत्वं करणे च स्वप्रसादावश्यकत्वं ज्ञापितम् इति भावः।।७०।।

[४९]एवंस्वरूपज्ञानेन एकस्य पठतो यो अन्यः कश्चित् शृणोति तस्यापि फलति इति आह **श्रद्धावान्** इति.

श्रद्धावान् अनसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

यो नरः श्रद्धावान् एतच्छ्रवणेन अहं कृतार्थो भविष्यामि इति अत्यादरयुक्तः **शृणुयादपि** अर्थानवबोधेनापि **सः शुभान्** मोक्षप्रापकान् **लोकान् प्राप्नुयात्. च** पुनः **अनसूयः** किमिति दम्भार्थम् उच्चैः पाषण्डी पठति इत्याद्यसूयारहितः सम्यग् गीतां पठति इत्याद्यनुमोदते मनसि सोऽपि मुक्तः संसारात् **पुण्यकर्मणां** लोकान् स्वर्गादीन् प्राप्नुयात्।।७१।।

एवं संसारमुक्तिः शुभलोकप्राप्तिश्च मोहनाशो भवति, सच भगवन्मुखाद्

श्रवणे अर्जुनस्यैव ततः पुनः युद्धादिकरणात् तदा कथम् अन्यस्य भवेद्? इति बहिर्मुखशङ्काम् अपनुदन् भगवान् अर्जुनं पृच्छति **कच्चिद् एतद्** इति.

कच्चिद् एतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।

कच्चिद् अज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

हे पार्थ श्रद्धया एतच्छ्रवणयोग्य **कच्चिद्** इति [५०]प्रश्नार्थे. **त्वया एकाग्रेण चेतसा** प्रणिहितेन मनसा **एतद्** मया उक्तं **श्रुतं?** तेन श्रवणेन च[५१] हे **धनञ्जय** ते **अज्ञानसम्मोहः** अज्ञानेन मत्स्वरूपेङ्गिताज्ञानेन जनितो यः सम्मोहः आसुर-मारणजपापोत्पत्तिरूपः सम्यक्प्रकारको **मोहो** भ्रमो **नष्टः**. **ते** तव इति अर्थः।।७२।।

एवं प्रश्ने नष्टमोहः सन् अर्जुनः उत्तरं प्राह **नष्टो मोहः** इति.

अर्जुनः उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादाद् मयाऽच्युत।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अज्ञानकृतो **मोहो नष्टः**, त्वदुक्तिश्रवणेन इति शेषः. अधिकमपि जातं **हे अच्युत** सर्वत्र च्युतिरहित मया अहङ्काराज्ञानसहितेन **त्वत्प्रसादात् स्मृतिः** तत्स्वरूपात्मिका **लब्धा** प्राप्ता. 'प्रसादाद्' इति [५२]लाभकथनेन साधनेन साधनालभ्यता उक्ता. अतो दासस्य प्रभ्वाज्ञाकरणमेव धर्मः, नतु अन्योऽपि धर्माधर्मविचारः. एवं **गतसन्देहः** सन् तव अग्रे दासत्वेन **स्थितो अस्मि**; इदानीं **तव वचनं** पूर्वोक्तं युद्धादिरूपं सर्वधर्मत्यागरूपं त्वद्भक्तेषु एतदुपदेशरूपं च **करिष्ये**।।७३।।

एवं धृतराष्ट्रपृष्ट-श्रीकृष्णार्जुनसंवादं सफलम् अशेषतः कथयित्वा भगवति सासूयत्वात् धृतराष्ट्रस्य फलाभावकथनार्थं स्वस्य च तदग्रे कथनावश्यकत्वाय स्वस्य श्रवणानन्दभवनकारणज्ञापनाय [५३]प्रस्तुतकथानुसन्धानेन **सञ्जयः उवाच इति** इति.

सञ्जयः उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।

संवादम् इमम् अश्रौषम् अद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

इति अमुना प्रकारेण **अहं** त्वदीयत्वेन द्वेषसम्बन्धयुक्तोऽपि **वासुदेवस्य** मोक्षदातुः **महात्मनो** भगवद्भक्तस्य **पार्थस्य च इमं** मया पूर्वोक्तं **संवादम्,** उत्तरप्रत्युत्तररूपम् **अद्भुतम्,** अलौकिकं **रोमहर्षणं** रोमहर्षकरम् आनन्दोद्बोधकम् **अश्रौषं** श्रुतवान् अस्मि।।७४।।

ननु द्वेषभावसम्बन्धे सति कथं श्रुतम्? इत्यतः आह **व्यासप्रसादाद्** इति.

व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यम् अहं परम्।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम्।।७५।।

व्यासस्य भगवज्ज्ञानावतारस्य **प्रसादात्** चक्षुःश्रोत्रादिकं व्यासेन अलौकिकं दिव्यं दत्तं, तेन **श्रुतवान्** अस्मि. किं तदिति श्रुतम्? इत्यतः आह. **एतत्** परिदृश्यमानं **गुह्यं** गोप्यं **परं** सर्वोत्कृष्टं **योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्** स्वयं **कथयतः** श्रुतवान् अस्मि।।७५।।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादम् इमम् अद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

किञ्च **राजन्** इति. हे **राजन् इमं केशवार्जुनयोः संवादम् अद्भुतं** लौकिकोपपत्तिरहितं **पुण्यं** [५४]पुण्यजनकं **संस्मृत्य संस्मृत्य** सादरं संस्मृत्य सादरं संस्मृत्य **मुहुर्मुहुः** वारंवारं **हृष्यामि** हर्षं प्राप्नोमि।।७६।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपम् अत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

किञ्च **तत् च** इति. **तद् अत्यद्भुतम्** अलौकिक**रूपं संस्मृत्य, च** पुनः **हरेः** सर्वदुःखहर्तुः पुरुषोत्तमसम्बन्धिरूपं संस्मृत्य **मे विस्मयो महान्** जातः कथं त्वदीयाः जेष्यन्ति इति. मूलभूतस्वरूपदर्शनेन सर्वे मोक्षं प्राप्स्यन्तीति **पुनः पुनः** वारं वारम् आदरेण **हृष्यामि** हर्षं प्राप्नोमि[५५]. यद्वा हरेः अत्यद्भुतं पुरुषोत्तमत्वेन

अनुभवैकवेद्यं तत्संस्मृत्य स्मरणं कृत्वा पुनः संस्मृत्य ध्यानं कृत्वा मे महान् विस्मयः यतः क्व अहं तुच्छो जीवः, क्व तद्दर्शनम् इति त्वत्सम्बन्धेन दर्शनं जातम् अतः सम्बोधयति राजन् इति. किञ्च पुनः पुनः[५६] हृष्यामि आनन्दं प्राप्नोमि. भगवद्दर्शनेन[५७] हर्षः तवापि अनुभवसिद्धः इति तज्ज्ञत्वेन महत्सम्बोधनेन सम्बोधयति[५८] राजन् इति।।७७।।

एवं गीताश्रवणेन भगवद्दर्शनानन्दितचित्तेन स्वमतिनिश्चितार्थम् अनुवदति तथात्वज्ञानेन शरणागमनार्थम् **यत्र** इति.

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

यत्र येषां पक्षे **योगानां** सर्वसाधनानाम् **ईश्वरो** नियामकः **तत्र श्रीः** लक्ष्मीः यत्र यस्मिन् अर्थे पार्थः पृथायाः क्षत्रियायाः ''यदर्थे क्षत्रियासूते'' (महाभा.) इति वाक्यवक्त्रयाः पुत्रो महाशूरो भगवदीयश्च धनुर्धरः ससामग्रीकः तत्र **विजयः** शत्रूणां पराजयपूर्वकम् उत्कर्षः यत्रैव लक्ष्मीः तत्रैव **भूतिः** तदंशरूपा राज्यलक्ष्मीः **ध्रुवा** निश्चला, यत्र विजयः तत्र **नीतिः** नय इति अर्थः. **इति** एवंरूपा मे **मतिः** मद्बुद्धिनिश्चयः.

अत्र अयं भावः : यत्र श्रीकृष्णार्जुनौ पक्षे भवतः तत्र श्र्यादिकं भवति, तत्र साक्षात् तावेव यत्र तत्र किं वाच्यम् इति भावः. अतः तवापि संरम्भादित्यागेन शरणगमनमेव सर्वार्थसाधकम् इति भावः. स्वमतित्ववाचकस्य इति प्रतिजानीमः।।७८।।

श्रीकृष्णानन्यभक्तस्य गीताश्रवणतः परा।
दृढा भक्तिर्भवेद् गीतासारस्त्वेवं हि बुद्ध्यताम्।।१।।
शास्त्रार्थरूपम् अज्ञात्वा कृतं न फलदं भवेत्।
हरिर्भजनसिद्ध्यर्थं गीताशास्त्रम् अथाऽब्रवीत्।।२।।
अर्जुनाय प्रसङ्गेन सर्वोद्धारप्रयत्नवान्।
तस्माज् ज्ञात्वा हि गीतार्थं कृष्णः सेव्यो हि सर्वदा।।३।।
अतस्तदर्थं गीतार्थो निगूढो विनिरूपितः।

श्रीमदाचार्यपादाब्जभक्त्या लब्धो ह्यनन्यया।।४।।
श्रीमदाचार्यपादेषु गीतार्थकुसुमाञ्जलिः।
न्यस्तस्तेन प्रसीदन्तु ते सदा मयि किङ्करे।।५।।
पुष्टिमार्गीयभक्तानां विहारार्थं सुनिर्मला।
कृता श्रीकृष्णभावाब्धिगीतामृततरङ्गिणी।।६।।
अनन्यैकैव भक्तिर्हि कार्या श्रीकृष्णतुष्टये।
विद्याष्टादशकेनापि सर्वथैवोच्यते यतः।।७।।
इत्येवाष्टादशाध्यायैः गीताशास्त्रं हरिः स्वयम्।
प्रकटीकृतवान् लोके दयालुर्देवकीसुतः।।८।।
अत्र युक्तम् अयुक्तं वा जीवबुद्ध्या ह्यलेखि यत्।
तत् क्षमन्तु सदाऽऽचार्याः स्वाङ्गीकृतिबलान् मयि।।९।।
कृष्णो जलधरश्यामो बभौ राजीवलोचनः।
श्यामाऽपि यस्य वामांसे विद्युल्लेखेव राजते।।१०।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतामृततरङ्गिण्याम् अष्टादशो अध्यायः सम्पूर्णः।।१८।।

पाठभेदाः

१. 'ईषिणः' इति मुद्रितपाठः.
२. ''स्वर्गसुखादीनि त्यक्त्वा मदाज्ञात्वेन'' इति मुद्रितपाठः.
३. ''बुद्धिमान् छिन्नसन्देहः'' इति मुद्रितपाठः.
४. ''स्वफलभोगार्थरूपं विपरीतम्'' इति मुद्रितपाठः.
५. 'तत्फलतीति' इति मुद्रितपाठः.
६. 'ज्ञातसुखदुःखफलेषु' इति मुद्रितपाठः.
७.''...पूर्वक-तत्साधनत्वेन -अवबोधः'' इति मां.पाठः.
८. ''स्वोक्तत्रैविध्यस्थ निर्गुणाधिकार...'' इति मुद्रितपाठः.
९. ''सर्वेषु ब्रह्मादि...'' इति मुद्रितपाठः.
१०.''शब्दमात्रसाम्यज्ञापनाय'' इति मुद्रितपाठः.
११. ''क्रीडामयैकराहित्येन'' इति मुद्रितपाठः.
१२. ''पृथग्विधान् भिन्नाभिलाषरूपान्'' इति मां.पाठः.
१३. 'असक्तम्' इति मुद्रितपाठः.

१४. '...फलरूपत्वम्' इति मुद्रितपाठः.

१५. 'पुरुषार्थमोक्षम्' इति मुद्रितपाठः.

१६. ''**कर्म** तामसम्'' इति मुद्रितपाठः.

१७. ''एतादृशः कर्ता'' इति मुद्रितपाठः.

१८. '...प्रामाण्याविधृत' इति मुद्रितपाठः.

१९. ''एतादृशः कर्ता'' इति मुद्रितपाठः.

२०. 'त्रैविध्ये' इति मुद्रितपाठः.

२१. 'दुर्बुद्धयः' इति मां.पाठः.

२२. 'मुख..' इति मुद्रितपाठः.

२३. ''प्रोक्तम् तज्ज्ञैः'' इति मुद्रितपाठः.

२४. ''संयोगात् तत्'' इति मुद्रितपाठः.

२५. ''भगवत्सम्बन्धरहितसुखम्'' इति मुद्रितपाठः

२६. ''शैथिल्येन स्थितिः'' इति मुद्रितपाठः

२७. 'विज्ञान' इति मुद्रितपाठः.

२८. ''स्वधर्मः श्रेयान्'' इति मुद्रितपाठः.

२९. ''सर्वारम्भाः धूमेन'' इति मुद्रितपाठः.

३०. 'सिद्धि-माप्नु-याद्' इति मां.पाठः.

३१. ''असक्तान् असङ्गता बुद्धिः''इति मां.पाठः.

३२. 'प्राप्नोति -तत्त्वं च मत्कर्मनिष्ठयैव'' इति मां.पाठः.

३३. ''सङ्क्षेपेणैव निबोध'' इति मुद्रितपाठः.

३४. 'अचञ्चलम्' इति मां.पाठः.

३५. ''भगव-दानन्दा-नुभवाश्लिष्टो'' इति मां.पाठः.

३६. ''ब्रह्मात्मावस्थितः **प्रसन्नः** आनन्दयुक्तः आत्मा'' इति मुद्रितपाठः.

३७. 'न्यस्य' इति मुद्रितपुस्तके नास्ति.

३८. 'साधनयुक्तोऽपि' इति मुद्रितपाठः.

३९. ''प्राकृतत्वे जाते'' इति मां.पाठः.

४०. ''स्वेन क्षात्रकर्मणा'' इति मुद्रितपाठः.

४१. 'वृक्षजातीयनामत्वेन' इति मुद्रितपाठः.

४२. ''ससाधनं प्रसिद्धतया'' इति मुद्रितपाठः.

४३. 'मदुपदिष्टगीता...' इति मुद्रितपाठः.

४४. ''एतद्विमर्शात् तदाज्ञाकरणएव'' इति मुद्रितपाठः.

४५. 'साङ्गा-न-नुष्ठेयत्वम्' इति मां.पाठः.

४६. ''भक्तायाऽपि वाच्यम्'' इति मुद्रितपाठः.

४७. ‘‘वक्ष्यति श्रोता’’ इति मुद्रितपाठः.
४८. ‘‘ज्ञानात्मकमद्यजनेन अहम्’’ इति मुद्रितपाठः.
४९. ‘एवंरूपज्ञानेन’ इति मुद्रितपाठः.
५०. ‘प्रश्नार्थः’ इति मुद्रितपाठः.
५१. ‘‘श्रवणेन हे’’ इति मुद्रितापाठः.
५२. ‘‘इति कथनेन साधनालभ्यतोक्ता’’ इति मुद्रितपाठः.
५३. ‘स्तुत..’ इति मुद्रितपाठः.
५४. ‘‘...रहितं पुण्यजनकम्’’ इति मुद्रितापाठः.
५५. ‘‘आदरेण हर्षं प्राप्नोमि’’ इति मुद्रितापाठः.
५६. ‘‘किञ्च पुनः हृष्यामि’’ इति मुद्रितापाठः.
५७. ‘‘....दर्शने’ इति मुद्रितापाठः.
५८. ‘महत्सम्बोधयति’इति मुद्रितापाठः.

V

V

न्यासादेशः

[1]न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ता
कार्पण्यं वाङ्गम् उक्तं मदितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढम् ।
दुस्साद्ध्येच्छोद्यमौ वा कचिद् उपशमितावन्यसम्मेलने वा
ब्रह्मास्त्रन्याय उक्तस् तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः ।।

विवरणम्

श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणविरचितं विवरणम्

संन्यासाज्ञासु **''यदहरेव''**(जाबा.उप.४) इत्यादिषु धर्मत्यागवाक्येन निष्किञ्चनस्यैव शरणागतौ अधिकारः उक्तः किं वा निःसाधनता हि शरणे अङ्गम् इति उक्तम्. अथवा भगवदितरस्य देवादेः भजनम् अपेक्षा च निषिद्धा. किं वा कृच्छ्रसाध्ये यज्ञादौ भगवदनुग्रहभाजनेन न इच्छोद्यमौ कर्तव्यौ इति उक्तम्. किं वा अन्याश्रये कृते शरणागतिभङ्गो भवति इति अत्र 'ब्रह्मास्त्रन्यायो' अभिहितः. एवं 'सर्वधर्मान्' इत्यादिना वेद–मन्वादिनिर्देशसिद्धो धर्मो अत्र न नष्टः.

विवरणटीका

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणरचिता न्यासादेशविवरणटीका

श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणाम्भोजेऽनुसन्धाय।।
न्यासादेशविवरणस्याशयम् अत्र स्फुटीकुर्वे।।१।।

भगवान् गीतोपदेशे पूर्वं **''सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ, तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते''**(भग.गीता ५।२) इति उक्त्वा ततः सन्न्यास–सर्वकर्मत्यागयोः तत्त्वनिरूपणे यज्ञ–दान–तपसां पावनत्वम् उक्त्वा **''एतान्यपितु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च, कर्त्तव्यानीति मे पार्थ**

---

१. अयं श्लोकः ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच'' (भग.गीता १८।६६) इत्यस्य विवरणतया श्रीमद्वेदान्तदेशिकैः स्वविरचिते 'न्यासविंशति'ग्रन्थे लिखितः महाप्रभोः प्रागेवेति तत्कर्तृकएव.

(अवतरणम्)

ननु सर्वत्यागो हि पुष्टिमार्गे नतु मर्यादायाम्. पार्थे च तदुपदेशात् तन्मार्गीयत्वम् इति भवति अवधृतिः. धर्मत्यागे मर्यादामार्गएव पापसम्भवेन अत्र च तत्कथनेन संशयोऽपि. स्वस्यैव पापमोचकत्वोक्त्या न मर्यादापि. पुष्टस्य

निश्चितं मतम् उत्तमम्''(तत्रैव १८।६) इति स्वसिद्धान्तमपि उक्त्वा उपदेशसमापनावसरे सर्वगुह्यतमत्वेन यत् ''**सर्वधर्मान् परित्यज्य**''(तत्रैव १८।६६) इत्यनेन सर्वधर्मत्यागपूर्वक-स्वशरणागतिम् उपदिष्टवान् तत्र किं पूर्वाज्ञा विहन्यते न वा? यदि विहन्यते तदा तदुपदेशनस्य को वा आशयः? यदि न तदा उभयोः अर्थभेदाभावात् कुतः शब्दान्तरम् ? यदि च मार्गभेदेन अधिकारिभेदात् तदर्थभेदेन उभयसामञ्जस्यम् इति विभाव्यते तदा सो अधिकारिभेदएव कथम् अवगन्तुं शक्यः? इति आकांक्षायां तदाशयसङ्ग्राहकं श्लोकं विवरीतुम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादि. **हि** यतो हेतोः पुष्टिमार्गे पुष्टिः अनुग्रहः कृपा इतियावत्. तया बोधिते स्वप्राप्त्युपाये सर्वधर्मपरित्यागः ''**यदा यस्यानुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः, स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठितां**'' (भाग.पुरा.४।२९।४६) ''**या दुस्त्यजं स्वजनम् आर्यपथं च हित्वा**'' (भाग.पुरा.१०।४७।६१) इत्यादौ अनूदितः. अतः स तत्र अस्ति इति अर्थात् न तु मर्यादायां केवलकृपाविषयव्यतिरिक्ताधिकारक-शास्त्रसिद्धप्रकारके स्वप्राप्त्युपाये तु नास्ति इति पार्थे च स्वयम् उद्यम्य तदुपदेशात् तदुपरि कृपाज्ञापनेन पुष्टिमार्गीयत्वम् इति अवधारणं भवति इति अर्थः. तर्हि का अनुपपत्तिः इति अतः आहुः **धर्म** इत्यादि. **संशयः** इति पुष्टिमार्गीयत्वे संशयः. तर्हि द्वितीयकोटेः पश्चादुक्तत्वेन उत्कटत्वाद् मर्यादामार्गीयत्वमेव अस्तु इति चेत् तत्र आहुः **स्वस्यैव** इत्यादि. ''**स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः, विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः**'' (भाग.पुरा.११।५।४२) इतिवत् स्वस्यैव पापमोचकत्वोक्त्या मर्यादामार्गीयत्वमपि न शक्यवचनम् इति अर्थः. तर्हि लिङ्गभूयस्त्वात् पुष्टिमार्गीयत्वमेव निश्चेयम् इति अतः आहुः **पुष्टिस्थस्य** इत्यादि. तन्निषेधानुपपत्या इति माशुच इति शोकनिषेधानुपपत्त्या. तथा च एवं मार्गद्वयलिङ्गतौल्याद् असाधारणधर्मजन्मनि संशये अधिकारस्यापि निश्चेतुम् अशक्यत्वात् तत्कृतव्यवस्थायाः प्रकृते

एवंविधशोकासम्भवेन अत्रच तन्निषेधानुपपत्या तत्सत्त्वनिश्चयेनापि मर्यादामार्गीयत्वं ज्ञायते. किञ्च पुष्टिलीलायाः फलप्रकरणे स्वयं मर्यादामेव निरूपयन् भक्तानाम् आग्रहेण परं पुष्टिम् अङ्गीकृतवान्. इहतु तद्वैपरीत्यम्. अपरं च, शरणम् आगते पापाद् मोचनम् उक्तं नतु **''अह्न्यापृतं निशि शयानम् अतिश्रमेण लोकं विकुण्ठम् उपनेष्यति गोकुलं स्वम्''**(भाग.पुरा.२।७।३१) इतिवत्.

''द्रोणादीन् मारय पापेभ्यो अहं मोचयिष्यामि'' इति शरणगमनम्. तथा सति पापमोचनं च मर्यादैव इति तद्विरुद्धं धर्मत्यागवचनं न उपपद्यते इति विचारकान्तःकरणकलिलम् अपनयन् तद्वाक्यतात्पर्यम् एकेन श्लोकेन आह **न्यासादेशेषु** इत्यादि.

(पुरस्फूर्तिकव्याख्यानम्)

अत्र अयं भावः. पार्थस्य पुष्टिमर्यादायाम् अङ्गीकारो नतु पुष्टिपुष्टौ. शरणगमनं च पुष्टिमर्यादारूपम्. तेन धर्मत्यागः पुष्ट्यंशः, शरणगमनात्मकसाधने सति रक्षा च मर्यादायाः. तेन उभयोः भक्तिः न विरुद्धा. पुष्टिमर्यादायां केवलमर्यादामार्गीयधर्मबाधो न दोषाय, तुरीयाश्रमे पूर्वाश्रमधर्मबाधवत्. तत्र पूर्वस्यैव तस्य बाधो नतु गृहीताश्रमीणस्यापि. इहतु धर्ममात्रस्य

अनुपपत्तिः इति एकं संशयबीजम्. अपरम् आहुः **किञ्च** इत्यादि. **पुष्टिम्** इति. ऐहिकसुखात्मकम् अङ्गसङ्गम्. तद्वैपरीत्यम् इति दोषबुद्ध्या स्वजनवधवैमुख्यरूपां मर्यादाम् अर्जुन उवाच. भगवांस्तु तद्वधेन ऐहिकसुखरूपां पुष्टिम् इति वैपरीत्यम् इदं वक्तृधर्मकृतं द्वितीयं संशयबीजम्. तृतीयम् आहुः **अपरं च** इत्यादि. **इतिवद्** इति. निःसाधनस्यैव उद्धरणम्. एतस्य फलस्य पुष्टिमार्गविरुद्धत्वं निगमयन्ति **द्रोणादीन्** इत्यादि. अयं फलभेदः तृतीयं तद्बीजम्. सिद्धम् आहुः **तथा सति** इत्यादि. **तथा सति** इति व्याख्येयवाक्यबोधिते फलांशे विचारिते सति. **विचारकान्तःकरणकलिलम्** इति, उपक्रमोपसंहार–विरोधा–भ्यासोपपत्ति–फलविचारोद्भूतं संशयात्मकं तत्कलिलम्. एवं श्लोकम् अवतार्य विवृण्वते **अत्र अयम्** इत्यादि. **तेन उभयोः** इति अंशद्वयसत्त्वेन मर्यादा–पुष्ट्योः सम्बन्धिनी. **न दोषाय** इति अधिकारिभेदाद् न दोषाय. **शरणगत्यात्मक–वस्तुनएव तथात्वाद्** इति. **''शरणं गृहरक्षित्रोः''**(अम.को.३।३।५३) इति कोशात् 'शरण'पदं प्रकृते

पूर्वाश्रमीणतुल्यत्वम् इति विशेषः, शरणागत्यात्मकवस्तुनएव तथात्वात्. तद् आह **तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः** इति. यद्वा धर्मत्यागकथनेन धर्मो न विहतः तत्र हेतुः **आज्ञादिसिद्धः** इति. 'कुरु' इति आज्ञा विषयो यः सएव धर्मः इति अर्थः. तथाच तत्त्यागस्यापि अत्र आज्ञाविषयत्वाद् धर्मत्वमेव इति भावः. लोके ''धर्मा उपदेष्टव्याः'' इति आज्ञां प्राप्य मन्वादिभिः उक्तो धर्मः 'आदि'पदेन उच्यते. यद्वा आज्ञा पूर्वोक्ता आदिः यस्य मन्वादिशास्त्रस्य इति अर्थः.

तर्हि पापकथनम् अनुपपन्नम् इति चेद्, न, अनवबोधात्. तथाहि मूले

'माम्' इति शब्दान्तर–सन्निधि–नियन्त्रणाद् रक्षकवाचकं गमनं च अनुसन्धानं तथा च रक्षकत्वेन अनुसन्धानस्य मार्गान्तररूपत्वाद् इति अर्थः तद् आह इति एतत्सर्वम् अनुसन्धाय आह **तद् इह** इत्यादि. **तत्** तस्मात् उक्तश्लोकसङ्गृहीतात् कारणसमाजाद् **इह** ''**सर्वधर्मान्**''(भग.गीता १८।६६) इतिवाक्ये आज्ञादिसिद्धः, आज्ञा ''**एतानि अपि**''(तत्रैव १८।६) इत्यादिषु उक्ता, तस्याः आदिः श्रुतिः अभिप्रायो वा, तत्सिद्धो निवृत्तिमार्गनिष्ठकर्त्तव्यो धर्मो न विहतः. तुरीयाश्रमदृष्टान्तेन ''**सलिङ्गान् आश्रमांस्त्यक्त्वा चरेद् अविधिगोचरः**'' (भाग.पुरा.११।१८।२८) इतिवद् अधिकारविशेषस्फोरणात् न विहतः. तथा च यथा ज्ञानमार्गे गृहिणोपसंहार–सन्न्यासाभ्याम् अवान्तरभेदेऽपि मार्गैक्येन अधिकारं विचार्य त्यागेऽपि धर्मो न विहन्यते तथा अत्र मर्यादा–पुष्टिभ्याम् अवान्तरभेदेपि भक्तिमार्गस्य एकत्वाद् अधिकारविचारेण सर्वधर्मत्यागेपि अधिकार्यन्तरे सावकाशत्वात् न विहतः इति अर्थः. आज्ञादिसिद्धः इत्यस्य हेतुगर्भविशेषणत्वेन हेत्वन्तरत्वम् अभिप्रेत्य पक्षान्तरम् आहुः **यद्वा धर्म** इत्यादि. **कुरु इति आज्ञाविषयः** इति चोदनालक्षणः. तथा च अत्र एकपद्येऽपि 'आज्ञादिसिद्धः' इति अत्र अर्थभेदेन हेतुहेतुमद्भावसौकर्ये आज्ञादिसिद्धत्वाद् ''आज्ञादिसिद्धो धर्मो न विहतः'' इति योजना. अस्मिन् पक्षे स्मार्तधर्मस्यापि अविघातः इति पूर्वस्माद् विशेषः. एवं च अत्र आज्ञासिद्धः तदादिश्च इति अर्थो भवति. स च आनुपूर्वीविरोधात् शब्दबलेन न आयाति इति अरुच्या तदर्थं पक्षान्तरम् आहुः **यद्वा** इत्यादि. तेन इति बहुव्रीहिगर्भेण तत्पुरुषेण. अत्र आशङ्कते **तर्हि** इत्यादि. तर्हि इति गौण–मुख्ययोः उभयोरपि धर्मयोः अविघाते. समादधते **न** इत्यादि.

''सर्वधर्मान्'' इति अत्र 'सर्व'पदेन शरणागतातिरिक्ता धर्माः उच्यन्ते. तथाच यत्सम्बन्धिनो धर्माः तत्सम्बन्धीन्येव तद्बाधज–पापान्यपि इति तेभ्यः त्वां मोचयिष्यामि. प्रवाहन्यायेन तत्सम्भावनायामपि त्वयि तदनुत्पत्तिं करिष्यामि इति अर्थः, नतु त्वयि उत्पन्नेभ्यः इति. एतत्कथनं तन्मार्गस्वरूपानभिज्ञत्वेन स्वस्मिन् तत्सम्भावनया शोचन्तं पार्थम् आश्वासयितुम्.

तर्हि ''माम् एकं शरणं व्रज'' इति एतावदेव वक्तुम् उचितं, शरणपदार्थस्यैव तद्रूपत्वाद्. अतः आह **न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतः** इति. न्यासः संन्यासः तदादेशेषु **''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्''**(जाबा.उप.४) **''तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता''**(भाग.पुरा.११।२०।९) इत्यादिषु. तत्र वैराग्यमेव अधिकारत्वेन उक्तम्. अत्रापि ऐहिक–पारलौकिक–साधनानां परस्परविरोधात् सम्यक्कर्तुम् अशक्यत्वाच्च स्वेष्टासाधनत्वज्ञानेन तेषु विरागे जाते भगवति च कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं समर्थत्वेन ज्ञाते सति शरणगमनं भवति इति इदमपि अस्मिन् अंशे संन्याससरूपमेव इति अत्रापि तदुक्तिः. तस्य पूर्वाङ्गत्वात् तेन विना तदसम्भवाच्च. एवं सति ''न विहतो धर्मः'' इत्यत्र अयं हेतुः इत्यपि ज्ञेयम्. **वचनतः** इति भावप्रधानो निद्र्देशः. तथाच तत्सजातीयत्वात् तत्र यथा न धर्मविहतिः तथा अत्रापि इति अर्थः. एतेन सर्वधर्माः अस्य परधर्माः इति सूचितम्.

शरणागत्यतिरिक्ताः उच्यन्ते इति. सर्वेषां धर्माः सर्वधर्माः इति षष्ठीतत्पुरुषेण 'सर्व'शब्दवृत्तिसङ्कोचेन च ते उच्यन्ते. तथा च न अनुपपन्नम् इति अर्थः. ननु एवं पापानुत्पत्तौ शोकाकरणकथनासङ्गत्यापत्तिः इति अतः आहुः **एतद्** इत्यादि. एवम् अयं सप्तमो हेतुः विचारितः. तत्र आशङ्कते **तर्हि माम्** इत्यादि. **तर्हि** इति **कुरु** इति आज्ञाविषयस्यैव धर्मत्वे **तद्रूपत्वाद्** इति धर्मरूपत्वात्. अत्र समाधानं व्याकुर्वते **न्यास** इत्यादि. तत्र इति सन्न्यासे. **अस्मिन् अंशे** इति वैराग्यांशे. **अयम्** इति विरागात्मको अधिकारः. कथम् अस्य भावप्रधानत्वम्? इति अतः आहुः तथाच तत्सजातीयत्वाद् इति. **सर्वधर्मा** इति शरणगमनातिरिक्तधर्माः. इदं सर्वं प्रथमहेतोरेव प्रपञ्चनं नतु व्याख्यानान्तरम्. एवम् आद्यो हेतुः व्याख्यातः.

अस्य हेतोः फलव्यभिचारम् आशङ्कते **ननु पार्थ** इत्यादि. तथा

ननु पार्थ ऐहलौकिक–पारलौकिक–धर्मत्यागाभावाद् एवम् उपदेशस्य फलं न पश्यामः इति अरुच्या पक्षान्तरम् आह **अकिञ्चनाधिक्रियोक्ता** इति. येषां प्रवृत्ति–निवृत्योः भगवदधीनत्वमेवेति ''यत्किञ्चित् कुर्वन्ति तद् भगवानेव करोति'' इति तदतिरिक्तं न किञ्चन अस्ति ते अकिञ्चनाः. तेषामेव शरणागतौ

चाधिकारमादायानया रीत्या धर्मविधातसमाधानमसङ्गतमित्यर्थः. समाधिं व्याकुर्वते **येषाम्** इत्यादि. **तदतिरिक्तम्** इति भगवत्कृत्यतिरिक्तम्. अत्र इदम् आकूतम्. अकिञ्चनाधिकारो हि कर्तृत्वाभिमानत्यागे सति भवति. अभिमानत्यागस्तु द्वेधा भवति. तत्र **''नैव किञ्चित् करोमि''**(भग.गीता ५।८) इति साङ्ख्यसिद्धरीत्या एकः **''एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता हृद्येव तिष्ठन् पुरुषः शास्ति शास्ता तेनाभियुक्तः प्रवणादिबोधकं यथा नियुक्तोस्मि तथा चरामि''** *(महाभा.आश्व.प.अनुगीता २६।१) इति अनुगीतोक्तरीत्या द्वितीयः. तयोः द्वितीयो अत्र अभिप्रेतः **''ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति''**(भग.गीता १८।६१) इत्यनेन पूर्वं सूचितत्वात्. स च शरणोपदेशइति तदङ्गभूतः सो अस्मिन्नपि शरणोपदेशे अङ्गत्वेन ग्राह्यः इति सएव अत्र एवं परामृश्यते. तस्माद् उपदेशाद् अत्र वैलक्षण्यं च 'माम्' इति स्वसम्बन्धविशेषबोधनेन बोध्यते. अतः ईदृगधिकारबोधनाय इयम् उक्तिः इति आपाततः फलव्यभिचार–प्रतीतावपि तदभिसन्धिभेदात् न फलव्यभिचारः इति अधिकारविशेषम् आदाय समाधानं न असङ्गतम् इति अर्थः.

रामानुजाचार्यास्तु ''तमेव शरणं गच्छ'' इति अत्र ''मां शरणम् अनुवर्त्तस्व'' इति ''माम् एकं शरणं व्रज'' इति अत्र कर्तारम् आराध्यं प्राप्यम् उपायं च अनुसन्धत्स्व इति व्याचक्रुः. तेन तन्मते उभयत्रापि भगवच्छरणगतिरेव प्रकारभेदेन उपदिश्यते. सिद्धान्ते तु **''द्वा सुपर्णा''**(मुण्डकोप.३।१।१) इत्यादिश्रुत्या अन्तर्यामिणो अंशत्वाद् उभयोः भेदः.

शाङ्करभाष्ये तु कर्मसन्न्यासानुवादेन अत्र शरणगमनात्मिका ''सो

---

*''एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि, तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं यथा नियुक्तोस्मि तथा वहामि'' इति गीताप्रेसपाठः

अधिकारः इति ज्ञापनाय अकिञ्चनत्वमेव सर्वधर्मत्यागरूपम् उक्तवान् इति अर्थः. एवं सति द्रोणादिमारणवद् राज्यभोग–तत्त्यागावपि इति ज्ञापितम्.

ननु भगवदीयस्य स्वतो अन्यत्र प्रवृत्तिरेव न. प्रवृत्तौ वा न फलसिद्धिः, ''**त्रैवर्गिकायासविघातम्**''(भाग.पुरा.६।११।२३) इतिवाक्यात्. तथा सति स्वयमेव सर्वतो निवृत्तो भविष्यति इति किमर्थं कथनम् इति आशङ्क्य तात्पर्यान्तरम् आह **कार्पण्यं वा अङ्गम् उक्तम्** इति. सर्वसाधनराहित्यस्फूर्त्या आत्मनि दीनत्वं स्फुरति न अन्यथा. तच्च शरणागतौ अङ्गम्. अन्यथा कदाचिद्

अहम्'' इति अभेदानुसन्धानरूपा ज्ञाननिष्ठैव उपदिश्यत इति आशयः उक्तः. तत् न. लक्षणाप्रसक्तेः पूर्वं ''**समासेनैव कौन्तेय**''(भग.गीता १८।५०) इति सन्दर्भे परमज्ञाननिष्ठाफलत्वेन भक्तेः उक्तत्वेन तत्परामर्शाभावे शास्त्रविरोधापत्तेश्च. एतेनैव ''तस्यैव अहं, ममैव असौ, सएव अहम् इति त्रिधा भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः'' इति मधुसूदनीयमपि निरस्तम्.

एवं द्वितीयो हेतुर्व्याख्यातः.

एवं साधितेऽपि अधिकारे त्यागकथनानुपपत्याद्युद्भावनेन पुनः अधिकाराभावम् आशङ्कते **ननु भगवदीय**... इत्यादि. **तथा सति** इति विघाते सति. तथा च पूर्वं स्वतः प्रवृत्या उपदेशोत्तरं पूर्वप्रवृत्त्यभीप्सित–फलविधाताभावेन त्यागोपदेशान्यथानुपपत्या च पूर्वोक्तो अधिकारो न सम्भवदुक्तिकः इति हेतुद्वयमपि असङ्गतम् इति अर्थः. समाधिं व्याचक्षते **सर्वसाधन**...इत्यादि. **दीनत्वम्** अनौजस्त्वं इन्द्रियशक्तिराहित्यम् इति यावत् तद्वत्यपि 'कृपण'पदं रूढमेव, ''**एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा, कथं त्वनाथाः कृपणा वर्त्तेरन् वनमाश्रिताः**'' (भाग.पुरा. १०।१।४५) इत्यादिषु तत्र प्रचुरप्रयोगात्. तथा च ''**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**'' (भग.गीता २।७) इति पूर्वम् अर्जुनवाक्यात्. भगवता च ''**स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा**''(तत्रैव १८।६०) इति तस्य कर्मबद्धत्वबोधनाद्. अर्जुने दैन्यं वर्तते परन्तु व्यभिचारिभावात्मकम्. तच्च न शरणागत्यङ्गतां प्राप्तुम् अर्हति, अभावदशायाम्

भगवद्बलेनैव औद्धत्ये कृते शरणागतिः भज्यते. तेन दीनत्वमेव सर्वधर्मत्यागकथनेन उक्तम् इति अर्थः. यद्वा ''कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचितयाचकः'' इतिवाक्यत् तथात्वं वक्तुं सर्वधर्मत्यागः उक्तः. तथाहि क्व ब्रह्मश्रुत्यादि–दुरापचरणरेणुः ईश्वरः, क्व वा अहं तुच्छो जीवः इति उभयधर्मस्फूर्तौ शरणागतिरेव न सम्भवतीति स्वधर्म–भगवन्माहात्म्यरूपधर्मानपि त्यक्त्वा इति उक्तम् इति अर्थः. अत्र त्यक्त्वा = अविचार्य इति अर्थो ज्ञेयः. अतएव अङ्गम् इति उक्तम्. अस्मिन् पक्षे साक्षाद्भगवतः शरणत्वे यत्प्रतिबन्धकं

अभिमानप्रसञ्जकत्वेन शरणागतिभञ्जकत्वात्. अतो अत्र धर्मत्यागकथनं साहजिक–क्षत्रस्वभाव–जनितस्य **''सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेद्''**(तत्रैव १८।४८) इति अत्याज्यत्वेन उक्तस्यापि धर्मस्य त्यागबोधकम्. अतः पूर्वोक्ताधिकाराभावेऽपि दीनत्वरूप–धर्मस्थैर्यकृताधिकारान्तर–बोधनाय अयम् उपदेशः इति न तत्कथनवैफल्यम् इति अर्थः. एवं च अत्र **''एतान्यपि तु कर्माणि''**(भग.गीता १८।६) इति उक्तरीत्या लोकसङ्ग्रहार्थत्वेन च धर्मकरणात् पूर्वोक्तधर्माविघातः स्फुटएव इति भावः. अत्र एवं मानसत्यागाङ्गीकारे दीनत्वप्रयोजकस्य बहिः तत्त्यागस्य अभावाद् दीनत्वासिद्धिः तदर्थं बाह्यत्यागाङ्गीकारे च अर्जुने तदभावात् प्रत्यक्षविरोधः इति न इदं युक्तम् इति अरुच्या अस्य व्याख्यानान्तरम् आहुः **यद्वा** इत्यादि **वक्तुम्** इति. ईश्वरे वक्तुम्. एतस्य दुरूहत्वाद् व्युत्पादयन्ति **तथाहि** इत्यादि. अत्र 'दुराप'पदेन तथात्वं बोधितम्. ननु एतयोः धर्मयोः तत्र–तत्र स्वाभाविकत्वेन त्यागानर्हतया तत्कर्मतानुपपत्तेः मूलविरोधः इत्यतः परित्यज्य इत्यस्य अर्थान्तरम् अभिप्रेत्य आहुः **अत्र त्यक्त्वा** इत्यादि. अतएव इति उक्तविचारस्य बाधकत्वादेव. ननु एवम् अर्थोक्तावपि अयं पक्षो न युज्यते, उक्तधर्माविचारे पापासम्भवात्. तदसम्भवे च तन्मोक्षणोक्तिविरोधापत्तेः इति अतः आहुः **अस्मिन्** इत्यादि. तथा च धर्मत्यागानपेक्षपापानाम् अत्र विवक्षितत्वात् न मोक्षणोक्तिविरोधः इति अर्थः. अत्रापि धर्मविधाताभावः स्फुटएव. एवं तृतीयो हेतुः द्वेधा व्याख्यातः.

कोश–वृद्धव्यवहारयोः तुल्यबलत्वेन 'कार्पण्य'शब्दशक्तेः नियन्त्रणाभावाद् इति तेन मूलवाक्यस्य गौण्या लक्षणया च व्याख्यानं न दोषाय.

तत् सर्वं 'पाप'शब्देन उच्यते. आधिभौतिकादि–त्रयसत्त्वात् तद्बहुत्वम्.

ननु संसाराद् भीतस्य आर्तस्य पूर्वोक्तधर्मज्ञानं शरणागतौ न प्रतिबन्धकं प्रत्युत महत्त्वज्ञानं साधकम् इति अरुच्या तात्पर्यान्तरम् आह **मदितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढम्** इति. महति अशक्यएव अर्थे हरिः शरणम्, स्वशक्येऽपि अर्थे भगवति भारः किमर्थं देयः? इति आशङ्कानिरासार्थं "**सर्वधर्मान् परित्यज्य**"(भग.गीता १८।६६) इति उक्तम्. सर्वान् भगवदतिरिक्तान् चोदनालक्षणान् तत्तद्देवताभजनरूपान्. लौकिकापेक्षात्यागः 'परि'शब्दार्थः. तथाच मदितरश्च भजनं च अपेक्षणं च तेषां समाहारः तथा. एवं सति सुशक्ये अत्यशक्ये च अर्थे हरिरेव शरणम् इति ज्ञेयम् इति अर्थः. अन्यथा शरणपदार्थाभावः इति भावः. यद्वा अहं च इतरश्च मदितरौ, तयोः यथाक्रमं

अत्रापि अरुचिम् उद्भाव्य चतुर्थं हेतुम् अवतारयन्ति **ननु** इत्यादि न प्रतिबन्धकम् इति. ईश्वरे पूर्वोक्तधर्मवद् दीनबन्धुत्वादीनामपि स्फूर्तेः न प्रतिबन्धकम्. **साधकम्** इति महासामर्थ्यस्फोरकत्वेन साधकम्. समाधिं व्याकुर्वन्तो पूर्वोक्तमूलव्याख्यानस्यापि स्वानभिप्रेतत्वं सूचयितुं श्लोकव्याख्यानात् पूर्वं मूलस्यैव तात्पर्यम् आहुः **महति** इत्यादि. तथा च यद्यपि तथा ज्ञानं न बाधकं तथापि शरणगमनम् अत्र भक्तं प्रति उपदिश्यते, भक्तस्य च भगवत्परिश्रमो बाधते, ततश्च लौकिकापेक्षायां **महती**त्यादिना उक्तो भावः **उदेति** इति तदभावाय इतराश्रयणं तस्य सम्भवति इति तदभावाय एवम् उक्तम् इति अर्थः. तद् एतद् बोधयितुम् आहुः **सर्वान्** इत्यादि. तथा च पूर्वोक्ते अधिकारे एवं जीवधर्मो अयम् एतं विशेषं बोधयितुम् अयं पक्षो अत्र संगृहीतः इति अर्थः तद् आहुः **तथा च**. इत्यादि. एवं सति इति उपदेशतात्पर्ये अवगते सति. एवम् उपदेशस्य प्रयोजनम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. सर्वतोरक्षकत्वं हि एवमेव कृते स्फुरतीति तथा इति अर्थः. अतएव उक्तं "**यावदन्याश्रयस् तावद् भगवानपि तं जनं, विलोकयेन् न दयया ह्यनन्यजनवत्सलः**"(   ) इति अत्रापि पूर्वोक्तरीत्या नित्यधर्मकरणसिद्ध्या तदविघातः स्फुटएव. ननु भजनस्य परिकरादिसापेक्षत्वात् कथं सर्वापेक्षात्यागः सम्भवति? इति आशंक्य उक्तहेतुबोधक–पदव्याख्यानान्तरम् आहुः **यद्वा** इत्यादि. **अनपेक्षणाद्** इति फलजनने सहकारित्वेन अनपेक्षणात्.

भजनम् अपेक्षणं च इति अर्थः. शरणमार्गे भगवद्भजनस्य अनेपक्षणात् तथात्वम्. अस्मिन् पक्षे ‘सर्वधर्म’पदेन भगवद्धर्माऽपि उच्यन्ते. भगवद्वाक्यव्याख्यानत्वेन ‘मत्’शब्दप्रयोगः. ‘तद्’ इति वा.

ननु पापाभावार्थमेव शरणागतिकथनं चेत् तदा प्रायश्चित्तादिनैव तत्सम्भवे अपुरुषार्थरूप–शरणगमनोपदेशो अयुक्तः इति अरुच्या तात्पर्यान्तरम् आहुः **दुःसाध्येच्छोद्यमौ वा क्वचिद् उपशमितौ** इति. भगवदङ्गीकारानन्तरं पापसम्भावनैव न. कदाचित् तत्सम्भवे प्राचीनप्रारब्धस्य न प्रायश्चित्तादिना निवृत्तिः. किन्तु भगवतैव. एवं सति ‘‘**तरति ब्रह्महत्यां यो अश्वमेधेन यजते**’’ (शतपथब्रा.१२।३।१।१) इत्यादिश्रुतिः एतद्भिन्ना इति ज्ञेयम्. तथाच अश्वमेधादिना तन्निवृत्तिः दुःसाध्या. तत्र इच्छोद्यमयोः उपशमनार्थं धर्मत्यागः उक्तः इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे ‘सर्वेषां धर्मान्’ इति अर्थो ज्ञेयः. इदं च महदैश्वर्यं यद् अल्पे अर्थे बहुदानम्. अस्य भगवदीयत्वेन असाधारण्याद् अन्यतो दोषनिवृत्तौ एतन्मार्गाप्रवेशे च न कदाचित् तन्निवृत्तिः भवेद् इति अन्यथानुपपत्तिरेव

तथात्वम् इति भजनत्यागापेक्षया अन्याश्रयदोषस्य प्राबल्यात् तत्सम्भावनायां भजनस्यापि त्याज्यत्वम्. अस्मिन् पक्षे तु काम्यमात्रत्यागो नित्यस्य तु यथाशक्त्या करणम् आयातीति अविघातः स्फुटएव. यदि च भगवद्धर्माणामपि त्याज्यत्वं यत्र तत्र अन्यस्य किमुत इति बाह्यतोऽपि त्यागो अङ्गीक्रियते. तदा तु अधिकारभेदादेव पूर्वोक्तधर्माविघातः इति सर्वं समञ्जसम्. अत्र आद्ये पक्षद्वये पापानां सर्वेषां सम्भावितत्वकल्पनं ‘मोक्षयिष्यामि’ इति अस्य स्वार्थत्यागकथनस्य आश्वासनार्थत्वकल्पनम्. तृतीये तु पार्थे फलव्यभिचार–समाधानप्रयासः. तुरीये च प्रत्यक्षविरोधः तदवान्तरपक्षे तु परित्यज्य इत्यस्य ‘पाप’पदस्य च स्वार्थत्यागः. पञ्चमे ‘अनु’पदोक्ते तु पापासम्भवेन तत्कथनाद्यनुपपत्तिः इति न एकोऽपि पक्षो युक्तो अतः प्राञ्जलएव अर्थो ग्राह्यः इति आशयेन शङ्कते इति आहुः **ननु** इत्यादि. समाधिं व्याकुर्वते **भगवद**...इत्यादि अङ्गीकारोत्तरं पापाभावो अजामिलोपाख्याने सिद्धः. **कदाचिद्** इति चित्रकेतोः वृत्रदशायामिव. **एवं सति** इति भक्त्यर्थेवरणे सति. **भिन्ना** इति भिन्नविषया केवलमार्यादिक–लौकिकपुष्टविषया इति अर्थः तेन लौकिकपुष्ट इन्द्रो व्यावर्त्तितः. **तथाच** इति अलौकिकपुष्टत्वे च. सर्वेषाम् इति मार्यादिकानां लौकिकपुष्टानां च. **तर्हि** इति

शरणकथने बीजम्. तेन एतस्य दानमेव, न कथनमात्रम्. तर्हि पूर्वोक्तेच्छोद्यमासम्भवात् तत्कथनम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य ''पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः'' इतिन्यायेन तत्परिहारः इति ज्ञापनाय **क्वचिद्** इति उक्तम्. तथाच तौ क्वचित् सम्भवः इति पूर्वेण सम्बन्धः. तथापि लोकसङ्ग्रहार्थं धर्मकरणम् उचितम् इति आशङ्क्य तात्पर्यान्तम् आह **अन्यसम्मेलने वा ब्रह्मास्त्रन्यायः उक्तः** इति. अयं न्यायो हनुमति प्रसिद्धः. तथाच धर्मन्तरसम्बन्धे शरणपदार्थो गच्छतीति तद्रक्षार्थमेव धर्मत्यागः उक्तः इति अर्थः. 'एक'पदमपि अतएव, अन्यथा 'माम्' इति अनेनैव एकत्वप्राप्तेः इदं व्यर्थः स्यात्. तदर्थस्तु

सर्वथा भगवदीयत्वे. **क्वचिद्** इति उक्तम् इति अक्लिष्टकर्मत्वाय स्वभावान्यथाकरणाभावे व्रजस्थानां देवयात्रावत् सम्भवति इति बोधनाय तथा उक्तम् इति अर्थः. **पूर्वेण** इति दुःसाध्येच्छोद्यमौ इत्यनेन. एवं च अत्र अधिकारभेदेन उदितानुदितहोमवत् करणं न प्रथमे प्रवृज्यादितिवद्वा अपरित्यागः इत्यतो न विघातः इति बोध्यम्. एवं व्यवस्थायां दोषाभावेपि ''**लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुम् अर्हसि**''(भग.गीता ३।२०) इति पूर्वोक्तम् अनुसन्धाय आशङ्कते **तथापि** इत्यादि. समाधिं व्याकुर्वते **अयम्** इत्यादि. **प्रसिद्धः** इति आर्षे रामायणे प्रसिद्धः. **उक्तः इति अर्थः** इति. ''**सर्वगुह्यतमं भूयः**''(तत्रैव १८।६४) इत्यादिना प्रक्रमान्तरेण उक्तः इति अर्थः. **अतएव** इति उक्तन्यायबोधनार्थत्वादेव. **अतः** इति अधिकारभेदात् मार्गभेदाच्च इति अर्थः.

तथासति अयम् अर्थः सम्पद्यते. पूर्वम् अर्जुनः स्वभावजकर्मनिबद्धः तत्प्रेरितेन सत्त्वमिश्रतमसा ज्ञातिघातं गर्ह्यम् आलोच्य विषसाद तदा भगवान् तदधिकारम् अनुसृत्य साङ्ख्य-योगाभ्यां तत्-तमोपहरन् पञ्चमे षष्ठे च अध्याये निर्द्वन्द्वतया सन्न्यासेन कर्मकरणम् उवाद. ततो अन्यदपि उक्त्वा, विश्वरूपमपि दर्शयित्वा, स्वस्वरूपे ज्ञापिते रजसोऽपि अभिभवेन सत्त्वोद्रेके अर्जुनस्य जाते ''**एवं सततयुक्ताये**''(तत्रैव १२।१) इति उपासनायां विशेषं स पप्रच्छ तदा भगवान् ''**मय्यावेश्य मनो ये माम्**'' (तत्रैव १२।२) इत्यादिना स्वोपासनस्य उत्कर्षम् ऊचे. ततो भक्तिश्रवणाधिकारे सम्पन्ने भक्तस्य स्वप्रियत्वकथनेन

देशकालापेक्षारहितम् इति. अतो न विहतो धर्मः इत्यादि पूर्ववत्.

(मुख्यतात्पर्यम्)

पुरःस्फूर्तिको अयम् अर्थो वस्तुतस्तु अन्यत्रैव तात्पर्यम्. तथाहि अत्र सर्वात्मभावे तात्पर्यम्. धर्मत्यागकथनेन धर्मो न विहतः इति अत्र हेतुः उच्यते. **न्यास...**इत्यादि. भक्तिमार्गीयन्यासो घोषभूषण–सीमन्तिनीष्वेव इति पितृचरणैः संन्यासप्रकरणे निरूपितम्. तथाच न्यासस्य आदेशः कथनम्. ''**सन्त्यज्य सर्वविषयान्**''(भाग.पुरा.१०।२९।३१) इत्यादि. ''**कास्त्र्यङ्ग ते**''(तत्रैव १०।२९।४०) इत्यादि. ''**किङ्करीणाम्**''(तत्रैव १०।२९।४१) इति च. न हि कैंकर्ये पूर्वसिद्धो धर्मः तिष्ठति ''**एवं मदर्थोज्झत–लोकवेदस्वानाम्**'' (भाग.पुरा.१०।३२।२१) इति च. ''**पतिसुतान्वय–भ्रातृबान्धवान्**''(तत्रैव

भक्त्युत्कर्षम् उक्त्वा अग्रे निर्गुणत्वाय पूर्वम् उक्तस्य अव्यभिचरित–भक्तियोगपूर्वक–सेवनस्य सिद्ध्यर्थं क्षेत्रस्वरूपम् आरभ्य भक्तिलाभ–तत्फलपर्यन्तं वदन् ''**सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेद्**''(भग.गीता १८।४८) इति द्वाभ्यां कर्मसन्न्यासम् उपदिष्टवान्. स च अष्टादशाध्यायारम्भे ''**सन्न्यासस्य महाबाहो**''(तत्रैव १८।१) इत्यादिप्रश्नोत्तराभ्यां निश्चिततत्त्वो नि:सङ्ग–निरपेक्ष–कर्मकरणएव पर्यवस्यति. ततः ''**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः**''(तत्रैव १८।५६) इत्याद्युक्ते आश्रयाधिकारेऽपि तथा उवाद. तेन अन्तर्यामिशरणभावेनापि तथैव फलति इत्येवं सर्वेषु पक्षेषु न आज्ञादिसिद्धधर्मविहतिः इति इहापि 'शरण'पदेन आश्रयस्यैव परामर्शाद् अत्रापि तथा इति. अयं च अर्थो अत्र न तात्पर्यविषयः. तथाहि प्रतिज्ञान्तरेण ''**सर्वगुह्यतमं भूयः**''(तत्रैव १८।६४) इत्यादिना उक्ते अधिकारेऽपि चेत् सएव प्रकारः तदा अत्र परित्यज्य इति 'सर्वगुह्यतमम्'इति च शब्दान्तरनिर्देशो अप्रयोजकताम् आपद्येतेति न पूर्वोक्तरीतिकाधिकारादौ तात्पर्यम् इति आशयेन आहुः **पुरः** इत्यादि. **धर्मो न विहतः** इति सर्वात्मभावबोधने धर्मो न विहतः. **कथनम्** इति अनुवादः. अत्र प्रथमवाक्ये लौकिकस्य द्वितीये वैदिकस्य त्यागो अनूद्यते. तृतीये च तत्र हेतुः उच्यते इति तद् विवृण्वन्ति **न हि** इत्यादि. तदेव उदाहृत्य दर्शयन्ति **पति** इत्यादि. तर्हि अत्र मूले 'सर्वधर्म'पदेन किं परिच्छेद्यत?

१०।३१।१६) इति. एवं सति तत्त्यागवचनं पूर्वसिद्धमिति एतदपि तत्सजातीयम् इति अर्थः. भावप्रधानत्वम् अत्रापि. तथाच सर्वधर्मान् परित्यज्य मां धर्मिणं व्रज इति अर्थः.

कर्मज्ञानभक्तिमार्गा हि मोक्षान्ताः भगवद्धर्मपर्यवसानाएव, नतु धर्मिपर्यवसानाः. त्रिष्वपि विहितत्वेनैव करणम् इति भगवद्धर्मरूपाज्ञापरत्वमेव इति तथा सर्वात्मभावस्य केवलधर्मिपर्यवसानात्मएव भावः उपदिष्टो भवति.

किञ्च **अकिञ्चन...**इत्यादि. ''**तदर्थविनिवर्तित-सर्वकामा**'' (भाग.पुरा.१०।२९।३०) ''**तन्मतस्कास्तदालापा**''(भाग.पुरा.१०।३०।४४) इत्यादि. एतादृशाः अकिञ्चनाः येषां क्षणविलम्बोऽपि सोढुं न शक्यः. अन्यथा प्रातरायास्यत्येवेति किमर्थम् एतावान् प्रयासः स्यात् तथाच स्वविवेकधैर्यत्यागः उक्तो भवति. सर्वात्मभावयुक्तस्य एतत्त्यागः सहजः इति न उपदेशार्हः इति अधिकारएव तेन उक्तः. तेन भावोत्पत्तेः पूर्वमेव तत्त्यागो भवति इति सूचितम्, अधिकारस्य तथात्वात्.

तत्रापि क्लेशो भगवत्तिरोधानजन्यः श्रूयते इति कथं निस्तारः इति आशङ्कानिरासार्थं कार्पण्यं वा अङ्गम् उक्तम्. एतच्च सर्वसाधनवैफल्ये ''**रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः**''(भाग.पुरा.१०।३२।१) इति अत्र उक्तं दैन्यम्. तेन न क्लेशो भावी इति भावः.

भावे वा पुरुषार्थरूपत्वात् क्लेशस्य न काचित् न्यूनतावपि इति आह

इत्यतः आहुः **कर्म** इत्यादि. तथा च ते परिच्छेद्यन्ते इति अर्थः. तथा सर्वात्मभावस्य इति वामदेवादिसर्वात्मभाव-विलक्षणस्य भक्तसर्वात्मभावस्य वैलक्षण्यं च अत्र ''**आत्मैवाधस्ताद्**''(छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यादिश्रावित-रूपत्वेऽपि रसवैशिष्ट्यकृतमेव बोध्यम्. धर्मिपर्यवसानं च तदाकांक्षौत्कट्याद् इति. तदेतद् आहुः **किञ्च** इत्यादि. एतस्य भावस्य जघन्यताम् आशंक्य परिहरति इति आहुः **तत्रापि** इत्यादि. कार्पण्यं वा इत्यादौ 'वा'शब्दः 'पूर्ववद् वा' इत्यादाविव समुच्चयार्थो वाक्यालङ्कारे. **एतच्च** इति. अत्र विवक्षितं कार्पण्यं च. चो अवधारणे. तथा च वैफल्येन व्यभिचारावगमात् ''**सर्वधर्मान् परित्यज्य**'' इति अत्र हेत्वनुसन्धानपूर्वकः त्यागो मूलाभिप्रेतः इति अर्थः. अभजनेन न्यूनतापि इति

मदितर...इति. इतरस्मिन् भजनम् इतरभजनम्. तथाच ''यथा अहं भजामि तथा स्वाम्यपि भजतु'' इति अपेक्षा तथाकृता इति अर्थः. तदुक्तं **''नाहं तु सख्यः''** (भाग.पुरा.१०।३२।२०) इत्यादिना.

यद्वा 'सर्वधर्मान्' इति स्वामिविशेषणम्. एवं सति तान् परित्यज्य शरणभूतं मां व्रज प्राप्नुहि इति अर्थः. सर्वात्मभाववत्स्वेव हि आनन्ददानार्थं ब्रह्मधर्मानपि आत्मारामत्वादीन् भगवान् त्यक्तवान् इति. तथाच मम एतादृशभक्तम् अपहाय अन्यभजनापेक्षणं तथा इति अर्थः.

नच एतादृशो भावः साधनैः भवितुं शक्नोतीति साधनैः इमं भावं साधयिष्यामि इति इच्छोद्यमौ तथा साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपतएव जातेऽपि आधुनिकानां साधनैः भविष्यति इति शङ्काव(?)भावाय 'क्वचिद्' इति उक्तम्. किञ्च एतद्भावयुक्तस्य अन्यमेलनमपि न. यथा इतरमेलने ब्रह्मास्त्रगमनं तथा एतद्भावे सति न अन्यमेलनम् इति अर्थः. अस्मिन्नपि पक्षे स्वामिविशेषणं ज्ञेयम्. तस्माद् **''भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणाम्''** (भाग.पुरा.१०।२९।२४) इति आज्ञा न तथा इति अर्थः. तस्य मर्यादात्वात् त्यागस्य च पुष्टिरूपत्वाद् इति भावः इति हृदयम्.

अभजनेनापि न न्यूनता इति योजना. **तदुक्तम्** इत्यादि. तथा च तदापि परोक्षभजनसद्भावात् न न्यूनता इति अर्थः. भजननैयत्यं च **''ये यथा माम्''**(तत्रैव ४।११) इति प्रतिज्ञावाक्यात् निश्चेयम्. ननु भक्तस्य सख्यपर्यन्तः एतादृशे भावे जाते सति एतादृशापेक्षोत्पत्तिः भावोत्पत्तिस्तु दर्शनविशेषात्. सच **''यमेवैष''** (कठोप.२।२२) इति श्रुतेः वरणात्. तच्च भगवदेकसाध्यम् इति तादृशतदभावे भजनापेक्षैव दूरा इति तद्व्यपोहार्थं धर्मत्यागोक्तिः कथं सङ्गच्छते ? इति अतः आहुः **यद्वा** इत्यादि. एतत् तात्पर्यम् आहुः **तथाच** इत्यादि. यः एतादृशभक्तः तत्रैव भगवता आत्मारामत्वादयः त्यज्यन्ते यथा भीष्मस्थले **''स्वनिगमम् अपहाय''**(भाग.पुरा.१।९।३७) इति न अन्यत्र. अतः एतादृशे वरणादेः नैयत्यात् तासामिव अस्यापि अपेक्षा स्याद् इति तद्व्यपोहार्थं धर्मत्यागोक्तिः युक्ताएव इति अर्थः.

न च इत्यादि **हृदयम्** इत्यन्तग्रन्थस्तु निगदव्याख्यातः.

ननु पार्थस्य एतद्भावानुत्पत्तेः अयम् उपदेशार्थः इति कथम् अवधार्यते? इति चेद्, उच्यते, भगवान् शास्त्रार्थं प्रतिपादयति तत्र यथाधिकारो बोधः इति दिक्.

अत्र फलव्यभिचारम् आशङ्क्य आहुः **ननु** इत्यादि. समादधते **उच्यते** इत्यादि. तथा च यथा एकादशस्कन्धे **''कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता''**(भाग.पुरा.११।१४।३) इति सन्दर्भे वेदेन स्वतात्पर्य-गोचरार्थप्रतिपादनेऽपि अध्येतॄणां स्वभावभेदेन यथाधिकारम् अन्यान्यविधएव बोधो नतु स्वारसिकः तेषाम् अबोधेपि न वेदस्य स्वाभिप्रेते तात्पर्याभावः तथा अत्रापि इति अर्थः. एवं च यथा एकादशे **''अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन, सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा''** (भाग.पुरा.११।११।४९) इति परमसुगोप्यकथनं प्रतिज्ञाय तस्य उत्तमाधिकारं च अनूद्य **''न रोधयति माम्''**(भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यारभ्य **''रामेण सार्द्धम्''** (तत्रैव ११।१२।१०) इत्यादिना व्रजसीमन्तिनीभावस्य सर्वेभ्यः उत्कर्षम् उक्त्वा **''तस्मात् त्वम् उद्धवोत्सृज्य''**(तत्रैव ११।१२।१४) इति द्वाभ्यां सर्वत्यागपूर्वक-सर्वात्मभावकरणक-शरणगमनम् उपदिष्टम् तथा अत्रापि सर्वगुह्यतमस्य पुनःश्रवणकथनेन मुखेन **''मन्मना भव''**(भग.गीता १८।६५) इत्यादेः पुनः कथनं प्रतिज्ञाय अर्जुनाधिकारं च अनूद्य **''मन्मना भव''** इत्यादि श्लोकद्वयेन अनन्यतां सर्वत्यागपूर्वक-शरणागतिं च उपदिष्टवान् इति प्रकरणसामान्यन्यायेन सएव अर्थो अत्र इति.

किञ्च श्रीमदुद्धवस्यापि द्राग् अबोधो यत्र तत्र अर्जुनस्य तादृशाधिकाराभावात् क्व द्राक् तद्बोधः इति बोधितम्. किञ्च अत्र 'अधिकार'-पदकथनेन पूर्वव्याख्यानगत-विकल्पानां तत्तदधिकारेण व्यवस्थानाद् दुष्टत्वमपि परिहृतम्. तथा हि यत्र व्रीहियववत् षोडशिग्रहणाग्रहणवद्वा परस्परविरुद्धं वाक्यद्वयं तत्र एकवाक्यार्थोपादाने द्वितीयवाक्य-प्रामाण्यत्यागाप्रामाण्यारोपौ प्रथमवाक्य-प्रामाण्योज्जीवनारोपिताप्रामाण्यत्यागौ इति एवं चत्वारः. एवं द्वितीय-वाक्यार्थोपादाने शास्त्रद्वयविपर्यासेन चत्वारः इति पर्यायद्वयेन अष्टौ दोषाः इति अव्यवस्थितो अतिदुष्टः व्यवस्थितस्तु एकशास्त्रविषयकमेव दोषद्वयं प्रसञ्जयति न

इतरान् इति स न अतिदुष्टः इति साम्प्रदायिकमीमांसकानां पन्था: स न अस्माकं रोचते, प्रथमपर्याये प्रथमवाक्यप्रामाण्यत्यागात् प्रामाण्यस्वीकारयोः अभावेन उज्जीवनारोपयोः वक्तुम् अशक्यत्वात् अप्रामाण्यस्य अत्र फलकृतत्वेन अनुष्ठानदशायामेव तन्निद्धारेणापि पूर्वं तदनवगमाच्च. प्रामाण्योज्जीवनस्य स्थूणाखननतुल्यत्वेन आरोपिताप्रामाण्यत्यागस्य च गुणत्वेन एतयोः दोषत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वाच्च. अतो अव्यवस्थितेऽपि चत्वारएव दोषा:, अव्यवस्थानेन सह पञ्च वा, व्यवस्थिते द्वयमेव इति निश्चय:. प्रकृते तु वाक्यस्य एकत्वेन विकल्पाप्रसञ्जकत्वात् तात्पर्यनानात्वस्यापि **''‘द’ इति व्यज्ञासिष्टा''** (बृहदा.उप.५।२।१) इति दाक्षरार्थन्यायात् सर्वान् प्रत्यभानेन विकल्पाप्रसञ्जकत्वाद् यस्य च सर्वतात्पर्यभानं तस्य तु अन्येषु गौणसिद्धान्तभानेन एकत्रैव मुख्यत्वावधृते: कथमपि प्रामाण्यविरहाभावात् न कोऽपि विकल्पप्रसङ्गः इति. एवमेव अन्यत्रापि एकवाक्यीय-नानाव्याख्यानस्थले अवगन्तव्यम्. तदपि अनुष्ठापकवाक्ये स्थले अननुष्ठापके तु प्रमाकरणत्वलक्षणं वा लोकानधिगताबाधितार्थ-गन्तृत्वलक्षणं वा प्रामाण्यं. तत्तु उपपद्यमानेषु सर्वेष्वपि अर्थेषु तुल्याम् एकविधाम् अनेकविधां वा यथासम्भवं प्रमितिमेव जनयति इति अबोधकत्वलक्षणस्य अप्रामाण्यस्य अभावात् न विकल्पदोषावसर: दाक्षरार्थन्यायात्(बृहदा.उप.५।२।१) च. बाधितार्थत्वलक्षणन्तु अप्रामाण्यं तेषु नास्त्येव इति तदुद्भावयंस्तु तथागतपदवीमेव अनुसरेत्. किञ्च उत्तरतन्त्ररीत्या **''एष उ एव''**(कौषि.उप.३।९) इति श्रुते: सर्वनिर्णयप्रदर्शितवर्त्मना विचारे तु विद्यादीनां फलमुखप्रवर्त्तकत्वाद्यभावेन अनुष्ठापकत्वाभावाद् अननुष्ठानलक्षणम् अप्रामाण्यमेव नास्ति इति विकल्पेऽपि न दोषसंसर्गः इति वृथा अयं जैमिनीयाभिमानिनाम् आण्डबर:. अत एकस्य वाक्यस्य यत् नानाविधार्थबोधनं तद् यथाधिकारबोधेन तत्तल्लीलाप्रचारार्थं **''त्वमेतद् विपुलीकुरु''** (भाग.पुरा.२।७।५१) इतिवत्. अत्रापि च तदभिप्रेतं अन्यथा अत्र उक्तानाम् अर्थानां मध्यमपुरुषप्रयोगपूर्वकम् अर्जुनं प्रति उपदिष्टत्वेन अन्येषाम् अकर्त्तव्यत्वापत्ते:. न च इष्टापत्ति: **''इदं ते नापस्काय''**(भग.गीता १८।६७) इत्याद्युक्तस्य अनधिकारिषु अवचनस्य अधिकारिषु अभिधानस्य च यद् आज्ञापनं

अस्मिन् पक्षे भगवदतिरिक्तस्य भगद्भावप्रतिबन्धकत्वेन अनिष्टत्वात् सर्वस्यैव पापरूपत्वम्. तथाच तेभ्यः तथा करिष्यामि इति अर्थः. एतेन अयं भावः. एतत्प्रतिबन्धकापगमश्च भगवतैव इति ज्ञापितम्.

अथवा पार्थेऽपि अयं भावो भावी इति ज्ञेयम्. अन्यथा पूर्वश्लोके 'मामेव' इति एवकारो व्यर्थः स्यात्, 'माम्' इति अनेनैव भगवदैक्यप्राप्तेः. तथाच सर्वात्मभावविषयधर्मिमात्रम् एष्यसि इति अर्थः सम्पद्यते. तथाच पूर्वसाधनम् उक्त्वा उत्तरेण तं भावमेव उपदिष्टवान्. अतएव 'व्रज'इति मध्यमपुरुषप्रयोगः 'त्वाम्' इति च उपपद्यते. भगवद्वाक्येन एतद्भावस्वरूपज्ञाने सति मोक्षाधिक–परमपुरुषार्थरूप–भावाप्राप्तिज्ञानेन भगवदितरस्य सर्वस्यैव प्रतिबन्धकत्वज्ञानेन च तस्मिन् शोचन्तं पार्थम् आश्वासयितुम् उत्तरार्धः.

तद् वैयर्थ्यापत्तेः, अधिकारिणां कर्त्तव्यत्वार्थमेव तदाज्ञापनाद् इति. अतः पूर्वोक्तं सर्वम् उपपन्नम् इति दिक्.

प्रकृतम् अनुसरामः. उत्तरार्द्धं योजयितुम् आहुः **अस्मिन्** इत्यादि. ननु भवतु अयं शास्त्रार्थः तथापि भगवान् अधिकाराभावे किमिति उपदिशति ? किञ्च, अत्र एतत्तात्पर्यगमकं किम्? इति आकांक्षायां पक्षान्तरोपन्यासमुखेन उत्तरम् आहुः **अथवा** इत्यादि. तथाच अधिकारदानार्थमपि अयम् उपदेशः **''इष्टोसि मे दृढम् इति ततो वक्ष्यामि ते हितम्''**(तत्रैव १८।६४) इत्यनेन तस्मिन् कृपातिशयसूचनात्. अत्र गमकम् आहुः **अन्यथा** इत्यादि. तद् उपपादयन्ति **माम्** इत्यादिना. ऐक्यं सायुज्यम् तेन इति. एवकाराद् अक्षरस्य लोकवेदप्रसिद्धस्वरूपस्य च व्यवच्छेदेन उक्तार्थवैशद्याय आहुः **तथा च पूर्वम्** इत्यादि. **अतएव** इति तं प्रति उपदेशादेव. तथा च यथा श्वेतकेतुविद्यायां मध्यमपुरुषप्रयोगः तथा अत्र इति. तत्र यथा ज्ञानविषयत्वेन अणिम्नः सतः सर्वात्म्योपदेशः एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापूर्त्त्यर्थः तथा अत्र स्वस्य शरणत्वोपदेशोऽपि. सर्वात्मभावविषय–धर्मिप्राप्ति–प्रतिज्ञापूर्त्त्यर्थः इति अर्थः. उत्तरार्द्धं सङ्गमयन्ति **भगवद्वाक्येन** इत्यादि.

पार्थे एतद्भाववत्त्वाप्रसिद्धिकृताम् अधिकाराभावशङ्काम् अपाकर्त्तुम्

एतद्भाववत्त्वेन तदप्रसिद्धिः ''**इदं ते नाऽतपस्काय**''(भग.गीता १८।६७) इत्यादिना निषेधात् स्वहृदयएव निगूढत्वेन स्थापनाद् इति ज्ञेयम्. अतएव स्वस्य केवलभगवदीयत्वख्यापनाय ''**करिष्ये वचनं तव**''(तत्रैव १८।७३) इति उक्तं, नतु ''शत्रून् हनिष्ये'' ''राज्यं भोक्ष्ये'' इति वा. तथाच तत्करणम् आज्ञापालनमेव इति उक्तम्.

किञ्च एतद्भाववतएव अत्युदारत्वेन अन्यत्र सर्वत्रैव तुच्छबुद्धिः भवेद् न अन्यस्य. इतोऽपि पार्थे तद्भाववत्त्वं लक्ष्यते. अन्यथा स्वतो वेदवाक्यविचारेण गुर्वादिवधाद् विमुखस्य तद्विरुद्धवाक्यश्रवणे च उभयोरपि तद्वाक्यत्वात् समानबलत्वेन संशयजनकत्वमेव स्यादिति न तत्र निःसन्दिग्धा प्रवृत्तिः स्यात्. अतएव धर्मिणि हृदयं गते धर्ममार्गस्य दुर्बलत्वम् इति ज्ञात्वा ''**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः**''(तत्रैव १८।७३) इति उक्तवान्. अतएव ''**नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति**''(भाग.पुरा.६।१७।२८) इत्यादि शिववाक्यम्. राज्याद्यर्थं गुर्वादिमारणन्तु मोहकार्यमेव इति ''**नष्टो मोहः**''(भग.गीता १८।७३) इति न वदेत् च इति निगूढाशयः.

यद्वा सर्वात्मभाववतां वार्ताश्रवणेन तस्य मोक्षाधिक–परमपुरुषार्थत्व–ज्ञानेन तदर्थं भगवद्भजनादावपि कृते यदा न तत्प्राप्तिः, तस्य च अवश्यापेक्षणीयत्वेन अत्यार्तिः भवेद् भगवदनुग्रहविशेषैकलभ्यत्वज्ञानं च, तदा स्वाशक्यत्वज्ञानेन तादृशानुग्रहकरणे तद्भावप्राप्तौ च भगवानेव शरणम् इति शरणागतिः भवति. ततः च तद्भावप्राप्तिः. उभयमपि इदं फलरूपम् इतरसाधनासाध्यम् इति वरवद् दास्यन् आह ''**सर्वधर्मान्**'' इति. उक्तरीत्या लौकिक–वैदिकभगवद्धर्मान् एतदसाधनत्वात् त्यक्त्वा ''**मां शरणं व्रज**'' इति उत्तरार्धसहितेन शरणागतिदानम्. तदनन्तरम् एकं केवलभावविषयं मां व्रज प्राप्नुहि

आहुः **एतद्भाव** इत्यादि. भाववत्त्वे गमकम् आहुः **अतएव** इत्यादि. **किञ्च** इत्यादीति. तथा च अर्जुनवाक्यमेव एतद्भावगमकम् इति अर्थः. शोकाभावोक्तिरपि सर्वात्मभावगामिका इति आशयेन पक्षान्तरम् आहुः **यद्वा** इत्यादि. **यद्वा** इति वक्ष्यमाणमपि गमकं भवति इति अर्थः. तद् उपपादयन्ति **सर्व**...त्यादि.

इति तद्भावदानम्. तदैव शोकनिवृत्तिरपि भविष्यति इति आह ''**मा शुच**'' इति, केवलभावलभ्य–रसस्यैव तन्निवर्तकत्वात्. अतएव भागवते ''**शोकनाशनम्**'' (भाग.पुरा.१०।२८।१४) इति तद्विशेषणम्. एवं सर्वम् अवदातम्.

इति पितृचरणकृपातो गोपीपतिचरणरेणुधनिना यः ।
श्रीविट्ठलेन विवृतो भावो मयि स स्थिरो भवतु ।।१।।

।। इति श्रीमदग्निकुमारविरचितं श्रीन्यासादेशविवरणं सम्पूर्णम् ।।

एवं सर्वं व्याख्याय एतद्भावस्थैर्यम् आशासानाः समापयन्ति **इति** इत्यादि. **मयि** इति विवरणकर्त्तरि स्वस्मिन्.

इति प्रभुपदाम्भोजम् अनुसन्धाय तद्बलात्।
न्यासादेशीयविवृतेर् आशयो विशदीकृतः।।

इति श्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमविरचिता
श्रीन्यासादेशविवरणटीका सम्पूर्णा.

V

उत्सवभावानुक्रमः

(अथ जन्माष्टम्युत्सवः)

येन दुःखेन गोपीनां यशोदानन्दयोस्तथा ।
प्रकटोऽभून्निरोधार्थं तथा मयि कृपां कुरु ।।१।।
निवेदितात्मभावेन महतां कृपया तथा ।
देहि स्वानन्दरूपं स्वदास्यं श्रीपुरुषोत्तम ।।२।।
हरेः करुणया कृष्ण! मदर्थं प्रकटो भव ।
अहं यथा निरोधस्य पदवीं याम्यसंशयम् ।।३।।
इति विज्ञाप्य श्रीकृष्णमूर्त्यग्रे प्राञ्जलिस्थितः ।
यशोदानन्दगोगोपीगोपसङ्घसमन्वितम् ।।४।।
व्रजभावनया सिद्धं कृत्वा यदि विभायेत् ।
स्वार्थं प्रकटितं कृष्णम् आनन्दाकारमुत्तम् ।।५।।
ततः सम्पूजयेत् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः ।
प्रत्यब्दं कार्यमेवं हि लीलानित्यत्वतः सदा ।।६।।

(वामनजयन्ती)

यथा स्वदासवंशीयबलेरर्थार्थसिद्धये ।
अङ्गीकृतं तु तत्सर्वं तथैव कुरु मे प्रभो ।।७।।

(विजयदशमी)

प्रतिबन्धासुरं दूरीकृत्य भक्तमनोरथः ।
पूरितः स्वप्रियां नीत्वा तथा मेऽस्तु मनोरथः ।।८।।

(रासोत्सवः)

श्रीकृष्ण पूरयान्तस्थासुरभावविनाशनात् ।
दर्शनं देहि रासस्य स्वप्रियासङ्गतं स्वकम् ।।९।।

(दीपोत्सवः)

यथा श्रीमन्नन्दकृतदीपावलीविधानकम् ।
लौकिकं स्वीकृतं स्वात्मप्रवेशार्थं व्रजेश्वर! ।।१०।।
कृपया स्वीयतासिद्ध्यै पर्वं विस्मारणेन हि ।
तथा दीपादिकं सर्वम् अङ्गीकुरु मदर्पितम् ।।११।।

(गोवर्द्धनपूजा)

स्वशक्तिहृदयारूढं स्वं यथा प्रकटीकृतम् ।
तथैव प्रकटीभूय गिरौ पूजां गृहाण मे ।।१२।।
गिरिच्छत्रेण दृक्पातचामरैः स्नेहवारिभिः ।
केवलस्वीयताराज्येऽभ्यर्षिचद् व्रजमीश्वरः ।।१३।।

(अन्नकूटः)

त्वदाज्ञप्तस्वयागात्मान्नकूटस्य समर्पणात् ।
गोवर्द्धनाचलाधीश! प्रसीद सततं मयि ।।१४।।
यथेन्द्रयागभङ्गाच्च स्वयागस्य च कारणात् ।
नन्दादीनाम् अनन्यत्वं कृतं मयि तथाकुरु ।।१५।।

(प्रबोधिनी)

क्रीडया योगनिद्राङ्गीकारेण रससागरे ।
तत्रस्याङ्गीकृतं मासैः पुमर्थप्रतिपादकैः ।।१६।।
तथाधुनोत्तिष्ठ कृष्ण! याहि स्वमात्मनिवेदितान् ।
तदङ्गीकृतमानार्थं जगद्रसमयं सृज ।।१७।।

(मार्गशीर्षे)

स्वनाथप्रापिकां देवीं सन्तुष्टां कृष्णरूपिणीम् ।
भावयित्वात्मभजनीये रूपे पूजयेच्च ताम् ।।१८।।

(कात्यायनीपूजनभावना)

(वसन्तः)

कामेपि प्रमदाभावकरणं कामसुन्दरम् ।
तदर्थं सेवयेत् कृष्णं कैशोरे वयसि स्थितम् ।।१९।।
एवं संपूजितः कामपञ्चम्यां कामदोऽसि यत् ।
गोपीनां कृपया देहि तथा मे काममद्भुतम् ।।२०।।

(दोलोत्सवः)

प्रियोरुरूपभावात्मस्तम्भयुग्मसमन्विताम् ।
श्रीकृष्णस्मृतिसौख्याय दोलामारोपयाम्यहम् ।।२१।।
प्रियाबाहुलताभावात्मिकायाम् अनुरागतः ।
दोलायां दोलयामि त्वां प्रसीद पुरुषोत्तम! ।।२२।।

(रामनवमी)

श्रीकृष्णहास्यरूपेण प्रमदाभावकारकः ।
तदर्थं प्रकटो यस्त्वां भजामि रघुनायक! ।।२३।।
यथैवाग्निकुमाराणां भावम् उत्पाद्य दत्तवान् ।
वरं मे कृपया देहि तथा देव! नमोस्तु ते ।।२४।।

(श्रीमत्प्रभूत्सवः)

श्रीकृष्णान्तर! कृष्णास्य–रसरूपविहारकृत् ।
तदर्थं प्रकटः स्वीये दास्ये माम् अनुभावय ।।२५।।

(चन्दनयात्रा)

कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यम् अङ्गरागम् अतिप्रियम् ।
श्रीकृष्णतापशान्त्यर्थम् अङ्गीकुरु रतिप्रियम् ।।२६।।

(नृसिंहजयन्ती)

ग्रीवारूपं श्रीनृसिंहं स्वभक्त्यतिशयाद् यथा ।

प्रकटीकृतवान् कृष्ण! तां भक्तिं वितरस्व मे ।।२७।।

(ज्येष्ठाभिषेकः)

प्रियारतिविहारोत्थश्रमवारिसुगन्धिना ।
शृंगाररसरूपात्म–यामुनब्रह्मवारिणा ।।२८।।
स्वरूपरसदानार्थं तत्परान्तरभावनात् ।
प्रियाङ्गरसनीरेण स्वभिषिक्तो भव प्रभो ।।२९।।
स्नातस्तद्रसदानार्थं स्वसृष्टिं कारणात्मिकाम् ।
सृष्ट्वातितद्रसक्रीडां तद्दास्ये स्वीकुरुष्व माम् ।।३०।।

(रथयात्रोत्सवः)

श्रीकृष्ण रथमारुह्य सरामेण सभद्रया ।
पाहि मां भक्तिदानेन दुःखसंसारसागरात् ।।३१।।

(रथाधिवासनम्)

मनोरथात्मकरथे रथरूपं हरेर्मम ।
श्रीकृष्णस्योपवेशार्थम् अधिवासं कुरु प्रभो ।।३२।।
मनोरथात्मकः कृष्ण कल्पितोऽयं रथस्तव ।
पुरयात्रोत्सवं पश्य गोपीवन् मन्मनोरथम् ।।३३।।

(पवित्रोत्सवः)

या कृता वार्षिकी सेवा सा मूलफलदा मता ।
प्रत्यहं सूत्ररूपेण सैकीभूतानुभावनात् ।।३४।।
पवित्रं तज्ज्ञापकं हि प्रेक्षितं हरिणा ततः।
अतस्तदारोपणं तु श्रीकृष्णे सन्मतं सदा ।।३५।।
तदा स्युस्त्वद्भक्तिभावा मूले सर्वे समर्पिताः ।
त्वत्प्रेषितं पवित्रं हि मूलसेवाफलात्मकम् ।।३६।।
समर्पयामि तत्प्रीतः कृपयाङ्गीकुरु प्रभो ।
तत्समर्पणतो भावसेवायाः फलरूपता ।।३७।।

सा कायवाङ्मनोभिश्च दृढप्रेम्णा कृता सती ।
दृढमूलालतावच्च वृद्ध्या कृष्णं फलिष्यति ।।३८।।
व्यस्तैस्तैः सुदृढैर्हीनमध्यमोत्तमभेदतः ।
कृता जीवैः स्वमार्गस्थैः फलिष्यत्युत्तरोत्तरम् ।।३९।।
पितृपादरजोजातु ह्युत्तमैः विस्मृतं न यैः ।
तेषामेव हि मार्गीयं फलिष्यति न चान्यथा ।।४०।।

(रक्षाबन्धनम्)

पूतनायां प्रस्थितायां गोपिकाभिर्यथाकृतम् ।
तथा रक्षाबन्धनं तु प्रेम्णाङ्गीकुरु मे कृतम् ।।४१।।

(विज्ञप्तिः)

श्रीवल्लभो हि निजभक्तहितैकबन्धुः
आविश्चकार तनयं किल विट्ठलं यः ।।४२।।
तस्यैव पादयुगलं सततं नमामि
प्रेम्णा तदस्तु हृदये मम सर्वदैव ।।४३।।
श्रीकृष्णान्तरसद्रूप स्वकीये स्वगृहे मम ।
आगत्य भोजनं कृत्वा कृतार्थं कुरु मां विभो ।।४४।।
सेवार्थं दत्तगेहस्य निजदास्यं च मे प्रभो ।
आगन्तव्यं भोजनार्थं श्रीकृष्ण कृपया गृहे ।।४५।।
देवकी-वसुदेव-श्रीबल-रोहिणी-संयुतः ।
श्रीमन्नन्दयशोदाभ्यां समं मयि कृपां कुरु ।।४६।।
निष्किञ्चनस्य दीनस्य गुणहीने मयि प्रभो ।
शुद्धान्नं तत्स्वदत्तत्वाद् भुंक्ष्व गोकुलनायक ।।४७।।
भुक्त्वा रत्यातिप्रियेभ्यो भक्तेभ्योतिप्रियं सदा ।
तदात्मशोधकोच्छिष्टं कृतकृत्यं च मां कुरु ।।४८।।
यथा त्वं गोपिकादिभ्यो निजानन्दं प्रयच्छसि ।
तथैव भुक्तोच्छिष्टान्नं भक्तेभ्यो यच्छ पुष्कलम् ।।४९।।

अप्रियं सप्रियं वापि धनहीनस्य मे प्रभो ।
मद्गृहे भोजनार्थाय ह्यागन्तव्यं महाप्रभो ।।५०।।

(अथ श्रीपंचामृतस्नानविधिः)

पञ्चामृतेन भावात्मरूपेणाति प्रियेण ते ।
स्नापयामि ततः स्नात्वा हृदि मे सुस्थिरो भव ।।५१।।
प्रियाहास्यप्रभातुल्यरूपेण पयसा गवाम् ।
स्नानं समाचर विभो कम्बुस्थेन व्रजेश्वर ।।५२।।
राधिकास्यामृतकरचन्द्रिकाविशदेन वै ।
सरसेन घनेनेह दध्ना स्नानं समाचार ।।५३।।
प्रियाधरामृतस्यन्दमधुरेण महाप्रभो ।
शङ्खस्थितेन मधुना स्नात्वा मुदमवाप्नुहि ।।५४।।
प्रियास्नेहैकरूपेण घृतेन व्रजनायक ।
स्नानं स्नेहात्मकं कृत्वा स्निग्धतां प्रकटीकुरु ।।५५।।
प्रियाप्रत्यङ्गसौन्दर्यमाधुर्यसमतां गता ।
तया शर्करया स्नात्वा प्रत्यङ्गोच्छूनतां व्रज ।।५६।।

।। इति श्रीपुरुषोत्तमकृतः उत्सवभावानुक्रमः सम्पूर्णः।।

ग्रन्थप्रकरणानुक्रमणिका

(अथ पाठक्रमः)

आदौ **यमुनाष्टकम्**.

तेन स्वरूपयोग्यतायां **बालबोधः**.

तेन स्वीयतायां स्वमार्गोपदेशः **सिद्धान्तमुक्तावली**.

ततः तन्मार्गजीवज्ञानार्थं **पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थः**.

ततः इतिकर्त्तव्यताकांक्षायां साक्षाद्भगवत्प्रोक्तं **सिद्धान्तरहस्यम्**.

ततो भगवता तथाङ्गीकृतं नवा इति चिन्तानिवृत्यर्थं **नवरत्नम्**.

ततः आन्तरोपदेशार्थम् **अन्तःकरणप्रबोधः**.

ततः तदङ्गोपदेशः **विवेकधैर्याश्रय**ग्रन्थेन.

तदभावेपि सएव कर्त्तव्य इति तदर्थं **कृष्णाश्रयः**.

ततो अन्यदीयो अयं धर्मइति तद्व्यावृत्यर्थं **चतुःश्लोकी**.

एवं भक्तिम् उपदिश्य तद्वृद्ध्यर्थं **भक्तिवर्द्धिनी**.

तत्र उपदिष्टश्रवणार्थम् उभयोः परीक्षार्थं **जलभेदः**.

पद्यानि स्वतन्त्राणि.

भक्तिवर्धिनीप्रोक्त–त्यागकालनियमार्थं **संन्यासनिर्णयः**.

तत्साधनोपदेशो **निरोधलक्षणे**.

एवं प्रवर्त्तमानस्य फलं **सेवाफलग्रन्थेन**.

इति श्रीपुरुषोत्तमकृता प्रकरणानां संगतिः सम्पूर्णे.

V